त्य-सुमन माला—४

गुप्तजी की काव्य-धारा

[बाबू मैथिलीशरण गुप्त की समस्त रचनाओं का एक
आलोचनात्मक अध्ययन]

लेखक
'महाकवि हरिऔध' 'हिन्दी काव्य की कोकिलाएँ'
आदि ग्रन्थों के रचयिता
श्री गिरिजादत्तशुक्ल 'गिरीश' बी० ए०

प्रकाशक
छात्रहितकारी पुस्तकमाला
दारागंज, प्रयाग

र्द्धित एवं संशोधित
चतुर्थ संस्करण } १९५१ { मूल्य ३॥)

समर्पण

पूज्य पिता जी—स्वर्गीय
पं० महेशदत्त शुक्ल के
अदृश्य श्रीचरणों
में श्रद्धापूर्वक
समर्पित

—गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'

Sh. GHULAM MOHAMAD & SONS
Book Sellers & Publishers Prop Quran Manzil,
Maisuma Bazar Amirakadal,Srinagar Kashmir.

321
A154

विषय-सूची

विषय पृष्ठ

१—गुप्तजी का जीवन कार्य १
२—गुप्तजी की रचनाओं की प्रवृत्तियाँ १७
३—सामाजिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों की घनिष्ठता ... २२
४—गुप्तजी के काव्य की सामाजिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि ३१
५—गुप्तजी के काव्य में सामाजिक आदर्श ... ४५
६—गुप्तजी की कल्पना और अनुभूति का संगम स्थल ... ५२
७—गुप्तजी समाज की उत्पत्ति या उसके निर्माता ... ६३
८—गुप्तजी की भाषा ६६
९—गुप्तजी की शैली ८२
१०—गुप्तजी का छन्द-निर्वाचन ८८
११—गुप्तजी का स्फुट शिक्षात्मक काव्य ९६
१२—गुप्तजी और कला १०७
१३—गुप्तजी का गीति-काव्य ११८
१४—गुप्तजी के काव्य में रहस्यवाद अथवा छायावाद ... १२७
१५—गुप्तजी के तीन नाटक १३८
१६—गुप्तजी का प्रबन्ध काव्य—रंग में भंग ... १४६
१७—जयद्रथवध १५३
१८—साकेत के पूर्ववर्त्ती अन्य काव्य १५८

विषय ... पृष्ठ
१९—साकेत [महच्चरित्र की कल्पना—लक्ष्मण] ... १७८
२०—साकेत में दशरथ १८६
२१—साकेत में उर्मिला १९८
२२—साकेत में श्रीरामचन्द्र और सीता २२२
२३—साकेत में कैकेयी २३३
२४—साकेत में भरत २३८
२५—साकेत में हनूमान २४२
२६—साकेत में प्रकृति वर्णन २४४
२७—साकेत में अलंकार योजना २४७
२८—साकेत का महाकाव्यत्व और उसका संदेश ... २५३
२९—यशोधरा २५८
३०—द्वापर २६५
३१—द्वापर का संदेश २७५
३२—सिद्धराज २७८
३३—जगद्देव २८३
३४—सिद्धराज के अन्य चरित्र २९१
३५—नहुष काव्य २९६
३६—शची ३०२
३७—नहुष ३०५
३८—नहुष काव्य का संदेश ३०७
३९—हिन्दी साहित्य में गुप्तजी का स्थान ३१२

गुप्तजी की काव्य-धारा

गुप्तजी का जीवन-कार्य्य

जिन दिनों बाबू मैथिलीशरण गुप्त का नाम मेरे कानों में पहले पहल पड़ा, मैं प्रयाग में आठवीं कक्षा में पढ़ता था। उस समय तक मुझे हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ने का चस्का नहीं लगा था; यद्यपि उसका बीज-वपन मेरे एक सहपाठी मित्र की कृपा से हो रहा था। एक दिन संध्या समय, खेल के मैदान में, उन्होंने 'सरस्वती' में नव प्रकाशित गुप्तजी की एक कविता श्रवण-गोचर करायी। उसी चिरस्मरणीय दिन मैंने गुप्तजी के काव्य के प्रति एक अनिवारणीय आकर्षण का अनुभव किया। उसके बाद से मैं 'सरस्वती' का एक नियमित पाठक हो गया।

'भारत भारती' के प्रकाशित होने के पहले उसके कतिपय मार्मिक स्थल श्री द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में उद्धृत किये थे। अपने उक्त मित्र के अनुग्रह से मैं क्रमशः अपनी पाठ्य पुस्तकों की अपेक्षा पत्र-पत्रिकाओं का अधिक प्रेमी पाठक हो ही गया था। ऐसी अवस्था में इन अंशों को प्रायः गाते रहना मेरा एक स्वभाव हो गया। आजमगढ़ पढ़ने पर यह साहित्यिक रोग, ठहरने के मकान में सामने ही पुस्तकालय होने के कारण, और बढ़ चला। शीघ्र ही 'भारत-भारती' प्रकाशित हो गयी और उसकी एक प्रति मैंने वी० पी० द्वारा मँगायी। अब क्या था! रात दिन 'भारत-भारती' ही की पंक्तियों पर मेरा हृदय लट्टू रहने लगा।

कविता की पँक्तियों में गुप्तजी के कवि-व्यक्तित्व की झलक पाकर उनके प्रति मेरा आकर्षण निरन्तर वृद्धिशील बना रहा।

एंट्रेन्स पास करने के बाद एफ० ए० में पढ़ने के लिए मैं प्रयाग फिर वापिस आया। यहीं-कायस्थ-पाठशाला कालेज में मुझे प्रसिद्ध उपन्यासकार श्रीवृन्दावनलाल वर्मा के छोटे भाई श्रीरामनाथ वर्मा मिले जिनके सत्सङ्ग के फल-स्वरूप, एक दिन जार्ज टाउन में, मैंने स्वर्गीय श्री बदरीनाथ भट्ट के मेहमान के रूप में गुप्तजी के दर्शन का भी सौभाग्य प्राप्त किया। उनकी बुन्देलखंडी लाल पगड़ी वास्तव में मनोमोहक थी। उनकी सरलता, नम्रता और सज्जनता का परिचय शीघ्र ही बातचीत तथा अन्य व्यवहारों से मिलने लगा।

जब गुप्तजी कपड़े बदलकर बैठ गये, तो नौकर ने हुक्का लाकर उनके हाथ में रक्खा और वे उसे गुड़गुड़ाते हुए मेरी एक कविता सुनने लगे; बीच-बीच में उनकी अमूल्य सम्मतियाँ प्राप्त करने में हुक्के की ओर से मुझे कोई बाधा नहीं होती थी। भट्टजी के विनोदशील स्वभाव से भी आनन्द का संचार हो रहा था। इतने दिनों के बाद आज मैं यह नहीं कह सकता कि कमरे में बिजली की रोशनी हो रही थी या लालटेन की सहायता से मैंने कविता पढ़ी थी। किन्तु एक बात का मुझे अवश्य ही स्मरण है—भट्टजी ने गुप्तजी से कहा था, चलो गुप्तजी, हम तुम कहीं भाग चलें। ईश्वरेच्छा, भट्टजी इस लोक से सदा के लिये भाग भी गये।

कई वर्ष हुए; मैंने अपने ग्रन्थ 'महाकवि हरिऔध' का लेखन-कार्य्य आरम्भ करने पर सोचा कि वर्त्तमान काल के अन्य कृती ग्रन्थकारों की कृतियों का भी एक साधारण अध्ययन प्रस्तुत करने से सम्भवतः उन क्षुद्र मनोविकार-ग्रस्त समालोचनाओं का बल घटे, जो आजकल अनुत्तरदायित्वपूर्ण लेखकों की लेखनी से प्रसूत होकर हिन्दी-साहित्य के कलेवर को दूषित कर रही हैं। इसी विचार से प्रेरित होकर मैंने प्रसाद जी, रत्नाकर जी, गुप्त जी, ठाकुर गोपाल शरण सिंह

तथा श्री रामनरेश त्रिपाठी के दर्शन किये। रत्नाकरजी तथा अन्य कई उक्त सज्जनों ने तो तुरन्त ही मेरी प्रश्नमालिका का यथोचित उत्तर देकर अनुगृहीत किया। झाँसी-सम्मेलन में मैंने गुप्तजी का भी ध्यान इस ओर आकृष्ट किया और लौटते समय उनके निवास-स्थान पर भी मैं गया। किन्तु श्रद्धेय हरिऔधजी तथा उनके अनुगत दर्जनों युवक कवियों की आगत मण्डली की उपस्थिति कविता-पाठ के अधिक अनुकूल हो रही थी; उन्हीं दिनों 'साकेत' छपकर तैयार हो गया था और स्वभावतः उसके कतिपय अंशों का रसास्वादन करने के लिए सभी अधीर हो रहे थे। ऐसी अवस्था में प्रस्तुत-स्वल्प समय के भीतर मेरे इस विषय के उपस्थित हो सकने का वहाँ कोई अवसर नहीं था।

गुप्तजी ने 'साकेत' के जो अंश पढ़े, उनसे उपस्थित कविगण खूब प्रभावित हुए।

उस समय तक 'साकेत' प्रकाशित तो नहीं हुआ था, किन्तु आगत साहित्यिकों का सम्मान करने के लिए गुप्तजी ने उसकी थोड़ी सी प्रतियाँ माँगा कर समर्पित की। इन प्रतियों के लिए इतना अधिक आग्रह बढ़ा कि निश्चेष्ट बैठे रहनेवाले को उसे सहज ही प्राप्त करना सम्भव नहीं रह गया; क्योंकि, प्रतियों की संख्या आवश्यकता से एक न्यून थी। इस न्यूनता ने आकर मेरे ही सिर पर आक्रमण किया; क्योंकि, सम्पूर्ण मण्डली में मैं ही सबसे अधिक प्रत्यनशून्य था। फलतः मुझे छोड़ कर शेष सभी के हाथ 'साकेत' की एक प्रति लगी। मुझे अपनी असफलता पर कोई खेद नहीं था; क्योंकि, मैं उसके लिए पहले से तैयार था। किन्तु बाबू शियारामशरण इस त्रुटि को कब सहन कर सकते थे? प्रयाग पहुँचने के कुछ ही दिनों बाद उनके प्रत्यन से 'साकेत' की एक प्रति डाल पर से गिरने वाले पके हुए फल की तरह अनायास ही मेरे करतल-गत हो गयी।

इसी बीच पत्रों में 'हिन्दी की सौ श्रेष्ठ पुस्तकें' नामक एक लेख प्रकाशित हुआ। इसमें आधुनिक काल की दस सर्वश्रेष्ठ काव्य-पुस्तकों की तालिका इस प्रकार बनायी गयी थी:—

लेखक	पुस्तक
हरिऔध	प्रियप्रवास
मैथिलीशरण गुप्त	भारत-भारती
मैथिलीशरण गुप्त	जयद्रथवध
जयशंकर 'प्रसाद'	आँसू
सुमित्रानन्दनपंत	पल्लव
सुभद्रा कुमारी	मुकुल
महादेवी वर्मा	नीहार
लक्ष्मीनारायण मिश्र	अन्तर्जगत्
रामनरेश त्रिपाठी	स्वप्न
शान्तिप्रिय द्विवेदी	परिचय (१)

इस तालिका में 'साकेत' का नाम न देखकर पाठक आश्चर्य करेंगे। इसकी कैफियत देने की आवश्यकता का शायद लेखक महोदय ने स्वयं अनुभव किया; इसी कारण उन्होंने लिखा:—

'मुझे श्री मैथिलीशरणजी का 'साकेत' नहीं पसन्द आया।'

न जाने काव्य की किस कसौटी से लेखक ने 'भारत-भारती' को 'साकेत' से भी ऊँचा स्थान दे दिया था।

इस लेख के सम्बन्ध में एक सम्पादक महोदय ने लिखा था:—

"अन्यत्र इसी में श्री सूर्य्यनाथ तकरू का एक लेख इस विषय पर प्रकाशित हुआ है। इस प्रकार के चुनाओं से किसी का सर्वांश में सहमत होना कठिन ही है, क्योंकि यह दृष्टिकोण तथा रुचि की विभिन्नता का प्रश्न है। जिसे एक आदमी उत्कृष्ट मानता है, उसे ही दूसरा निकृष्ट समझ सकता है। लेखक महोदय के चुनाव से कितने ही अंशों में हमारा भी मत-भेद है—उदाहरण के लिये 'लतखोरी

लाल' को हास्यरस की श्रेष्ठ पुस्तकों में सम्मिलित करना और 'चिड़ियाघर' जैसी उत्तम पुस्तक को छोड़ देना लेखक की अनभिज्ञता का सूचक है। इसी प्रकार यात्रा-सम्बन्धी पुस्तकों में 'चीन में तेरह मास' तथा 'हमारी एडवर्ड तिलक-यात्रा' नामक पुस्तकों की गणना न करना जबरदस्त भूल है।"

इस नोट में 'साकेत' के सम्बन्ध में एक शब्द भी न देखकर बड़ी निराशा हुई। श्रीयुत् तक्रू के लेख की इस त्रुटि की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना तो दूर की बात, 'विशाल-भारत' के सम्पादक ने मत-विभिन्नता को स्वाभाविक बतलाकर यह समझाने का परिश्रम करना भी आवश्यक नहीं माना कि किस सीमा का उल्लंघन करने पर मत-विभिन्नता हास्यास्पद हो जाती है।

उक्त मत का अवलोकन करने के अनन्तर 'साकेत' के प्रति विशेष उत्साह रखने वाले श्री नगेन्द्र का मत पाठक देखें—

'गुप्तजी की कृतियों में 'साकेत' मुझे बहुत अच्छा लगा। उसको मैंने अपने विद्यार्थी जीवन से अब तक न जाने कितनी बार बढ़ा—और प्रत्येक बार एक नवीनता का अनुभव किया, परन्तु फिर भी मेरे मन को तृप्ति नहीं हुई।"

इस सम्बन्ध में एक योग्य सम्पादक की निम्नलिखित पंक्तियाँ स्मरण रखने योग्य हैं:—

"विद्वानों में मतभेद स्वाभाविक है, परन्तु हिन्दी साहित्य के विद्वानों में इतना अधिक मत-वैपरीत्य है कि देखकर आश्चर्य होता है। ऐसा कोई भी विषय नहीं है जिस पर हिन्दी के अधिकांश विद्वान् सहमत हो सकें। हिन्दी भाषा-भाषियों में न तो कोई लोकमत है और न कोई लोक-रुचि। इससे विद्वानों का उत्तरदायित्व और भी अधिक बढ़ जाता है। सर्वसाधारण एकमात्र इन्हीं की सम्मति पर निर्भर रहते हैं। किसी का उत्साह बढ़ाने के लिए अब प्रशंसा पूर्ण उद्गारों की

आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है विवेचनापूर्ण आलोचनाओं की। ………'परन्तु हिन्दी से विद्वानों में अभी संरक्षण का भाव बना हुआ है, उन्हें अब यह भाव छोड़ कर विवेचना करनी चाहिए। तभी हिन्दी-साहित्य में लोकमत बन सकेगा। छोटे हों या बड़े, उदीयमान हों या लब्ध-प्रतिष्ठ, लेखकों की सभी रचनाओं की परीक्षा के लिए एक ही कसौटी होनी चाहिए। तभी हिन्दी में साहित्य की मर्य्यादा स्थापित होगी और तब यह सम्भव न होगा कि जिसे एक विद्वान सर्वोत्कृष्ट कहें उसे दूसरा निम्न श्रेणी का समझे, जिसे एक मौलिक कहे उसे अन्य मौलिकता से सर्वथा शून्य समझे।"

निस्सन्देह, हममें मत-वैपरीत्य तब तक बना रहेगा जब तक हमारी मानवी प्रकृति के संगठन में कोई विशेष अन्तर नहीं उपस्थित होता। किन्तु फिर भी प्रत्येक मत-वैपरीत्य के लिए सिद्धान्तों का आधार तो चाहिए ही। उदाहरण के लिए 'हिन्दी की सौ श्रेष्ठ पुस्तकें' शीर्षक लेख के लेखक का काव्य-पुस्तकों में से 'साकेत' का बहिष्कार करते समय अपनी रुचि ही को प्रधानता न देकर किसी विशेष तर्क-सङ्गत कारण का भी उल्लेख करना चाहिए था। किसी नियम, किसी सिद्धान्त के अभाव में रुचि मात्र की दुहाई देने का कोई मूल्य नहीं।

देखिए, केवल व्यक्तिगत रुचि ही को महत्व देनेवाली समालोचना-शैली के सम्बन्ध में एक विदेशी-लेखक डा० सुपेरियो मात्यां एम० ए०. पी० एच० डी० क्या कहते हैं:—

"साहित्यिक जगत् में बहुत सोच-समझकर बात कहनी होती है, विचार कर मुँह खोलना पड़ता है, क्योंकि वहाँ व्यक्तिगत कलह से कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारे विचार साहित्यिक जगत् में आकर सम्पूर्ण संसार की वस्तु हो जाते हैं और हमारा व्यक्तित्व अलग हो जाता है। वहाँ यह कहने से काम नहीं चलेगा कि अमुक ग्रन्थ मुझे अच्छा नहीं लगता अथवा अमुक ग्रन्थ मुझे अच्छा लगता है। व्यक्तिगत रूप से आप सड़ी से सड़ी पुस्तक को सबसे अच्छी और सब

से अच्छी को अत्यन्त भ्रष्ट समझ सकते हैं; यह आपकी इच्छा है; किन्तु जब आप कागज, कलम, दावात लेकर किसी ग्रन्थ का गुण-दोष-विवेचन करने बैठे, तब आप एक बड़े उत्तरदायित्व का काम कर रहे हैं। कागज का स्पर्श करने के पहले, दावात का ढकना खोलने से पहले और कलम हाथ में लेने के पहले आप को अपना हृदय टटोलना चाहिए कि आप स्वयं कितने गहरे पानी में हैं।"

यह सच है कि वर्त्तमान समय में हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में लोकमत का अभाव है। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की कहावत में शक्ति की महत्ता वर्णित है; किन्तु इससे भी अधिक सच यह है कि हिन्दी-साहित्य के मैदान में भैंस उसी की है जो अधिक से अधिक लोगों के पास जाकर वोट अपने पक्ष में कर सके। हाल ही में अनेक लेखकों ने अपनी लोकोत्तर वशीकरण कला का जैसा परिचय दिया और अनेक विद्वानों ने जिस प्रकार उनके प्रति आत्म-समर्पण करके अपनी सिद्धान्त-हीनता को उदाहृत कर दिखाया है, उसकी स्मृति अभी लोगों के हृदय में ताजी ही होगी। अस्तु।

अनेक वर्ष हुए, मुजफ्फरपुर सम्मेलन के सभापति-पद के लिए स्वर्गीय, पद्मसिंह शर्म्मा का निर्वाचन हुआ था। उस समय विशाल भारत-सम्पादक ने साहित्य-क्षेत्र में शासन करने के लिए एक डिक्टेटर की आवश्यकता घोषित की थी। छः वर्षों बाद उन्होंने अपनी इस घोषणा को वापिस ले लिया। घोषणा वापिस लेने में भी उन्होंने लगभग उतना ही उत्साह प्रदर्शित किया जितना घोषणा करने में। वास्तव में, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता रहती है है जो सत्य के प्रगतिशील स्वरूप का दर्शन करने तथा औरों को भी उसकी ओर उन्मुख करने में समर्थ हो। पं० पद्मसिंह शर्म्मा एक श्रेष्ठ समालोचक थे; सहानुभूति, न्यायप्रियता की उनमें कमी नहीं थी। फिर भी उनकी शक्तियों की एक सीमा थी और वर्त्तमान हिन्दी-साहित्य के विस्तृत क्षेत्र में उनका दृष्टिकोण सर्वदेशीय नहीं हो सकता था। इसी

कारण जब उनसे उचित से अधिक की आशा, और असंयत ढंग से अयथार्थ की घोषणा की गयी, तब यह निश्चित था कि उसमें निहित सत्य अंश की विजय के साथ ही साथ अयथार्थ अंश का हनन हो जाय। आगे चलकर वही हुआ; 'विशाल-भारत' के प्रचार-पटु सम्पादक को अपने मन में ही क्रान्तिकारी परिवर्त्तन करना पड़ा।

वास्तव में उक्त सम्पादक के दोनों मतों के मध्य में ही सत्य का अंश उपस्थित है! ऐसे व्यक्तियों की हमें आवश्यकता तो है, किन्तु उतनी ही मात्रा में उन्हें सफलता मिलेगी जितनी उनमें शक्ति है। इस सम्बन्ध में हमारे दो कर्त्तव्य हैं। (१) अपने कार्य्य-कर्त्ताओं की शक्ति के सम्बन्ध में यथार्थ राय कायम करना; (२) अयथार्थ राय कायम करने पर यदि यथावांछित परिणाम न दिखायी पड़े तो अत्यधिक निराशा में यह न कह बैठना कि साहित्य-क्षेत्र में नेता की आवश्यकता ही नहीं है। आधुनिक काल में केवल समालोचना के द्वारा द्विवेदी जी से अधिक किसी ने यश नहीं अजन किया है, किन्तु सन् १६३६ अथवा सन् ११४० ई० में भी वे कार्य्य क्षेत्र में प्रवेश करके उतनी ही कृतार्थता प्राप्त कर सकते जितनी सन् १९०३ और सन् १९२० के बीच में कर सके, इसमें सन्देह है।

जो हो, साहित्य क्षेत्र में सहानुभूति, सुरुचि और निष्पक्षता से सम्पन्न व्यक्ति द्वारा शासित होने की हमें अत्यन्त अधिक आवश्यकता है। कृषि के अभाव में घास-पात आप ही आप जमने लगता है, इसी तरह उपयुक्त कार्य्यकर्त्ताओं के अभाव में निन्द्य पथानुगामी कार्य्य-कर्त्ता आप ही आप उत्पन्न हो जाते हैं। यह स्थिति कितनी बिगड़ चुकी है, इसका परिचय पाठकों को एक चिट्ठी से लगेगा, जिसे मैं यहाँ उद्धृत करूँगा। इसे किसी एक वृद्ध सज्जन[*] ने 'सरस्वती'-सम्पादक के पास भेजा था और उन सम्पादक महाशय ने इसे अपने पत्र में प्रकाशित कर दिया था :—

---

[*] सम्भवतः स्वयं आचार्य्य द्विवेदी जी

"तुम्हारी चिट्ठी मिली। वर्त्तमान साहित्यिक रुचि के सम्बन्ध में क्या लिखूँ। आजकल लेखकों का रंग-ढंग कुछ और ही तरह का है। मेरे समय में यह बात नहीं थी। अधिकांश लेखक समय और सदाचार का ध्यान रखते थे, परन्तु अब वह बात कहाँ!

"आजकल के उदीयमान लेखक तो साहित्य की चर्चा न करके साहित्य-क्षेत्र में काम करने वालों की चर्चा करना ही साहित्यिक कार्य समझने लगे हैं। वे जब साहित्य-चर्चा में आते हैं तब या तो पुराने साहित्यिकारों की फजीहत करते या वर्त्तमान समय के साहित्यिक-क्षेत्र में काम करने वालों की खबर लेते हैं। उनकी इस समय ऐसी ही साहित्यिक सुरुचि दिखाई देती है। तुम्हारे नगर के एक साप्ताहिक ने तो इस कार्य का ठेका सा ले लिया है। सम्पादक और लेखकों का उसमें खूब उपहास किया जाता है। कहते हैं, इस पत्र की बड़ी खपत है। तब तो यही जान पड़ता है कि लोग निन्दा-पूरक लेख लिखना और पढ़ना बहुत पसन्द करते हैं। मेरे समय में नवयुवक लेखकों की भी ऐसी ही रुचि थी या नहीं, इसका ज्ञान मुझे नहीं। ऐसे लेख भी मुझे इधर ही देखने में आये हैं। इन लेखों में बड़े से बड़े हिन्दी-लेखक का उपहास किया जाता है, उनकी कमजोरियाँ बता कर उसको विद्रूप किया जाता है, सड़ी से सड़ी बात को आधार मान कर उसके रूप-रेखा की, उसके रहन-सहन की तसवीर बड़ी साफ-सुथरी भाषा में खींची जाती है। और यह सब हमारे वे नवयुवक करते हैं जिनसे मातृ-भाषा के भविष्य में हित की आशा है। इनकी इस प्रकार की रुचि की याद आते ही मेरे तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं। एक पत्र की 'चरित्र-चर्चा' के जो कटिंग तुमने मेरे पास भेजे हैं उन्हें, मालूम होता है, तुमने ध्यान देकर नहीं पढ़ा है। उसकी आड़ में तुमको जो भीतरी मार दी गयी है उसे वर्त्तमान साहित्यिक सुरुचि का एक बढ़िया नमूना समझो। उसी पत्र के हाल के एक अंक में, तुम्हारे सम्बन्ध में, जो स्थानीय 'मिश्री' घोली गयी है, उसे युवक साहित्यिकों के साहित्यिक

सदाचार का उत्कृष्ट उदाहरण मानो। भाई, यह क्रांति का युग है। और क्रान्ति के समय में ऐसी ही बातें शोभाजनक मानी जाती हैं। क्रान्ति-काल का शील-सदाचार ही अपना अलग होता है। और क्रान्ति के उपासक अपने नवयुवक लेखकों की इस प्रकार की काक-वृत्ति को क्षमा कर सकते हैं। मैं पुराने युग का हूँ; मैं तो यही कहूँगा कि ये समय और सदाचार की अवहेलना कर रहे हैं, जिसमें उन्हीं का अहित है, क्योंकि वे अपनी साहित्यिक प्रतिभा का दुरुपयोग कर रहे हैं।"

बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने उपन्यासकारों की सुरुचि की 'भारत भारती' में इस प्रकार आलोचना की है:—

"है और औपन्यासिकों का एक नूतन दल यहाँ।
फैला रहा है जो निरन्तर और भी हलचल यहाँ।
दौरात्म्य ही अब लोक रुचि पर हो रहा है सब कहीं।
हा स्वार्थ! तेरी जय!! अरे तू क्या करा सकता नहीं।"

आश्चर्य्य है कि हिन्दी संसार में वर्तमान पत्रकारों द्वारा जिस चिन्ताजनक कुरुचि का प्रसार हो रहा है; उसने उनका ध्यान आकृष्ट नहीं किया। 'भारत-भारती' के नवीन संस्करण में यह विषय भी छूटना न चाहिये।

फिर भी कुरुचि के वर्त्तमान प्रवाह को देखकर निराश होने की आवश्यकता नहीं; जिस समाज में आदर्श-गत जागरुकता का अभाव हो जाता है, सूक्ष्म सत्य के स्वरूप को हृदयंगम करने की शक्ति नहीं रह जाती, आलस्य और अकर्मण्यता जीवन की प्रगति को विराम दे देती है वहाँ कुरुचि उसी प्रकार बढ़ती है जिस प्रकार साफ न किये जाने वाले घर में गन्दगी और खाली पड़ी जमीन में घास। समाज में कुरुचि के निवारण के लिए ऐसे आदर्श प्रस्तुत किये जाने चाहिए जिनमें आत्मबलिदान का सन्देश विद्यमान हो; इसी प्रकार साहित्य में भी ऐसे ही आदर्शों की अवतारणा की आवश्यकता है। कृषि की वृद्धि के लिए घास को काट निकालने की भी आवश्यकता

होती है, हमें भी ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि कुरुचि प्रतिष्ठा के आवरण को प्राप्त कर अनुरंजित न हो जाय। अपने इस प्रयत्न में हमारा आक्रमण कुरुचि पर होना चाहिए, न कि कुरुचिपूर्ण व्यक्तियों के चरित्र पर। साधु समालोचना का यही आदर्श समाज का कल्याण कर सकता है।

एक वर्त्तमान हिन्दी लेखक का निम्न-लिखित कथन सर्वथा सत्य है:—

"साहित्य के विकास में समालोचना का स्थान बहुत ऊँचा है। साहित्य सामाजिक मुकुर है। इसमें समाज की भाव-धारा प्रतिफलित होती है। अतएव साहित्य के बिना किसी उन्नति-कामी जाति का काम नहीं चल सकता। साहित्य को भली-भाँति जाग्रत करने के लिए समालोचना अपरिहार्य है। समालोचना रचनाओं के गुण दोषों को दिखाती है, उनको विशुद्ध सुन्दरता देने का पथ-निर्देष करती है, अच्छे प्रस्तावों के द्वारा उनको अग्रगति सूचित करती है, विश्लेषण और अभिमत के प्रकाश द्वारा अच्छी रचनाओं को सजीव कर देती है।"

इस लेखक की निम्न-लिखित पंक्तियाँ भी उक्त पंक्तियों ही की तरह निर्विवाद हैं—

"समालोचक होना अत्यन्त कठिक है। समालोचक वही हो सकता है जिसके भाव और दृष्टि में समता आ गयी हो; जो रस और भाव को सर्वथा अपना चुका हो—जो रस और भाव के उस केन्द्र पर पहुँच गया हो जहाँ से सब रस एक से आनन्दप्रद दिखने लगें, अर्थात् जो साहित्य-क्षेत्र में उस पूर्णावस्था को प्राप्त कर चुका हो कि उसमें द्वेष का लेश न रहे। केन्द्र कहते भी उसी स्थान को हैं जहाँ से परिधि का प्रत्येक विन्दु समान अन्तर पर हो। अस्तु। मित्र एवं शत्रु को सम दृष्टि से देखने वाले बहुत कम हैं! अतः कवि हो या आलोचक, यदि वह समता के उस केन्द्र पर पहुँचने की चेष्टा भी करता रहे तो उसकी त्रुटियाँ क्षम्य होती हैं। जो 'मुझ जैसा दूसरा नहीं', के सिद्धान्त पर

चलना है उसकी दशा वास्तव में शोचनीय है। यह सत्य है कि समदर्शी समालोचक कम हैं, पर चेष्टा करने वाले और अभीष्ट आदर्श को सामने रखने वाले बहुत हैं, और अगर उनके लिए समालोचक शब्द का व्यवहार किया जाय तो कोई हर्ज नहीं। एक अँगरेज लेखक लिखता है कि 'सुन्दरता केन्द्र पर है।' उर्दू कवि 'नसीम' लखनवी ने भी लिखा है कि 'मेरी लेखन-लिपि केन्द्र को प्राप्त करे।'

डा० सुपेरियो मात्यां एम० ए०, पी० एच डी० समालोचना के सम्बन्ध में लिखते हैं:—

"समालोचना भी कला है। जितनी भी कलाएँ हैं सब मनुष्य-हृदय को सुख पहुँचाती हैं। जिससे मनुष्य को दुःख पहुँचे वह कार्य्य कलात्मक नहीं कहलाएगा। अतः समालोचना इस प्रकार होनी चाहिए कि उससे किसी को दुःख न पहुँचे। लिखने की शैली, तर्कों की बनावट और विचारों का संकलन इस प्रकार हो कि शत्रु भी समालोचक की बातों का लोहा मान ले और हँसते हुए मान ले। यदि यह न हुआ तो समालोचना कलात्मक न हुई। डंडेमार समालोचना तो कला न होकर बला हो जाती है—लेखक के लिए भी और समालोचक के लिए भी। जैसे दर्पण में मनुष्य अपने मुख के दोष देख कर भी दर्पण को चूर नहीं करता, ठीक उसी प्रकार समालोचक को लेखक का दर्पण बन जाना चाहिए—स्वच्छ, सुन्दर, दर्शनीय और स्पष्ट। जब दर्पण गंदा होता है तो मुँह गंदा दिखायी देता है। दर्पण बदल दिया जाता है, फेंक दिया जाता है। अतः फेंकने योग्य दर्पण बनने की सलाह मैं किसी को नहीं दूँगा। समालोचना बड़ा ही कठिन, बड़े ही उत्तर-दायित्व और बड़े ही महत्व का कार्य्य है।"

इस सम्बन्ध में निम्नलिखित कथन भी यथार्थ है:—

"समालोचना का काम सहज है और कठिन भी है। मैत्री-भाव से प्रेरित होकर केवल प्रशंसा करने के लिए या द्वेष बुद्धि से उत्तेजित होकर केवल दोष दिखाने के लिए यदि कोई लेखनी उठावे तो आलो-

चना का काम बिलकुल सहज हो जाता है। परन्तु आसक्ति और ईर्ष्या दोनों से परे होकर केवल कर्त्तव्य-बुद्धि से की हुई सात्विक समाचोलना लिखने में जो कठिनाई हुआ करती है, उसका अनुभव केवल वे ही लोग कर सकते हैं जिन्होंने ऐसी राग-द्वेष-विमुक्त आलोचना कभी की हो। वर्त्तमान हिन्दी-साहित्य में ऐसी पक्षपातरहित वैज्ञानिक आलोचना कम देखने में आती है।"

नीचे की पंक्तियों में समालोचक जौहरी के रूप में प्रस्तुत किया गया है:—

"जौहरी दो काम करता है। जब अन्य मनुष्य कोई मूल्यवान् पत्थर बेचने को लाता है तब उसकी जाँच-पड़ताल करता है और गुण-दोष दोनों को देखता है। यद्यपि मूल्य घटाने के लिए बहुधा दोषों का ही वर्णन करता है पर स्मरण रहे कि जो मूल्य वह देता है वह गुणों का, जिससे प्रकट होता है कि गुण-ग्राहक है। कभी-कभी वह अपनी दूकान से और बढ़िया नगीना लेकर मुकाबला करने लगता है और कहता है कि देखो अमुक गुण जो मेरे नगीने में है, तुम्हारे में नहीं है और अमुक दोष जो तुम्हारे में है मेरे में नहीं है। यह तो हुआ खरीदते समय का काम। दूसरा काम होता है बेचते समय का, जब वह तारीफ के पुल बाँधता हुआ अपने नगीने के दोषों को छिपाता है।"

समालोचक का काम इस जौहरी के काम की अपेक्षा कठिन है। जौहरी का काम मौखिक है, जिसमें पकड़ की अधिक गुंजाइश नहीं, वह मूल्यवान पत्थर मोल लेते समय दोष-बाहुल्य और बेचते समय प्रशंसाधिक्य का प्रदर्शन कर सकता है। किन्तु समालोचक तो अपनी पुस्तक में एक जगह जो कुछ लिख देगा, चाहे वह निन्दा हो चाहे प्रशंसा, उसके लिए वह सम्पूर्ण संसार के सामने सदा के लिए बद्ध हो जायगा। अतएव समालोचक उक्त जौहरी की नीति से काम नहीं कर सकता।

यदि हम सत्य के उपासक हों तो हमें दो रूप धारण करने की कोई आवश्यकता नहीं। स्व और पर का झगड़ा राजनीति में भले ही उठाया जा सके, किन्तु शुद्ध साहित्यिक कृति में हमें अपने पाठक को—वह प्रयाग और काशी का निवासी हो अथवा पेरिस लन्दन का—अपने से भिन्न न समझना चाहिए। अँगरेजों की प्रोपैगैण्डा की नीति को अपनाकर यदि हमने अपने साहित्य-क्षेत्र में संकीर्ण स्वदेशी नीति का अनुसरण किया, तो जितने अंश में हमारे काव्य में मिथ्या और कृत्रिम तत्वों का समावेश होगा उतने अंशों में वह हमारे लिये घातक होगा।

अनेक पत्रकारों के सहयोग से जो प्रसाद श्रद्धेय हरिऔध जी को वृद्धावस्था में प्राप्त हुआ है वह 'उद्भट' आदि समालोचकों की कृपा से बाबू मैथिलीशरण गुप्त को युवाकाल ही में उपलब्ध हो चुका। गुप्तजी के लिए यह अच्छा ही हुआ; क्योंकि तरुण वय में प्रहार सहन की शक्ति भी अधिक रहती है; यद्यपि क्रोध के कारण स्थिरता के हाथ से निकल जाने की आशंका भी बनी रहती है। सन्तोष की बात है कि गुप्तजी ने समालोचनाओं के दूषित और कटु अंशों से भी प्रायः अप्रभावित रह जाने का अपना अभ्यास बना लिया है, और उन्हें अपनी मौत आप मरने के लिए कालदेव के हवाले करके, तथा निरपेक्ष भाव से अपना काम ज्यों का त्यों ही नहीं, दुगुने, तिगुने उत्साह से करते रह कर अपने गौरव की वृद्धि की है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि प्रायः अर्द्ध सत्य ही पर आश्रित रहने वाली आलोचनाओं ने उनके सम्बन्ध में हिन्दी संसार में बहुत अधिक गलतफहमी फैला दी है, जो थोड़े समय से कम तो हुई है, किन्तु बिलकुल मिटी नहीं। जिस समाज में लोकमत का अभाव होता है, उसमें भेड़ियाधसान की प्रवृत्ति ही अधिक देखी जाती है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि उनके सम्बन्ध में दो मत एक दूसरे के उतने ही विरोधी हो गये हैं जितने विरोधी छत्तीस के तीन और छः होते हैं—

एक मत यह है कि गुप्तजी एक श्रेष्ठ कवि हैं, दूसरा मत यह है कि वे कवि ही नहीं हैं, केवल तुकबंदी करते हैं। अस्तु।

इस ग्रन्थ को लिखने का निश्चय प्रकट करने के बाद मैंने अङ्गरेजी कालेज के एक अध्यापक महोदय से गुप्तजी के काव्य की चर्चा की और उसके सम्बन्ध में उनके विचार जानने चाहे। उन्होंने मुझे जो कुछ बतलाया उसे प्रकाशित करने के सम्बन्ध में जब मैंने उनसे पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि उस अवस्था में कुछ और सोच-विचार की आवश्यकता होगी। ऐसी स्थिति में मैं उसे यहाँ पाठकों के सामने प्रस्तुत करने के लिए तो स्वतन्त्र नहीं हूँ; किन्तु उनसे पूछे बिना भी उनके मत का एक अंश यहाँ लिख देने में मुझे कोई हानि नहीं दीख पड़ती। उन्होंने कहा, हिन्दी के किसी भी कवि का खड़ी बोली पर उतना अधिकार नहीं है जितना गुप्तजी का उस पर है; गुप्तजी ने खड़ी बोली को परिमार्जित और परिष्कृत करने में विशेष श्रम किया है; उनकी भाषा में स्वभाविकता अधिक है। इस विषय में दो मत हो सकते हैं। जीवित कवियों की तुलना कर के कोई निष्कर्ष निकालना समालोचना का सबसे अधिक अप्रिय अंश है; साथ ही उसके लिए यह उपयुक्त स्थान भी नहीं। किन्तु, आशा है, इस विषय में दो मत नहीं हो सकेंगे कि गुप्तजी ने हिन्दू संस्कृति की रक्षा और हिन्दू समाज के उद्बोधन की दिशा में विशेष परिश्रम किया है। वर्तमान हिन्दी-कवियों में उनको छोड़ कर एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसने हिन्दू-समाज को जगाने का प्रयास करते हुए पूर्णरूप से राष्ट्रीयता के प्रवाह की सङ्गति निभायी हो।

भारतवर्ष में आर्यमनोवृत्ति प्रधान आदर्श समाज का जो चित्र गुप्तजी ने अपनी कृतियों में अंकित करने की चेष्टा की है वह अनेक साधनों द्वारा सम्पन्न हुआ है। स्फुट पद्यों वाली उनकी रचनाएँ—'पद्य-प्रबंध' 'भारत-भारती' 'पत्रावली', 'वैतालिक', 'स्वदेश संगीत' 'हिन्दू' आदि, हैं; इन सभी में स्वदेश-प्रेम का भाव भरा हुआ है; जन्म भूमि

के रूप-चिन्तन से प्रस्फुटित होने वाला अह्लाद; उसमें जन्म लेकर उस पर अपने प्राण निछावर करने वाले महापुरुषों का गौरव वर्णन, उसकी संस्कृत की रक्षा के लिए उद्बोधन का एक सुसंगठित निबंध इनमें दर्शनीय है। 'चन्द्रहास' तिलोत्तमा और अनघ आदि नाटकों में राजा-प्रजा का प्राकृतिक सम्बन्ध, समाज में फूट का विषम परिणाम तथा समाज के अनन्य अहिंसात्मक सेवक के कष्ट सहन का सत्प्रभाव पाठकों के सामने प्रस्तुत किया गया है। 'अनघ' नाटक में मघ की चरित्र सृष्टि विशेष उल्लेख योग है। 'चन्द्रहास' और तिलोत्तमा' में गुप्तजी ने पौराणिक वस्तु राचना का आश्रय लिया है। किन्तु 'अनघ' में अंकित किया गया समाज तो हमारे वर्त्तमान भारती जीवन का प्रतिबिम्ब मात्र है और उसका नायक मघ गाँधीवाद के तत्वों से अनुप्राणित किया गया है। 'रंग में भंग' 'जयद्रथ वध' 'शकुन्तला' 'पंचवटी' 'सैरन्ध्री' 'वकसंहार' 'वनवैभव' 'किसान' 'विकट भट' 'गुरुकुल,' और 'साकेत,' नहुष और सिद्धराज आदि गुप्तजी के प्रबन्ध काव्य हैं। इनमें से 'रंग में भंग,' 'किसान,' 'विकटभट' और 'गुरुकुल,' आदि की वस्तुरचना भिन्न-भिन्न पथ से देश के जीवन से हमें परिचित कराती है; 'रंग में भंग' उद्धत क्षत्रियत्व और उत्कृष्ट देशभक्ति की परिचायिका एक छोटी-सी कहानी है; 'विकटभट' में भी सरदारों और कुमारों आदि के जो चित्र अंकित किये गये हैं उनमें आत्म-सम्मान का भाव कूट-कूटकर भरा गया है; 'किसान' में गुप्तजी ने हमारे ग्रामीण किसानों का दैन्यमय जीवन अत्यन्त करुण रूप में उपस्थित किया है। 'साकेत' में इन सब में छिटकी हुई विचार और भाव श्रेणी सुसंगठित रूप से एकत्र होकर विकास प्राप्त करती है।

किन्तु गुप्तजी ने केवल आदर्श समाज का चित्र ही नहीं उपस्थित किया है; उन्होंने मानव व्यक्तित्व की उस वेदना को भी व्यक्त करने का प्रयास किया है जो उसका अनन्त व्यक्तित्व के साथ संयोग स्थापित करती है। 'भारत-भारती' के प्रकाशित होने के बाद कवि की प्रवृत्ति

क्रमशः इस ओर उन्मुख होती है और हिन्दी के कतिपय नवीन कवियों की उस काव्य-धारा के साथ संगम करती है जिसमें हृदय की भावनाओं को भाषा-संगीत प्रदान करने की बहुत अधिक उत्सुकता दिखायी पड़ रही है । लेकिन गुप्तजी के आत्म-निवेदन में एक विशेषता है । उनका कवित्व-निर्झर नारी-प्रेम और वियोग के पर्वत से प्रसूत नहीं हुआ है; वह जो कुछ भी है, उस सौन्दर्य की चट्टान से टकरा कर प्रवाहित हुआ है जो वहिर्मुखी होकर मानव-कल्याण-साधन में, तथा अन्तर्मुखी होकर हमारी भारतीय संस्कृत की सम्पत्ति स्वरूपा भक्ति के रूप में प्रगट होता है । आजकल जो अनेक सज्जन छायावादी कवि कहे जाते हैं, वे साकार रूप में नारी की उपासना भले ही कर लें, किन्तु अवतारवाद को मान कर इश्वर की उपासना को उन्होंने तिलाञ्जलि दे दी है । तुलसीदास भले ही रामचन्द्र को परम सत्य की मानव मूर्ति के रूप में अंकित करें; सूरदास भले ही श्रीकृष्ण को उच्च पद पर आरूढ़ कर के काव्य के क्षीण पदों द्वारा उन्हें ग्रहण करने की चेष्टा करें, किन्तु वर्त्तमान गीति-काव्य के रसिक अनेक नव कवियों ने राम और कृष्ण से नमस्कार कर लिया है । इस दृष्टि से आधुनिक कवियों में गुप्तजी की एक पृथक् विशेषता है; उन्होंने श्रीरामचन्द्र को अवतार-रूप में ग्रहण किया है और उसी प्रकार उन्हें परम प्रभु माना है, जिस प्रकार अन्य भक्तगण मानते आये हैं ।

आगे के पृष्ठों में गुप्तजी के काव्य का एक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जायगा ।

२—गुप्तजी की रचनाओं की प्रवृत्तियाँ

जैसा कि संकेत किया जा चुका है, हिन्दी के वर्त्तमान कवियों में बाबू मैथिलीशरण गुप्त का एक विशेष स्थान है । लगभग तीस वर्षों तक

हिन्दी-साहित्य की सेवा में रत रहकर उन्होंने जो कृतियाँ हिन्दी पाठकों को भेंट की है, उनके कारण वे उन्हें चिरकाल तक स्मरण रक्खेंगे। इन कृतियों के आधार पर गुप्तजी की विचार-धारा और कवित्व-शक्ति का हम अध्ययन कर सकते हैं।

गुप्तजी के ग्रंथों में जिन विषयों की ओर उनकी प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है, उनका सम्बन्ध अधिकाँश में मानव-समाज से है, इसकी भी चर्चा की जा चुकी है, कवि ने बहुत ही थोड़ी कविताएँ इस ढंग की लिखी हैं, जिनमें उसने केवल अपने हृदय के उद्‌गारों को व्यक्त करने की चेष्टा की हो। अनेक कवियों को निराश प्रेम अथवा वियोगी प्रेम से काव्य-प्रेरणा मिलती है। कितनों ही को ईश्वर-प्रेम से प्रेरणा मिलती है। गुप्त जी की काव्य-प्रेरणा का सूत्र इन सब से भिन्न है। उन्हें मानव-समाज के वर्ग विशेष से विशेष सहानुभूति है, विशेष प्रेम है। उसी के दैन्य ने उनके हृदय में करुणा का सञ्चार कर के उनकी काव्य-कला की सेवाओं का नियोजन किया है; इसकी ओर भी इशारा किया जा चुका है। इस कथन को अधिक स्पष्ट करने के लिए उक्त ग्रंथों में समाविष्ट विषय की एक संक्षिप्त चर्चा कर लेना आवश्यक है।

'रंग में भंग' में कवि ने अपने नायक गेनोली-नरेश लालसिंह की विचित्र अपमान-भावना और उसके फल-स्वरूप उत्पन्न शोकजनक काण्ड की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। हमारे देश में मानापमान के अतिरंजित-दृष्टिकोण ने कितने घरों और नगरों की बरबादी कर दी है, इसके कथन की आवश्यकता नहीं। 'रंग में भंग' हमारे इसी दोष की ओर लक्ष्य करता है, जिसके कारण हमने बहुत बड़ी बड़ी हानियाँ सहन की हैं।

'भारत भारती,' 'हिन्दू,' 'गुरुकुल,' 'शक्ति और वैतालिक' तो स्पष्ट रूप से हिन्दू-समाज के उद्‌बोधनार्थ लिखे गये हैं। 'जयद्रथवध' में भी श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन के प्रति उपदेश के ब्याज में इसी कार्य की साधना की गयी है।

'विकट भट' नामक छोटी सी रचना में एक बालवीर का चरित्र अंकित किया गया है।

'अनघ' में 'मघ' नामक एक समाज-सेवक का लोकोत्तर चरित्र वर्णित है। 'साकेत' के नायक लक्ष्मण भी समाज-सेवक श्रीरामचन्द्र के जीवन की अलौकिकता से आकर्षित होकर उनकी परिचर्य्या में रत-तपस्वी की भाँति तप करते दिखलाये गये हैं। श्रीरामचन्द्र की साकार मूर्ति हटाकर समाज-सेवा के निराकार आदर्श के रूप उन्हें ग्रहण करने पर दूसरे शब्दों में वह कहा जा सकता है कि लक्ष्मण को उक्त आदर्श का अनुचर बनाकर इस काव्य में समाज-सेवा के महत्व की ही प्रतिष्ठा की गयी है। समाज-सेवा पर कवि ने कितना जोर दिया है, यह साधु-कल्प भरत के उन शब्दों से प्रकट होता है जो उन्होंने शत्रुघ्न से अपनी साधुता को निन्दनीय ठहराते हुए कहे हैं। उन्हें पाठक कवि ही की वाणी में श्रवण कर लें:—

"लोग भरत का नाम आज कैसे लेते हैं ?
आर्य, नाम के पूर्व साधु-पद वे देते हैं।

× × ×

भारत-लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बन्धन में।
सिन्धु-पार वह विलख रही है व्याकुल मन में।
बैठा हूँ मैं भण्ड साधुता धारण कर के।
अपने मिथ्या भरत नाम को नाम न धर के।
कलुषित कैसे शुद्ध सलिल को आज करूँ मैं।
अनुज, मुझे रिपु-रक्त चाहिए डूब मरूँ मैं।
मेटूँ अपने जड़ीभूत जीवन की लज्जा।
उठो इसी क्षण शूर करो सेना की सज्जा !"

गुरुवशिष्ट ने भी समाज-सेवा ही की आज्ञा 'साकेत' में श्रीरामचन्द्र को दी है:—

"देवकार्य्य हो और उदित आदर्श हो ।
उचित नहीं फिर मुझे कि क्षोभ स्पर्श हो ।
मुनि-रक्षक सम करो विपिन में वास तुम ।
मेटो तप के विघ्न और सब त्रास तुम ।
हरो भूमि का भार भाग्य से लभ्य तुम ।
करो आर्य्य सम वन्यचरों को सभ्य तुम ।"

स्वयं रामचन्द्र जी की वाणी द्वारा कवि ने अपना समाज-सेवा सम्बन्धी भाव व्यक्त किया है:—

'बहु जन वन में हैं बने ऋक्ष वानर से ।
मैं दूँगा अब आर्यत्व उन्हें निज कर से ।
चल दण्डक वन में शीघ्र निवास करूँगा ।
निज तपोधनों के विघ्न विशेष हरूँगा ।
उच्चारित होती चले वेद की वाणी ।
गूँजे गिरि-कानन-सिन्धु-पार कल्याणी ।
अम्बर में पावन होम धूम घहरावे ।
वसुधा का हरा, दुकूल भरा लहरावे ।
तत्वों का चिंतन करे स्वस्थ हो ज्ञानी ।
निर्विघ्न ध्यान में निरत रहें सब ध्यानी ।
आहुतियाँ पड़ती रहें अग्नि में क्रम से ।
उस तपस्त्याग की विजय वृद्धि हो हम से ।
मुनियों को दक्षिण देश आज दुर्गम है ।
बर्बर कौणप गण यहाँ उग्र यम सम है ।
वह भौतिक मद से मत्त यथेच्छाचारी ।
मेटूँगा उसकी कुगति कुमति मैं सारी ।'

'यशोधरा' में गौतमबुद्ध के शब्दों में भी कवि ने उक्त समाज-सेवा के आदर्श की घोषणा है:—

"हे ओक ! न कर तू रोक टोक।
पथ देख रहा है आर्त्त लोक !
मेटूँ मैं उसका दुःख-शोक।
बस लक्ष्य यही मेरा ललाम।
ओ क्षणभंगुर भव राम! राम!

× × × ×

"तव जन्मभूमि तेरा महत्व।
अब मैं ले आऊँ अमर तत्व।
यदि पा न सके तू सत्य-तत्व।
तो सत्य कहाँ भ्रम और भ्राम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम! राम!

इन पंक्तियों के पढ़ने से गुप्तजी के लक्ष्य के सम्बंध में कोई सन्देह नहीं रह जाता। किन्तु, यहाँ मैं एक बात और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ—गुप्तजी न तो उस विश्व-प्रेम के समर्थक हैं जो अपने पड़ोसी की झोंपड़ी से निकलने वाले आर्त्तनाद की ओर से कानों को मूँद लेता है, और न उस राष्ट्रीयता के हिमायती हैं जिसका आश्रय लेकर मुसोलिनी ने हाल ही में अबीसीनिया को स्वाधीनता-वंचित किया है; जिस आलोक को लेकर श्री रामचन्द्र दण्डक-वन की ओर बढ़े; वह उस सभ्यता के प्रकाश से भिन्न है जिसका कपटपूर्ण वितरण करने के लिए इटली ने राक्षसी नर-संहारक कर्म्म किये हैं। निस्सन्देह गुप्तजी की समाज-सेवा अन्ततोगत्वा एक परिमित राष्ट्रीयता ही के रूप में प्रगट हुई है, किन्तु उनकी यह राष्ट्रीयता वर्त्तमान भारतीय राष्ट्रीयता अथवा विश्व-प्रेम की विरोधिनी नहीं है।

जो हो, इसमें कोई सन्देह नहीं की समाज-सेवा, राष्ट्र-सेवा का भाव ही गुप्तजी के काव्य का मूल प्रेरक है; उनकी समस्त रचनाएँ उससे ही ओत-प्रोत हैं। इस भाव के वशीभूत होकर ही उन्होंने ऐसी कृतियों का भी निर्म्माण किया है, जिनमें काव्य-मर्म्मज्ञों ने कवित्व के अभाव की शिकायत की है। कवि पर इस शिकायत का प्रभाव पड़ना

स्वाभाविक था और 'भारत-भारती' के प्रणयन के बाद गुप्तजी ने कुछ ऐसे काव्यों के निर्म्माण की ओर ध्यान दिया जिनमें उनके प्रिय विषय समाज-सेवा का समावेश तो हुआ ही, साथ ही कला-पक्ष की भी समुचित सन्तुष्टि हुई। 'साकेत' और 'यशोधरा' गुप्तजी के ऐसे ही ग्रंथ हैं। 'झंकार' गुप्तजी का एक ऐसा ग्रंथ है जिसमें उनके ईश्वरपरक गीतों का संग्रह किया गया है। इस प्रकार संक्षेप में हम कह सकते हैं कि उन्होंने अनेक दिशाओं में काव्य-प्रयत्न किया है। ऐसी अवस्था में यह प्रश्न उठता है कि गुप्तजी के काव्य का ठीक-ठीक मूल्य आँकने के लिए उनकी यथार्थ समीक्षा करने के लिए हम किस पथ का अनुसरण करें? यह स्पष्ट है कि ऊपर जिन प्रवृत्तियों की ओर संकेत किया गया है उन्हीं के आधार पर हम अपने पथ का अनुसंधान कर सकते हैं; अर्थात् समाज-सेवा के जिस आदर्श की घोषणा गुप्तजी की प्रायः प्रत्येक रचना में मिलती है, उनमें कितनी कल्पना और कितनी अनुभूति का समावेश हो सकता है, इसका हमें पता लगाना चाहिए; गुप्तजी ने अपनी अभिव्यक्ति में कितने कवित्व का परिचय दिया है, इसे भी हमें देखना चाहिए; तथा जिन रचनाओं में उन्होंने कला की ओर प्रवृत्ति दिखलायी है उन्हें हमें कला की कसौटी पर कसना चाहिए।

३-सामाजिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों की घनिष्टता

पिछले निबन्ध के अन्त में मैंने गुप्तजी के काव्य के अध्ययन के लिये जिस मार्ग का निर्देश किया है, उसका पहला पड़ाव है उस कल्पना और अनुभूति का स्वरूप निर्धारित करना जिसका अवलम्ब लेकर उन्होंने अपने काव्य में वर्त्तमान हिन्दू समाज के आदर्शों को व्यक्त करने की चेष्टा की है। इस पड़ाव तक पहुँचने के पहिले हमें कुछ परिश्रम

19147

कर लेना होगा; बहुत सी बातों के सम्बन्ध में अपना विचार स्पष्ट कर लेना होगा। उदाहरण के लिए जब तक हम सामाजिक जीवन उत्थान-पतन की अनुसारिणी साहित्य की विविध तरंगों में प्रगट होनेवाली दोनों के सम्बन्धों की घनिष्ठता को नहीं समझ लेंगे तब तक कवि की कृति में व्यक्त होने वाले आदर्श की महत्ता अथवा लघुता के आधार पर उसकी प्रतिभा का कोई मूल्य कैसे आँक सकेंगे? इसलिए गुप्तजी के काव्य के सम्बन्ध में आगे बढ़ने के पहले हमें कतिपय प्रश्नों का उत्तर दे लेना चाहिए। वे प्रश्न निम्न-लिखित हैं:—

१—समाज के जीवन को परिचालित करने वाली कौन सी प्रवृत्तियाँ हैं?

२—सामाजिक जीवन की ये प्रवृत्तियाँ साहित्य को संचालित करने वाली प्रवृत्तियों से क्या सम्बन्ध रखती हैं?

३—गत ईसवी शताब्दी के अन्त और वर्त्तमान शताब्दी के आरम्भ में हिन्दू समाज में जिन प्रवृत्तियों की प्रबलता थी, उनका तत्कालीन हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों से क्या सम्बन्ध है?

सब से पहले प्रथम प्रश्न ही के सम्बन्ध में मैं विचार करूँगा।

जिस कल्पनातीत युग में केवल एक मनुष्य इस भू-मंडल पर रहा होगा, उसी युग को समाज-हीन युग कह सकते हैं, किन्तु इस कारण कि हमारी स्थूल बुद्धि उस युग के स्वरूप को हृदयंगम नहीं कर सकती, हम समाज और व्यक्ति दोनों ही को अनादि मानने के लिए विवश होते हैं। जब केवल ऐक ही व्यक्ति रहा होगा तो मनुष्य के सामने बहुत सी समस्याएँ बिलकुल ही न रही होंगी; किन्तु वह स्वर्णयुग रहा होगा या अन्धकार युग, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। जो हो, हमें उससे कोई मतलब नहीं। हमें तो समाज से ही काम है।

प्रत्येक व्यक्ति सुख और शान्ति की कामना करता है। व्यक्तियों की समष्टि के रूप में समाज भी सुख और शान्ति की कामना करता है। किन्तु व्यक्ति और समाज की कामनाओं में थोड़ा सा अन्तर है। व्यक्ति

की कामना अमर्यादित होकर अन्य व्यक्तियों की सुख शान्ति में बाधक हो सकती है। व्यक्ति-समूह की कामना भी इसी प्रकार उच्छृङ्खल हो सकती है। ऐसे व्यक्ति तथा व्यक्ति-समूह का दमन करना ही समाज का कर्त्तव्य है।

प्रत्येक युग में समाज के जीवन के दो अंग होते हैं; एक का सम्बन्ध कल्पना से है और दूसरे का अनुभव से। जैसे प्रति क्षण भविष्य वर्त्तमान के रूप में परिणत होता चलता है वैसे ही प्रति क्षण कल्पना हमारे अनुभव में आती चलती है; और जैसे भविष्य का कहीं अन्त नहीं है. वैसे ही कल्पना द्रौपदी के चीर की अपेक्षा भी अनन्त है। अतएव, प्रत्येक अवस्था में सत्य का एक रूप वह होता है जिसकी समाज कल्पना करता, जिसे प्राप्त करने के लिए वह लालायित रहता है, और एक रूप वह होता है जिसे वह प्राप्त कर चुका रहता है, जिसका वह उपभोग करता रहता है। अनुचित धन अथवा मिथ्या यश-सम्मान आदि प्राप्त करने के लिए जो व्यक्ति दुर्निवार इच्छा के वशीभूत होता है, उसकी कल्पना बहुत ही नीचे धरातल पर समझनी चाहिए और जब वह उस इच्छा की पूर्त्ति के निमित्त किये जाने वाले प्रयत्नों के सिलसिले में इतना निर्मम हो जाता है कि औरों की पीड़ा की कोई परवा ही नहीं करता, तब उसकी अनुभूति और भी गयी बीती मानी जायगी।

समाज के अधिकांश व्यक्ति जिस स्थिति की कल्पना करके उसके लिए लालायित होते हैं, उसी स्थिति में उक्त समाज के आदर्श का निवास रहता है, और अधिकांश व्यक्ति स्थिति को उपलब्ध करने के लिए जो उद्योग और परिश्रम करते हैं उसी में लोकमत की प्रतिष्ठा रहती है। लोक-सम्मत आचरण के विपरीत कार्य्य करने से समाज को ग्लानि एवं आदर्श की ओर प्रगति होने से समाज को उल्लास होता है। समाज के बहुमत की योग्यता के अनुसार उसका आदर्श निम्न से निम्न और लोकमत भी निम्न से निम्न हो सकता है।

सत्य सूर्य्य की भाँति समस्त प्राणियों को अपना प्रकाश वितरित करता रहता है। व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह के उच्छृङ्खल आचरण में भी सत्य ही की अभिव्यक्ति होती है, तथा आदर्श और लोकमत में भी; दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि उच्छृङ्खलता में जिस सत्य का दर्शन होता है उसे समाज अपूर्ण समझता है और आदर्श तथा लोकमत के रूप में व्यक्त होने वाले सत्य को यह स्थिति-विशेष में पूर्ण मानता है। स्वाभाविक रीति से कितने ही गढ़े समतल भूमि के रूप में परिणत हो जाते हैं और समतल भूमि में जल के आघात से कितने ही गढ़ों की सृष्टि हो जाती है। इसी प्रकार विकास में प्रायः 'उच्छृङ्खल' आदर्श और 'लोक-सम्मत' हो जाता है और 'आदर्श' तथा 'लोक-सम्मत' उच्छृङ्खल का रूप पकड़ लेता।

आदर्श और लोक-सम्मत सत्य की बेड़ियों से पीड़ित व्यक्ति को उच्छृङ्खल अपनी ओर आकृष्ट करने लगता है। क्रमशः पतन आकर्षण का अनुगमन करता है, जिससे 'आदर्श' और 'लोकमत' की ग्लानि होती है। धीरे-धीरे व्यक्ति का अनुयायी व्यक्ति समूह होता है और कालान्तर में व्यक्ति समाज के बहुसंख्यक भाग का स्थान ले लेता है। तब 'उच्छृङ्खल' आदर्श और 'लोकमत' के रूप में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार समाज में प्रतिष्ठित 'आदर्श' और 'लोकमत' की साधारणता से ऊब कर व्यक्ति-विशेष उच्चतर सत्य की कल्पना से उद्दीप्त होता तथा 'आदर्श' और 'लोकमत' को ऊँचे धरातल पर ले जाना चाहता है। क्रमशः व्यक्ति का अनुगमन व्यक्ति समूह करता है और धीरे-धीरे व्यक्ति-समूह समाज के बहुसंख्यक भाग का स्थान ग्रहण करता है। कालान्तर में जिस उच्चतर सत्य की उसने कल्पना की है वही समाज के 'आदर्श' और 'लोकमत' के रूप में परिवर्तित होता है, और पहले 'आदर्श' और 'लोकमत' तिरस्कृत 'उच्छृङ्खलता' का स्थान ग्रहण करता है। इस प्रकार 'उच्छृङ्खल' 'आदर्श' में तथा 'आदर्श' उच्छृङ्खल' में परिणत होकर कल्पना कानन से नित्य नूतन कुसुम-चयन में रत रहता है।

व्यक्ति जिस निम्नतर अथवा उच्चतर सत्य की कल्पना से आकृष्ट होता है उसे समाज तभी ग्रहण करता है जब उसमें स्वाभाविक आकर्षण होता है; अन्यथा स्वीकृत पथ से विभिन्न पथ पर चलने वाले व्यक्ति का शासन ही परिणाम होता है। चोरों, डाकुओं, और दुराचारियों को जो दण्ड दिया जाता है उसे हम प्रति दिन देखते हैं, किन्तु ईसा, सुकरात, आदि को जिन कारणों से दण्ड दिया गया उनसे भी हम अपरिचित नहीं।

जैसे पानी का नीचे की ओर ढलना स्वाभाविक है, वैसे ही निरन्तर सत्य को ग्रहण कर लेने के लिए मानव प्रकृति सहज ही प्रवृत्त होती है। किन्तु उच्चतर सत्य को ग्रहण करने के लिए समाज इतनी आसानी से तैयार नहीं होता, जिस आदर्श और लोकमत को वह स्वीकार कर लेता है, उसका एकाएक विच्छेद उसे सहन नहीं होता।

सब अवस्थाओं में समाज की यही प्रवृत्ति नहीं बनी रहती। नहीं, वह अपने जरा- जर्जर आदर्श और लोकमत रूपी शरीर का इलाज भी कराता है, किन्तु वह ऐसा तभी करता है जब उसे उस शरीर में रहने का कष्ट मरण की अपेक्षा अधिक भयंकर प्रतीत होने लगता है। किन्तु कल्पना को उद्दीप्त करने वाले व्यक्तियों का प्रयत्न जारी रहता है तभी समाज को यह समझने की भी बुद्धि बनी रहती है कि वर्तमान काया के नीरोग किये जाने की आवश्यकता है, नहीं तो बहुधा उसका अस्तित्व उसी तरह मिट जाता है। जिस तरह असाध्य रोगी अन्त में मृत्यु की गोद में जाता है।

जिस समाज का आदर्श और लोकमत पूँजीवाद, व्यवसायवाद तथा अन्य विस्तृत स्वार्थों के आधार पर संगठित होता है उसे लौकिक साधनों का अभाव होते ही निम्नतर सत्य की ओर ढुलक आने में देर नहीं लगती इसी तरह कल्पना उद्दीप्त किये जाने के शत-शत प्रयत्नों के बाद भी उक्त समाज में प्रायः अपना निम्न आदर्श त्याग करके उसके आगे बढ़ने की इच्छा भी नहीं होती। इसके विपरीत जिस समाज के आदर्श-संगठन में आध्यात्मिकता का अधिक सन्निवेश रहता है वह एक तो निम्नतर सत्य

की ओर अपेक्षाकृत कम अभिमुख होगा, दूसरे उच्चतर सत्य को भी हृदयङ्गम कर लेने में अधिक विरक्ति नहीं दिखावेगा।

जो व्यक्ति समाज को निम्नतर सत्य की ओर उन्मुख करने की चेष्टा करता है वह उसकी कल्पना को विकार-ग्रस्त करने का अपराधी होता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति समाज को उच्चतर सत्य की ओर प्रेरित करता है उसकी कल्पना को उद्दीप्त करनेवाला कहा जाता है। यदि समाज के आदर्श और लोकमत में यथेष्ठ दृढ़ता हुई तथा किसी प्रतिभाशाली व्यक्ति ने उसकी कल्पना-शक्ति को भी जाग्रत किया तो साधारणतया समाज प्रथमोक्त व्यक्ति के प्रति सहज ही आत्म-समर्पण नहीं करता। ऐसा समाज वही हो सकता है जिसका आदर्श और लोकमत आध्यात्मिकता के आधार पर संगठित होता है।

व्यक्ति की जिन असंयममूलक, केन्द्रापसारिणी प्रवृत्तियों के कारण समाज की शक्तियाँ छिन्न-भिन्न होती हैं, उसकी कल्पना में विकार उत्पन्न होता है, उनका बोध करने के लिए हम 'व्यक्तिवाद' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। इसी प्रकार व्यक्ति की जिन संयमित तथा केन्द्राभिमामिनी प्रवृत्तियों से समाज की कल्पना उद्दीप्त होती है अथवा समाज में प्रतिष्ठित आदर्श और लोकमत को बल मिलता है तथा समाज अपनी जिन सामूहिक प्रवृत्तियों के द्वारा अपने आदर्श और 'लोकमत' की रक्षा में स्वयं तत्पर होता है उन्हें हम 'समाजवाद' शब्द से बोधित कर सकते हैं। इन शब्दों का प्रयोग करते हुए हम कह सकते हैं कि आध्यात्मिक आधारों पर संगठित समाज में 'व्यक्तिवाद' का जोर उतना अधिक नहीं होगा जितना 'समाजवाद' का। इसी तरह जिस समाज के संगठन का आधार वर्गवाद आदि होता है उसमें 'व्यक्तिवाद' की जितनी प्रबलता होती है उतनी समाजवाद की नहीं। संसार में जिन अनेक जातियों का आज नाम निशान भी नहीं रह गया है, उनमें व्यक्तिवाद ही का प्राधान्य तथा काल के आघात-प्रत्याघातों को सहन करती हुई

कोई कोई प्राचीन जाति यदि आज भी जीवन धारण कर रही है तो उसका मूल कारण है उसमें 'समाजवाद' की प्रवृत्तियों की प्रमुखता।

जैसे व्यक्ति का जीवन परिमित होता है; वैसे ही समाज का भी परिमित होता है; हाँ समाज का जीवन अधिक दीर्घ अवश्य ही होता है। समाज के सम्पूर्ण जीवन भर व्यक्तिवाद और समाजवाद की प्रवृत्तियाँ उसे पीड़ित और शासित किया करती हैं 'उच्छृङ्खल' के रूप में व्यक्तिवाद आदर्श और लोकमत के रूप में प्रगट होनेवाली उसकी आन्तरिक शक्ति को बिखरने तथा नव-नव आदर्श और लोकमत के रूप में समाजवाद उसकी आन्तरिक शक्तियों के संगठन में लगा रहता है। समाज के सम्पूर्ण जीवन को पीड़ित और शासित करनेवाली व्यक्तिवाद तथा समाजवाद की एक मूल धारा होती है, जिसे बीच-बीच में शाखा-धाराओं के उत्थान-पतन से सहायता अथवा विघ्न होता रहता है।

समाज के सम्बन्ध में इस संक्षिप्त कथन के अनन्तर अब हम द्वितीय प्रश्न पर भी थोड़ा विचार कर लें।

मनुष्य अपने में जिस सत्य का उपयोग करता रहता है उससे परे अज्ञात लोक के अनुपभुक्त सत्य का अस्पष्ट दर्शन उसे कल्पना के द्वारा मिलता रहता है तथा उसकी प्राप्ति से सम्भव नवीन उल्लास की अनुभूति के लिए उसका चित्त उत्कण्ठा-निमग्न बना रहता है। इस अनुभुक्त सत्य की उपलब्धि के दो पथ हैं—(१) विज्ञान (२) कला। विज्ञान निरीक्षण और प्रयोग द्वारा प्राप्त सामग्री के आधार पर निष्कर्ष निकाल कर सत्य के आविष्कार की घोषणा करता है; इसके विपरीत कला हृदय के हर्ष-विषाद, तृप्ति-अतृप्ति के आधार पर सत्य का अनुभव करती है। काल्पनिक सत्य को विज्ञान अधिकांश में स्पष्ट, सुगठित, और सुसंगत बनाने का प्रयत्न करता है, किन्तु उसे उपभोग-योग्य बनाने तथा उसका उपभोग कराने का काम कला ही का है। विज्ञान द्वारा सुपरिष्कृति की हुई हमारी सत्य-भावना हमारे हृदय

तल को स्पर्श नहीं करती वह हमारे शरीर का रक्त बन कर हमें पोषित नहीं करती । उदाहरण के लिए प्रतिदिन सूर्योदय के पहले दृष्टिगत होनेवाली उषा को ले लीजिए । उसे नियमपूर्वक एक विशेष समय पर प्राची को आलोकित करते देख कर मनुष्य की कल्पना इस जिज्ञासा से उत्तेजित होती है कि वह है क्या ? जिन तत्वों से उषा का निर्माण होता है उन्हें समझा कर, उसके सम्बन्ध में किसी अस्पष्ट कल्पना का एक समाधान प्रस्तुत कर विज्ञान मनुष्य के कौतूहल को शान्त कर देता है । सत्य के अनुसंधान का एक ढंग यह हुआ, जिसमें किसी संशय की गुंजाइश नहीं रह गयी । कला का पथ यह नहीं है । कला कहती है कि यह उषा एक देवी है, माता है जो अन्धकारमय विश्व के लिए वत्सल भाव से प्रेरित होकर तथा उसके लिए आलोक का संदेश लेकर आती है । उक्त सत्य को इस रूप में पाकर हमारा हृदय अह्लाद से भर जाता है और उषा के चरणों में हम अपने व्यक्तित्व की सम्पूर्ण श्रद्धा भेंट कर देते हैं । ऐसी अवस्था में यह सत्य हमारे लिए विदेशी नहीं रह जाता; अनुभव में आकर वह हमारी नस-नस में प्रवेश कर जाता है ।

विज्ञान और कला दोनों के द्वारा विचारों और भावों का जो संग्रह सांकेतिक चिन्हों अथवा लिपियों के आश्रय से चिरस्थायी बनाया जाता है उसी को साहित्य कहते हैं । और विचारों तथा भावों का यह संग्रह आता कहाँ से है ? मनुष्य के तर्क-वितर्क, हर्ष-विषादः, ईर्ष्या-द्वेष, क्रोध, घृणा, वीरता आदि स्वाभाविक भावों ही से साहित्य उस उपकरण का संग्रह करता है जो उसे लोकोत्तर आनन्द की सृष्टि करने में सफल बनाता है । इस प्रकार समाज और साहित्य का अन्योन्य आनिवार्य्य सम्बन्ध सुस्पष्ट है । साहित्य के बिना समाज की प्रगति भले ही रुकी रहे, किन्तु समाज के अस्तित्व के लिए साहित्य अनिवार्य्यतः आवश्यक नहीं है । इसके विपरीत समाज के अभाव में साहित्य का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है । अतएव, समाज और साहित्य का वही

सम्बन्ध है जो सूर्य और चन्द्रमा का; जैसे चन्द्रमा सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होता है वैसे ही साहित्य समाज के प्रकाश से प्रकाशित होता है। इसका अर्थ यह है कि यदि समाज में व्यक्तिवाद का प्राधान्य है तो यह हो नहीं सकता कि साहित्य पर इसका प्रभाव न पड़े तथा यदि जीवन में समाजवाद की महिमा प्रतिष्ठित हो रही है तो यह असम्भव है कि साहित्य में उसका प्रवेश न हो।

समाज और साहित्य के सम्बन्ध में यहाँ जो विचार किया गया है; उससे प्रत्येक काल में सामाजिक और साहित्यिक सम्बन्ध की घनिष्टता सुस्पष्ट है। इसे स्वीकार कर लेने पर तृतीय प्रश्न का उत्तर हमें आप ही आप मिल जायगा; गत इसवी शताब्दी के अन्त और वर्त्तमान शताब्दी के आरम्भ में तथा उसके बाद के वर्तमान काल में हिन्दी भाषी हिन्दू समाज में प्रचलित प्रवृत्तियों का तत्कालीन तथा वर्त्तमान हिन्दी साहित्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध भी हमें स्वीकार करना पड़ेगा। अर्थात् उक्त निर्दिष्ट काल के अन्तर्गत उक्त समाज में समाजवाद और व्यक्तिवाद की जो प्रवृत्तियाँ प्रचलित थीं और उन्हीं का प्रतिविम्ब तत्काल और वर्त्तमान हिन्दी-साहित्य के भीतर पड़ना निश्चित है। उक्त प्रवृत्तियों को भी हमें एक बार अलग-अलग करके देखना होगा। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन मैं आगे करूँगा। यहाँ इतना ही कथन पर्याप्त होगा कि गुप्तजी ने पूर्ववर्ती काल से यथेष्ठ रूप में प्रभावित होकर अपने साहित्यिक कार्य्य द्वारा समाज को समाजवाद ही की दशा में अग्रसर करने की चेष्टा की है। काल के छोटे-बड़े विभाग के अनुसार समाजवाद को दूर या निकटगामिनी तरंगों का प्रवर्त्तन होता है; प्रत्येक प्रवर्त्तन का गौरव-घोष करने के लिए एक महाकवि अवतीर्ण होता है; यह प्रवर्त्तन एक विशेष, आदर्श, एक विशेष लोकमत को लेकर प्रगतिशील होता है। गुप्तजी के कार्य-काल में हिन्दू समाज अथवा भारतीय समाज में समाजवाद का प्रवर्त्तन किन-किन दिशाओं में हुआ, यह प्रवर्त्तन अपने साथ किस आदर्श और किस लोक

Sri Pra... Library

मत को ले आया, उस आदर्श और उस लोकमत में व्यक्त होनेवाले सत्य को गुप्तजी ने काव्य के क्षेत्र में किस परिणाम में व्यक्त किया; उन्होंने समाजवाद की प्रवृत्ति का कितना बल बढ़ाया; उनकी कृतियों द्वारा व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति की कितने परिणाम में शक्ति घटी इसकी विवेचना क्रमशः की जायगी।

४—गुप्तजी के काव्य की सामाजिक और साहित्यिक पृष्ठ-भूमि

भारतवर्ष के आश्रमवासी ऋषियों ने जीवन-यापन की एक बहुत सुन्दर योजना मनुष्य मात्र के कल्याणार्थ प्रस्तुत की है—वह है वर्णाश्रम धर्म। चार वर्णों और चार आश्रमों की व्यवस्था में वर्गवाद के सम्पूर्ण झगड़ों की इति-श्री कर देने की शक्ति है, किन्तु जब पाश्चात्य संस्कृति के भौतिकवाद का चश्मा लगाकर कोई उसे देखेगा तो वह वैसी ही दिखेगी जैसे एक साध्वी विधवा बहुप्रियतम-परायणा अमरीकन मेमों को प्रतीत होती है। जो हो, हिन्दू-समाज की भूत और वर्त्तमान समस्याएँ वर्णाश्रम व्यवस्था ही को अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में मानते हुए चलने तथा प्रायः असफल होने की फल-स्वरूपा हैं। जीवन को अधिक से अधिक सौंदर्यमय बनाने के लिए मनुष्य की कल्पना जितनी भी दूर जा सकती है उतनी दूर जाकर ऋषियों ने वर्णाश्रम व्यवस्था के आदश के रूप में अपने आपको स्थिर किया है। किन्तु अधिक से अधिक अनुकूल साधनों के उपलब्ध होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि कोई भी मनुष्य-समूह उसे पूर्णांश में ग्रहण करके उसके अनुसार आचरण कर सकेगा। तो फिर उस मनुष्य-समूह से ही पूर्ण सफलता की आशा कैसे की जा सकती है, जिसको हिन्दू संज्ञा प्राप्त हुई है; जो न जाने कितने राज्य-परिवर्त्तनों के साथ रह कर अधिक से अधिक असुविधा-भोगी रहा है।

उक्त सामाजिक व्यवस्था के अतिरिक्त हमारे ऋषियों ने ईश्वर प्राप्ति के तीन मार्ग आविष्कृत किये—(१) कर्मकाण्ड, (२) उपासना, (३) ज्ञान। समाज की योग्यता के अनुसार कभी कर्मकाण्ड की प्रबलता हो जाती थी; कभी उपासना की; और कभी ज्ञान की। ब्राह्मणों के वैदिक कर्मकांड में प्रचलित हिंसा के रूप में जब व्यक्तिवाद अत्यन्त असंयत अवस्था को प्राप्त हो गया था तब समाजवाद ने प्रबुद्ध गौतम के रूप में अपने गम्भीर ज्ञान को प्रगट करके उसका प्रतिकार किया; किन्तु कालान्तर में स्वयं बौद्धमत व्यक्तिवाद से पीड़ित हो गया, उसमें विभिन्न व्यक्तियों की योग्यता के अनुकूल कर्म का विधान न होने के कारण अकर्म और कुकर्म का प्रधान्य होने लगा। तब समाजवाद ने शङ्कराचार्य के रूप में उदित होकर पुनः ज्ञान का प्रकाश फैलाया, और हिन्दू समाज के वर्त्तमान स्वरूप की नींव डाली। शङ्कराचार्य ने बौद्ध धर्म को तो भारतवर्ष से विदा कर दिया; किन्तु वे उन बौद्ध संस्कारों को, जो अनुचित और अस्वाभाविक वैराग्य से ओत-प्रोत थे, मिटा नहीं सके। हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भिक और माध्यमिक काल में जो एक ओर जीवन से विरक्तिपूर्ण और दूसरी ओर शृंगारिक काव्य अतिशय अमर्यादित रूप में दिखाई पड़ता है; सो, इन दोनों में के बीच बौद्धमत के इसी व्यक्तिवाद की भूमि में पड़े रहकर अंकुरित हुए। इस अवशिष्ट व्यक्तिवाद का सामना समाजवाद ने रामानन्द वल्लभाचार्य आदि के प्रयत्नों-द्वारा किया, जिन्होंने वैष्णवी उपासना का क्रम चलाया। हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में कबीर और उनके अनुयायी तथा मलिक मुहम्मद जायसी और अन्य अनेक मुसलमान प्रेममार्गी कवि निर्गुण का राग अलापने लगे और समाजवाद ने कुछ काल तक इनकी वाणी का आश्रय लेकर फिर वल्लभाचार्य के शिष्य सूरदास तथा अन्य अष्टछाप के कवियों का पल्ला पकड़ा। किन्तु उसका कार्य इन सबसे विशेष रूप में नहीं हो सका। कबीर की प्रवृत्तियाँ अधिकांश में या तो संहारात्मक थीं या निषेधात्मक, मलिक मुहम्मद आदि सूफी खयाल के

हिन्दी कवियों को हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थों से विशेष परिचय नहीं था; जिसके कारण वे विशेष प्रभावशाली नहीं हो सके। इनमें से किसी ने समाज का ऐसा स्वस्थ स्वरूप नहीं खड़ा किया, जो जनता के लिए नमूने का काम देता और जिसका वह अनुगमन करती। सूरदास ने श्रीकृष्ण की उपासना का गौरव-गान किया और गोपियों का प्रतिनिधित्व करके सगुणवाद का झण्डा खड़ा करते हुए निर्गुणवाद की दिल्लगी उड़ाई। उन्होंने निर्गुण की उपासना को उसी तरह हास्यास्पद बतलाया जिस तरह जल को मथ करके मक्खन निकालने का प्रयास। निस्सन्देह उन्होंने समाजवाद के स्वर में स्वर मिलाया, किन्तु उनके गुरु महात्मा वल्लभाचार्य द्वारा प्रचारित श्रीकृष्णोपासना में एक त्रुटि थी, उसमें महाभारत के कर्मयोगी श्रीकृष्ण के स्थान में भागवत के गोपी-वल्लभ श्रीकृष्ण सामने रखे गये थे। इसमें महात्मा वल्लभाचार्य का कोई दोष भी नहीं था, परिस्थिति ही ऐसी थी कि जिस व्यक्तिवाद की ऊपर चर्चा की गई है उसके व्यापक प्रभाव के कारण जनता की रुचि या तो मिथ्या वैराग्य की ओर थी या विकृत शृंगारिकता की ओर, और सूफियों को इसी कारण अपने प्रचार-कार्य में सफलता भी मिल रही थी, ऐसी स्थिति में श्रीकृष्ण के मधुर रूप ही की उपासना पर जोर देने के लिये महात्मा वल्लभाचार्य विवश थे। जो हो, इस पथ के पथिक होकर सूरदासजी समाजवाद का अधिक साथ नहीं दे सके, यही नहीं उनके आश्रय से मूल व्यक्तिवाद के सहायक स्वरूप खण्ड व्यक्तिवाद का वह प्राबल्य बढ़ा जो अपनी मर्यादा में नहीं रह गया। श्रीकृष्ण को परब्रह्म पुरुष और राधा को प्रकृति के रूप में कल्पित करके ही सूरदास ने राधा-कृष्ण के वियोग और संयोग दोनों ही का वर्णन किया, किन्तु अपने सूक्ष्म रूप में मनोहर होने पर भी उनकी संयोगात्मक कल्पना स्थूल रूप में तो दूषणमयी थी ही, जिससे अनेक अंशों में समाज के लिए उसका हानिकर हो जाना निश्चित था। उनसे तथा उनकी श्रेणी के अन्य कवियों से निराश समाजवाद को तुलसीदास ने रामचरित मानस

में अभिव्यक्ति प्रदान की और मिथ्या वैराग्य तथा अशिष्ट शृंगारिकता से विरत रह कर, साथ ही प्रकृत वैराग्य और शृँगारिकता को जीवन में उचित स्थान देकर उन्होंने उक्त काव्य में एक ऐसे आदर्श समाज की स्थापना की जिसमें देवता, मनुष्य, राक्षस, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि सभी के लिए एक नियत स्थान है, जहाँ स्थित होकर, एक दूसरे पर आक्रमण किये बिना ही वे राम-राज्य का सुखोपभोग कर सकते हैं।

व्यक्तिवाद और समाजवाद एक दूसरे की प्रतिक्रिया के रूप में हमारे जीवन में उपस्थित हुआ करते हैं। मैं कह आया हूँ कि गौतम बुद्ध के रूप में कर्मकाण्ड के अमर्य्यादित व्यक्तिवाद के विरोध में समाजवाद ने अपने को व्यक्त किया था। बौद्ध मत ने जिस प्रबल वेग से भारतवर्ष में प्रचार पाया उसके सम्बन्ध में कुछ कथन अनावश्यक है, उसने समाज की कल्पना को उत्तेजित करके एक अपूर्व उच्च सत्य की उपलब्धि के स्वप्न में, ज्ञान की खोज के प्रयत्न में उसको आबद्ध कर रक्खा और शताब्दियों तक यह अवस्था जारी रही। कहने की आवश्यकता नहीं कि कल्पना का यह उद्दीपन और समाज का उसमें अप्राकृतिक रूप से निबन्धन मर्य्यादा से बाहर चला गया और इसी कारण समाजवाद के बन्धन के विरोध में उतनी ही प्रबल प्रतिक्रिया उक्त व्यक्तिवाद की उच्छृङ्खलता के रूप में हुई।

उक्त उच्छृङ्खलता को मैं व्यक्तिवाद की वह मूल धारा मानता हूँ जिसने हिन्दू समाज को हिन्दी भाषा की उत्पत्ति के पहले ही से अब तक पीड़ित कर रक्खा है, और जिसका तभी दमन हो सकेगा जब भौतिक शक्तियों से सम्पन्न होकर समाजवाद उतने ही वेग के साथ उपस्थित होगा। व्यक्तिवाद के मूल प्रवाह पर समाजवाद की अनेक खण्ड धाराएँ आघात करती हैं और किसी चिरस्थायी सामंजस्य के प्रतिनिधि-स्वरूप समाजवाद के मूल प्रवाह पर व्यक्तिवाद की खंड-धाराएँ चोट किया करती हैं। हिन्दू समाज में कबीर के समय से लेकर अब तक

व्यक्तिवाद और समाजवाद के जो अनेक खण्ड-प्रवाह एक दूसरे से टकराते रहे हैं, उनका चित्र हमें हिन्दी-काव्य में दृष्टिगोचर होता है।

कृष्ण-काव्य के क्षेत्र में सूरदास जी के परवर्त्ती कवियों में सूरदास की सी प्रतिभा न होने के कारण श्रीकृष्ण और राधा का विराट् स्वरूप तो कल्पना से परे हो गया; रह गया उनका साधारण मानव-स्वरूप जो अपनी साधारणता में एक चरित्रवान् दम्पति के चरित्र से भी हीन श्रेणी का था। इस कारण उच्छृङ्खल शृंगारिक काव्य अनेक शताब्दियों तक राधा-कृष्ण पर आलम्बित होकर प्रवाहित होता रहा, वहाँ दूसरी ओर व्यक्तिवाद के बल को बढ़ाता हुआ 'रामचरितमानस' की उपेक्षा-सा करता हुआ आगे बढ़ा। रामचरितमानस ने परिवर्त्तित परिस्थितियों में वर्णाश्रम धर्म की रक्षा के साथ-साथ प्रेम और भक्ति के प्लेटफार्म पर मानव-मात्र को हिन्दू समाज के भीतर समाविष्ट करने के बहुत बड़े सुधार को स्वीकार करते हुए संगठन का जो सूत्र जनता के सम्मुख रक्खा उसके पास केवल नैतिक आकर्षण का बल था, उधर राजशक्ति समाज को सर्वथा विरोधी पथ का पथिक बनाने की चेष्टा कर रही थी। मुसलमान सम्राटों की अनियंत्रित विलासिता क्रमशः उन हिन्दू राजाओं की विलासिता को भी उत्तेजित करने लगी, जिन्हें अब आपस में लड़ने-भिड़ने का अधिक अवसर नहीं रह गया था। स्वभावतः इन हिन्दू नरेशों की कुरुचि का अनुगमन उनके आश्रित कवियों की रुचि को भी करना पड़ा। फलतः कृष्ण काव्य के क्षेत्र में सूरदास के उत्तराधिकारियों की प्रतिभा नायिका-भेद के चारों ओर उत्साहपूर्वक चक्कर काटने लगी और रामचरितमानस लंका में विभीषण की तरह राम नाम का सुमिरन ही करता रह गया।

बौद्धमत के विकृत स्वरूप से उत्पन्न होने वाले व्यक्तिवाद का प्रबल वेग तो अनेक प्रकार से हिन्दू समाज को आक्रान्त कर ही रहा था—वह वेग जो बड़े प्रबल सुधारकों के भी पाँव जमने नहीं देता था, यहाँ तक कि तुलसीदासजी के सबसे प्रभावशाली प्रयत्न की भी, जैसा कि ऊपर

कहा जा चुका है, उसके द्वारा उपेक्षा हो गयी—किन्तु, अन्य परिस्थितियाँ भी समाजवाद के विकास के अनुकूल नहीं थीं। जिस खड़ी बोली के प्रथम लेखक अमीर खुसरो थे वह शाहजहाँ के समय तक पहुँच कर कुछ फारसी और कुछ अरबी शब्दों के सहयोग से 'उर्दू' नाम धारण करके अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित करने की चेष्टा कर रही थी। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में औरङ्गजेब के देहान्त के बाद, मुहम्मदशाह के शाहराना दरबार में उर्दू के प्रथम कवि शाहवली अल्लाह, उपनाम 'वली' का प्रवेश हुआ। इस काल की स्मृति में 'वली' ने लिखा है—

दिल वली का ले लिया दिल्ली ने छीन।
जा कहो कोई मुहम्मद शाह सूँ।

जो हो, इस नये पनपने वाले उर्दू काव्य ने भी हिन्दू समाज के आदर्श और लोकमत को उस तल तक उठ कर न आने दिया जिस तल तक 'रामचरितमानस' उसे पहुँचाना चाहता था।

दिल्ली राजधानी की तबाही हो जाने पर उसके आश्रित अनेक मुसलमान सज्जनों ने तलवार की जगह कलम को हाथ में ले लिया और जिनके हाथ में पहले ही से कलम थी उन्होंने उसे मजबूती के साथ पकड़ लिया। ऐसे बहुत से शायरों ने लखनऊ के नवाब वाजिदअली शाह के यहाँ, जो स्वयं भी कुछ शायरी का शौक रखते थे, अड्डा जमाया। लखनऊ से इन मुसलमान शायरों ने मुसलमान समाज की कल्पना को विकृत करने, उसके आदर्श और लोकमत को नीचे से नीचे तल तक ले आने में कोई कसर नहीं की।

मौलाना हाली ने अपने ऐसे शायरीपरस्त भाइयों के सम्बन्ध में विरक्ति के साथ लिखा है—

''बुरा शेर कहने की गर कुछ सज़ा है।
अबस झूठ बकना अगर नारवा है॥

तो वह महकमा जिसका काजी खुदा है।
मुकर्रिर जहाँ नेकोबद की सज़ा है।
गुनहगार वाँ छूट जायँगे सारे।
जहन्नुम को भर देंगे शायर हमारे॥"

अध्यापक आजाद ने भी कहा है—

"यह इज़हार काबिल अफसोस है कि हमारी शायरी चन्द मामूली मुतालिब के फन्दे में फँस गयी है, यानी मजामीन आशिकाना, मैंख्वारये मस्ताना, गुलो गुलजार, बहारी रङ्ग व बूका पैदा करना, हिज्र की मुसीबत का रोना, वस्ले मौहूम पर खुश होना, दुनिया से बेज़ारी, इसी में फ़लक की जफाकारी, और गजब यह है कि अगर कोई असली माजरा बयान करना चाहते हैं तो भी खयाल इस्तआरों में अदा करते हैं। नतीजा यह कि कुछ नहीं कर सकते हैं।"

दिल्ली की तबाही के बाद लखनऊ के अतिरिक्त रामपुर और हैदराबाद में भी उर्दू के शायर फैले। हैदराबाद के शायरों की अपेक्षा लखनऊ और रामपुर के शायरों ने मुसलमान समाज को अधिक प्रभावित किया। यह स्मरण रखने की बात है कि तत्कालीन शिक्षित हिन्दू अनेक व्यवसायिक सूत्रों से मुसलमान समाज के बहुत सन्निकट थे। इस सूत्र से मुसलमानों से प्राप्त संस्कारों को उन्होंने हिन्दू समाज में चारों ओर फैला दिया। कचहरियों में फारसी की जगह उर्दू को मिल गयी थी, इस कारण शिक्षित और अशिक्षित सभी तरह के हिन्दुओं पर उर्दू की धाक थी। ऐसी अवस्था में उर्दू काव्य का भी हिन्दू समाज और हिन्दी काव्य को अधोगामी बनाने में सफल सहयोगी होना सर्वथा स्वाभाविक था।

मुगल राज्य के अवसान के बाद देश में अँगरेजी सत्ता की स्थापना होने लगी। क्रमशः अधिक शक्तिशाली होकर उसने अपनी अनेक नवीनताओं द्वारा चिरकिंकर्त्तव्य-विमूढ़ हिन्दू समाज को सम्मोहित-सा कर दिया। हिंदू समाज की चेतना-शक्ति का जितना

लोप अँगरेजी राज्य-काल में हुआ उतना मुसलमानी शासन में नहीं हुआ था। ईसा की पूरी अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध हिन्दू-समाज की आत्म-विस्मृति का काल समझा जाना चाहिए। इस समय अँगरेजी शिक्षित मण्डली में उन सब आदर्शों और संस्थाओं का उपहास किया जाने लगा था जिनकी प्रतिष्ठा रामचरितमानस में की गयी है। ईसाइयत का जोर बढ़ रहा था; रामचन्द्र, कृष्ण, गौतम, कपिल, कणाद आदि के वंशज ईसामसीह की शरण में जाने को अधीर हो रहे थे; क्योंकि इहलोक परलोक दोनों ही का आनन्द प्रदान करने की क्षमता इस समय ईसाइयों ही के पास प्रतीत होती रही थी। मुसलमानी राजत्वकाल में मूर्तियाँ तोड़ी गयी थीं और मन्दिर भ्रष्ट किये गये थे; अँगरेजी शासन-काल में इसकी आवश्यकता ही नहीं रह गयी; भक्ति की जिस श्रद्धा और भक्ति से पाषाण में भी भगवान् का आविर्भाव होता है उसी का लोप हो जाने से मूर्त्तियाँ आप ही आप प्राणशून्य सी होने लगीं। इस परिस्थिति में यह समय हिन्दू समाज के भीतर भयङ्कर व्यक्तिवाद के विस्तार का हो गया। धर्म्म के क्षेत्र में, आचार के क्षेत्र में, काव्य के क्षेत्र में—सभी जगह व्यक्तिवाद का बोलबाला हो गया और 'पंडित सोइ जो गाल बजावा' की उक्ति चरितार्थ होने लगी।

किन्तु व्यक्तिवाद कितना भी दिग्विजयी क्यों न हो जिसके सामने समाजवाद की हार पग-पग पर क्यों न प्रत्यक्ष हो रही हो, अन्तोगत्वा अदृष्ट शक्तियां व्यक्तिवाद के संहार और समाजवाद की विजय-घोषणा से निरन्तर लगी रहती हैं। समाजवाद ने अँगरेजी शिक्षा के अस्त्रों ही से काम लेना शुरू किया। अँगरेजी के अध्ययन ने जहाँ लोगों को श्रद्धालु, अनावश्यक तथा प्रायः विकृत आलोचनारत बनाया था वहाँ देश के लिए अँगरेज पुरुषों, स्त्रियों तथा बच्चों के सर्वस्व-बलिदान की कहानी भी आदर्श रूप में उनके सामने रक्खी। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि हमारे अँगरेजी-शिक्षितों में सैकड़ों ही

अवगुण क्यों न हों, किन्तु वे अथवा उनके सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति उन लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक देश-भक्त हुए जो दीमकों की तरह प्राचीन शास्त्रों के पत्रों को ही चाटने में लगे रहे। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जिन दिनों वैदिक धर्म का ईसाइत और इस्लाम के साथ समझौता करके, तथा मूर्तिपूजा के खंडन में रत होकर, आर्य समाज की स्थापना की थी और उत्तरी भारत में अँगरेजी शिक्षितों के एक बड़े भाग को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया था, लगभग उन्हीं दिनों भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने हिन्दी काव्य के भीतर देशभक्ति-तत्व का प्रवेश किया। धीरे-धीरे सभी सुशिक्षितों को अपनी पराधीनता खलने लगी और हिन्दी कविता में उत्साह, साहस तथा कर्मण्यता के प्रति प्रीति बढ़ी।

भारतेन्दु के जीवन-काल ही में राष्ट्रीय महासभा की भी नींव पड़ी, जिसने अनेक उदार अँगरेजों और उत्साही शिक्षित भारतीयों के पारस्परिक सहयोग से भारतीय-जनता के कष्ट-निवारणार्थ जन्म धारण किया। लगभग इन्हीं दिनों उर्दू काव्य के क्षेत्र में मौलाना हाली और मौलाना अकबर की देश तथा जाति-भक्ति मूलक कविताओं द्वारा मुसलमान समाज के आदर्श तथा लोकमत को उन्नत बनाने की चेष्टा भी सफल होने लगी।

हिन्दी के कवि भारतेन्दु और उर्दू के कवि मौलाना हाली के व्यक्तित्व में थोड़ी सी भिन्नता थी। भारतेन्दु में शृङ्गारिकता की मात्रा भी यथेष्ट थी, साथ ही बहुत ही थोड़ी उम्र में काल ने उन्हें परलोकवासी बना दिया, इस कारण उनके व्यक्तित्व का गम्भीर विकास नहीं हो सका था। इसके विपरीत मौलाना अल्ताफ हुसेन अली ने बहुत ही गम्भीर तबीअत पायी थी, ईश्वर ने उन्हें दीर्घवय प्रदान करके मुसलमान समाज की साहित्यिक रुचि का परिष्कार करने का अच्छा अवसर भी दिया। जो हो, इन अनेक परिस्थितियों के सम्मिलित सहयोग ने हिन्दू समाज में समाजवाद की उस खण्ड-धारा को जन्म दिया जिसने

नवीन स्फूर्त्तिपूर्ण आदर्श तथा अधिक सुलझे हुए लोकमत को उपस्थित कर व्यक्तिवाद के उस खण्ड-प्रवाह का अन्त कर दिया जो नारी के शरीर-भोग को ही समाज का आदर्श घोषित कर रहा था और जिसका दयनीय चित्र हमें भारतेन्दु के पूर्ववर्त्ती हिन्दी काव्य के उस अंश में मिलता है जो सूरदास के उत्तराधिकारियों के हाथ में पकड़कर नायिकाओं के अङ्ग-प्रत्यङ्ग के सम्यक् वर्णन ही में चारों ओर चक्कर काट रहा था।

समाज विशेष से समाजवाद और व्यक्तिवाद की मूल और खण्ड-धाराओं का पता ठीक-ठीक लगाना प्रायः कठिन हो जाता है। हिन्दू समाज तभी से केन्द्रच्युत और असम-तोलित हुआ जब जीवन में हिंसा को उसने अस्वाभाविक मर्य्यादा प्रदान कर दी। उसके विरुद्ध बुद्ध ने अहिंसा का जो आन्दोलन किया, वह आरम्भ में तो उसे केन्द्र के पास लाया किन्तु क्रमशः वह भी केन्द्र से बहुत अधिक दूरगामी हो गया। सत्य के ठीक-ठीक केन्द्र पर किसी भी समाज का पहुँच सकना तो काल्पनिक बना रहेगा, किन्तु तब से लेकर वास्तव में अब तक हम उसके पास भी पहुँचने में असमर्थ बने हुए हैं। हमारा वर्त्तमान समाज अधिकांश में बौद्ध कृति है; किन्तु हम मूल में वर्णाश्रम संस्कृति के अनुयायी आर्य हैं। वर्ण और आश्रम धर्म का ठीक-ठीक पालन ही वह केन्द्र है जहाँ हमें पहुँचना है और इस केन्द्र के अधिक से अधिक पास पहुँचना हमारे समाज के चिर उद्योगमय, चिर संघर्षमय समाजवाद का मूल प्रवाह है। इसी प्रकार बौद्ध संस्कार, मुसलमानी संस्कार, ईसाई संस्कार आदि हमें अनेक आघातों-प्रत्याघातों द्वारा इस केन्द्र से दूर ले जाकर फेंकने की चेष्टा में रत हैं; यही हमारे व्यक्तिवाद की मूल धारा है। उक्त समाजवाद में ही हमारी राष्ट्रीय विशेषता निहित है। बौद्धकाल से लेकर वर्त्तमान काल तक हमारे मूल समाजवाद का पराजय हो रहा है; काव्य के क्षेत्र में इस पराजय में पीड़ा रामचरितमानस की अमर पंक्तियों में व्यक्त हुई है। विजय कब होगी, होगी भी या नहीं, इस भविष्यवाणी का साहस शायद कोई ज्योतिषी भी नहीं कर सकेगा।

मूल समाजवाद और मूल व्यक्तिवाद से ध्यान हटाकर अब हमें उस खण्ड समाजवाद (समाजवाद का परिमितकालीन प्रवर्त्तन) पर दृष्टिपात करने का प्रयत्न करना चाहिए जो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के काल में हमारे समाज में संघर्षशील थे ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म ९ सितम्बर सन् १८५० ई० में हुआ था । ३५ वर्षों की अल्प अवस्था में सन् १८८५ में इनका देहान्त हो गया । मौलाना हाली का जन्म सन् १८४० ई० में भारतेन्दु के दस वर्ष पहले हुआ था । कुछ और पहले से स्वामी दयानन्द सरस्वती का आंदोलन चल पड़ा था । मुसलमानों में सर सैयद अहमद और हिन्दुओं में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द भी कुछ कार्य्य कर रहे थे । यह स्मरण रहे कि मैं विशेष रूप से उन्हीं हिन्दुओं के आन्दोलनों को दृष्टि के सामने रख रहा हूँ जिनका प्रभाव संयुक्त प्रान्तीय हिन्दू समाज पर पड़ रहा था । अस्तु, उक्त हलचल के परिणामस्वरूप मुसलमान और हिन्दू दोनों ही वर्गों की कल्पना जाग्रत हुई और अपने प्रस्तुत जीवन के प्रति विरक्ति का अनुभव करके उन्होंने एक नवीन आदर्श को स्वीकार किया तथा उपस्थित लोकमत में भी परिष्कार आने दिया । नवीन आदर्श और नव संगठित लोकमत ने काव्य के क्षेत्र में भी नवीन आदर्श को स्वीकृति और नवीन लोकमत के संगठन का आह्वान किया, उर्दू और हिन्दी दोनों ही के काव्य-क्षेत्र में, जो हीन और अल्प-प्राण आदर्शों की उपासना हो रही थी—वे आदर्श जिन्होंने शारीरिक सौन्दर्य्य के निरीक्षण ही में अपने आपको संकुचित कर दिया था—उसका अन्त हुआ और जैसे मौलाना हाली के उन्नायक कार्य्य को मौलाना अकबर, इकबाल और चकबस्त ने जारी रक्खा, वैसे ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कार्य्य को बद्रीनारायण चोधरी, प्रतापनारायण मिश्र, श्रीधर पाठक, नाथूराम, शंकर शर्मा, और पंडित अयोध्या सिंह उपाध्याय और श्री मैथिलीशरण गुप्त ने ग्रहण किया ।

मूल समाजवाद और मूल व्यक्तिवाद की प्रगति में ऐसे अवसर भी आते हैं जब मूल समाजवाद का प्रखर तथा उच्च सत्य प्रस्तुत समाज की ग्राहिका-शक्ति के परे हो जाता और परिस्थितियों के साथ मूल व्यक्तिवाद के रचनात्मक अंश का समझौता करके खण्ड समाजवाद को अस्तित्व प्रदान किया जाता है। इसी प्रकार मूल-समाजवाद के विकृत स्वरूप के प्रति मोह ही इस नूतन खंड-व्यक्तिवाद के रूप में सामने उपस्थित हो जाता है। कबीर के समय में ही भारतवर्ष में हिन्दू मुसलमान-मिश्रित भारतीय समाज की प्रसव-वेदना होने लगी थी ? यदि बीच में औरंगजेब की कट्टर नीति बाधक न हुई होती तो हिन्दू-मुसलमानों की एकता बहुत आगे बढ़ गयी होती। हिन्दुओं की तेजस्विता को ढकी रखने वाली अनेक अज्ञानमूलक दुर्बलताओं ने भी मुसलमानों के दुस्साहस को बढ़ा दिया, जिससे उभय वर्गों में मैत्री न स्थापित हो सकी। अंगरेजी शासन ने जहाँ हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को एक दूसरे के अधिक निकट आने का अवसर दिया वहाँ कौशलपूर्वक दोनों के एक दूसरे के बहुत अधिक दूर पड़ जाने की परिस्थितियाँ भी उत्पन्न की। इन्हीं सब कारणों से हिन्दू नेता जैसे हिन्दू समाज की हित-चिन्तना ही को सब से बड़ी बात मानता था. वैसे ही मुसलमान नेता मुस्लिम समाज की शुभ कामना ही को अपने लिए सब समझता था। काव्य के क्षेत्र में भारतेन्दु और मौलाना हाली क्रमशः हिन्दू और मुस्लिम समाज के ऐसे ही नेता हुए, न भारतेन्दु मुसलमानों की कल्पना को स्पर्श कर सके और न हाली हिन्दुओं की कल्पना को।

कृष्ण-काव्य के क्षेत्र में राधा-कृष्ण की जो छीछालेदार कवियों की विकार-ग्रस्त लेखनी के द्वारा हो रही थी उसके निवारण की दिशा में भारतेन्दु ने अवश्य ही कुछ कार्य्य किया; उन्होंने प्रस्तुत हिन्दू लोकमत को व्यक्त किया किन्तु किसी अन्य उच्चतर आदर्श की ओर वे जनता की कल्पना को प्रदीप्त न कर सके। लगभग इसी स्थिति में

बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने हिन्दी-काव्य को वर्त्तमान ईसवी शताब्दी के प्रथम दर्शक में पाया।

उक्त परिस्थिति को, जिसे हम गुप्तजी के काव्य की पृष्ट-भूमि भी कह सकते हैं, एक बार फिर हम ठीक तौर से हृदयंगम कर लें। खंड समाजवाद हिन्दू और मुसलमान वर्गों को राष्ट्रीयता की ओर अग्रसर कर रहा था, किन्तु राष्ट्रीयता के इस आकर्षण को छिन्न-भिन्न करने में जहाँ खंड व्यक्तिवाद को उभय वर्गों के धार्मिक संस्कारों से सहायता मिल रही थी, वहाँ अँगरेजो शासन की कूटनीति से—जो मुसलमानों को मिलाकर हिन्दुओं पर शासन करने की पक्षपातिनी हो रही थी—कम बल नहीं प्राप्त हो रहा था। ब्रिटिश कूटनीति की सहयोगिनी विक्टोरिया की वह सहानुभूतिमयी नीति भी थी, उनके व्यक्तित्व की वह वत्सलता भी थी जिसके प्रति हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को श्रद्धा थी। इन अवस्थाओं के परिणाम स्वरूप हिन्दी कवि की राष्ट्रीयता हिन्दुत्व की परिधि तक परिमित थी और मुसलमान प्रजा-वर्ग में परिणत होकर भी राजकीय वर्ग से, उचित अनुचित सभी प्रकार, सम्बद्ध बने रहने में अपना गौरव मानते थे। ऐसी स्थिति में काँगरेस के अधिवेशन होते रहने पर भी, विगत शताब्दी के अन्त तक ही नहीं, वर्त्तमान शताब्दी के आरम्भ में सन् १९०३ के पहले तक राजनैतिक क्षेत्र में कोई आदर्श ही नहीं स्थिर हुआ था; ऐसा कोई राजमार्ग ही नहीं आविष्कृत हुआ था जिस पर चल कर नवीन युग का सत्य, खण्ड समाजवाद, मनुष्य के विकास में अग्रसर होता। धार्मिक क्षेत्र ही में विशेष क्रियाशीलता प्रदर्शित हो रही थी; आर्यसमाजियों और सनातनियों, आर्यसमाजियों और मुसलमानों तथा आर्यसमाजियों और ईसाइयों के अधार्मिक विवादों की धूम थी; हिन्दी काव्य के क्षेत्र में देशभक्ति अथवा भारत सम्बन्धी कविताएँ खड़ी बोली में लिखी जाने लगी थीं, जिनमें से अधिकांश नीरस थीं।

काव्य की पृष्ठभूमि का उपयोग कवि के द्वारा वैसे ही होता है जैसे खेत का किसान के द्वारा। वह किसान योग्य नहीं समझा जायगा जो पूर्वजों से प्राप्त अच्छी भूमि में बबूल के पेड़ उगाकर चारों ओर कांटे बिखेर दे; इसी तरह वह कवि भी अच्छा नहीं माना जा सकता जो उक्त पृष्ठभूमि का सदुपयोग न करे। कवि की सबसे पहली आवश्यकता यह है कि उसकी कल्पना विकार से मुक्त हो; वह सत्य के प्रकृति स्वरूप का दर्शन कर सके। यदि उसमें यह योग्यता होगी तो वह समाज के प्रस्तुत आदर्श को भले ही न व्यक्त कर सके, किन्तु उसके लोकमत को विकृत कल्पना का प्रलोभन प्रदान करने का दुस्साहस वह नहीं कर सकेगा। और यदि उसमें असाधारण योग्यता हुई तब तो कहना ही क्या? उस अवस्था में तो वह अपनी अपूर्व प्रतिभा द्वारा प्रस्तुत आदर्श के परे; खण्ड समाजवाद अथवा नवयुग के सत्य की भी सीमा के बाहर चिरन्तर सत्य का दर्शन करने में सफल होगा और प्रस्तुत आदर्श तथा खण्ड समाजवाद के अतृप्तिकारक अंगों की ओर समाज की दृष्टि आकर्षित करेगा। साधारण कवि सरोवर की तरह प्रस्तुत आदर्श और लोकमत के कूलों से घिरा रह कर शान्त और आन्दोलित बना रहता है, किन्तु महाकवि गर्जनकारी महानद की तरह प्रस्तुत आदर्शों रूपी तटों को तोड़कर नवीन मर्यादा के निर्माण ही में अपनी कल्पना को अनुरक्त बनाता है। कवि की द्वितीय आवश्यकता यह है कि वह अपनी कल्पना को स्पष्ट करने का प्रयास करे तथा उसे अनुभव की सामग्री बनावे। यदि ऐसा न होगा तो उसकी अस्पष्ट कल्पना उसे एक ओर ले जायगी और आचार, विचार और वाणी के रूप में व्यक्त होने वाला उसका अनुभव एक दूसरे ही लोक का जीव बतलायेगा। यह निश्चित है कि कवि में उस सत्य को व्यक्त करने का सामर्थ्य नहीं उत्पन्न हो सकता जिसके स्वरूप से वह अपरिचित है, जो उसके लिए सर्वथा विदेशी तत्व हैं; वह तो उसी सत्य की विजय का गान कर सकता है जिसे उसने आत्मसात् कर

लिया है, जिसके उपभोग-जनित आनन्द में वह तल्लीन हो रहा है।

भारतवर्ष के इतिहास में सन् १६०६ एक संस्मरणीय समय माना जायगा; इसी वर्ष कलकत्ते के कांगरेस अधिवेशन में स्व० दादाभाई नौरोजी ने देश के सामने स्वराज्य का आदर्श रखकर राजनैतिक विचार-धारा को मुक्त प्रगति प्रदान की। उन्होंने हमारे सामने एक नवीन लोकमत के निर्माण के लिए पथ परिष्कृत किया। इस घटना से जहाँ भारतेन्दु-कालीन हिन्दी समाज का आदर्श केवल साम्प्रदायिक धार्मिकता के रूप में गृहीत था और तत्कालीन लोकमत हिन्दू राष्ट्रीयता के रूप में, वहाँ बाद को हिन्दी समाज का राजनैतिक आदर्श स्वराज्य स्वीकृत हुआ तथा जीवन के अन्य विभागों के आदर्श उसके सहायक मात्र के रूप में अंगीकार किये गये। लोकमत भी हिन्दू राष्ट्रीयता से विकसित होकर भारतीय राष्ट्रीयता के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। अन्य शब्दों में सन् १६०६ के उत्तरकालीन हिन्दू समाज में खण्ड समाजवाद स्वराज्य और भारतीय राष्ट्रीयता को प्रतिष्ठित करता हुआ आया और हिन्दी जीवन के समस्त अङ्गों को जागरण का मन्त्र देने लगा। गुप्तजी की कृतियों में प्रगट होने वाली उनकी कल्पना और अनुभूति का निरीक्षण करके यह पता लगाने की चेष्टा की जायगी कि उक्त आदर्श और उक्त लोकमत का गुप्तजी ने साहित्य के क्षेत्र में कितना प्रतिनिधित्व किया।

५—गुप्तजी के काव्य में सामाजिक आदर्श

वर्त्तमान ईसवी शताब्दी के प्रथम दर्शक में जिस प्रकार हिन्दू समाज में एक नवीन आदर्श 'स्वराज्य' में प्रतिष्ठा हुई, इसकी चर्चा की जा चुकी है। देश में स्वराज्य की स्थापना तभी सम्भव है जब उसके समस्त विभिन्न वर्ग राजनैतिक ऐक्य के सूत्र में बँध सकें; इसलिए

'स्वराज्य' के आदर्श के साथ-साथ भारतीय जीवन की एक ऐसी कल्पना ने भी प्रश्रय पाया, जिनमें सार्वजनिक हित के प्रश्नों को साम्प्रदायिक पक्षपात्-शून्य दृष्टिकोण से देखने का अभ्यास बढ़ाया गया। इस नव-निर्मित लोकमत को हम भारतीय राष्ट्रीयता के नाम से सम्बोधित कर सकते हैं।

हाल ही में राष्ट्रीय कवि के रूप में बाबू मैथिलीशरण गुप्त की जयंती मनायी गयी है। किसी-किसी लेखक ने गुप्तजी को इस काल के प्रतिनिधि कवि के रूप में भी ग्रहण किया है। इन विवादों को समाप्त करने का एक मात्र रास्ता यह है कि गुप्तजी के काव्य में हम सामाजिक आदर्शों की तलाश करें, उन आदर्शों की अपनी वर्त्तमान आदर्श के साथ तुलना करें और तब देखें कि गुप्तजी ने सामाजिक आदर्श की सृष्टि में कितनी मौलिकता का परिचय दिया है।

गुप्तजी के सामाजिक आदर्श का परिचय हमें सबसे पहले उनकी 'भारत-भारती' नामक पुस्तक में मिलता है। यह पुस्तक गुप्तजी ने मौलाना हाली के मुसद्दसों के ढंग पर लिखी। और जैसे मौलाना हाली के मुसद्दसों का क्षेत्र मुस्लिम समाज तक परिमित है वैसे ही 'भारत-भारती' का क्षेत्र हिन्दू समाज तक परिमित है। हिन्दू जाति के उद्बोधन के लिए हमारी मातृभाषा में यह एक अनुपम ग्रन्थ है। हिन्दू नवयुवकों की कल्पना को उत्तेजित करने का काम जितना इस एक पुस्तक ने किया उतना दूसरी अनेक पुस्तकों ने मिल कर भी नहीं किया। किन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि 'भारत-भारती' का क्षेत्र केवल हिन्दू समाज तक परिमित रखकर गुप्तजी ने उच्च कल्पना शक्ति का परिचय नहीं दिया। भारत में अकेले हिन्दू नहीं रहते और अकेला हिन्दू समाज भारतीय समाज का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। सन् १६०६ में, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, स्वराज्य आदर्श की स्थापना से भारतीय समाज को अस्तित्व में लाने की चेष्टा आरम्भ हो गयी थी। इस आदर्श के जय-घोष की ध्वनि

'भारत-भारती' में निनादित होनी चाहिये थी। महाकवि तो स्वयं ही महासत्य का आविष्कार करता है और उसको संगीतमयी अभिव्यक्ति भी प्रदान करता है। विराट सत्य की ऊँची चोटी पर बैठकर वह साधारण तल पर अवस्थित मानव जीवन पर दृष्टिपात करता तथा विविध तरङ्गित सत्य का गान करता है। महात्मा तुलसी दास ने 'रामचरितमानस' में ऐसा ही किया है। वे अपने काल के प्रतिनिधि कवि तो हैं ही, उससे ही अधिक वे महाकवि हैं, सर्वकालीन कवि हैं। प्रतिनिधि कवि के रूप में उन्होंने अपने युग के सत्य का आविष्कार किया—वह सत्य जो उनके समय की विविध समस्याओं की उलझन को सुलझाता था, विभिन्न विरोधी आदर्शों का सामंजस्य उपस्थित करता था। वे उतना ही करते तो भी हिन्दी-साहित्य में उनका नाम अमर था। किन्तु उनके काल के आदर्श में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह उनकी सम्पूर्ण कल्पना-शक्ति को समाप्त कर देता; उन्होंने अपनी विशिष्ट प्रतिभा के बल से परम सत्य का भी गान किया और एक ऐसे महाकाव्य की रचना कर दी, लो गङ्गा की धारा की तरह पुनीत और पापपुञ्जनाशक है।

युग-विशेष में समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाले आदर्श का गान करना प्रतिनिधि कवि की विशेषता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एक प्रतिनिधि कवि थे, उन्होंने अपने समय के समाज के आदर्श—देश प्रेम—को समझा और काव्य में उसका गान किया। काल का प्रवाह अनन्त है, उसमें सत्य की अनेक परिस्थितियाँ लहरों की तरह नाचती हुई चलती हैं; प्रतिनिधि कवि अपनी प्रतिभा के द्वारा समाज-सागर में उपस्थित होने वाली आगामी आदर्श लहरों को पहचान कर उसे अनुरंजित भाषा में व्यक्त करता है। यदि 'भारत-भारती' में गुप्त जी ने भारतीय समाज, भारतीय राष्ट्र के एकत्व की कल्पना से उद्दीप्त होकर स्वाधीनता देवी का जय-निनाद किया होता तो अवश्य ही हमारे प्रतिनिधि कवि के उच्च पद पर आरूढ़ होते। 'भारत-भारती' की रचना सन् १६१३

के लगभग हुई थी। इस समय तक एक भारतीय राष्ट्रीयता पनप चली थी। फिर भी, नवीन युग के सत्य को, आदर्श को प्राप्त करके भी उन्होंने उसका उचित उपयोग नहीं किया।

गुप्तजी के जिन अन्य ग्रन्थों से उनके सामाजिक आदर्श को निर्धारित करने में सहायता मिल सकती है, वे 'वैतालिक,' 'हिन्दू', 'गुरुकुल' और 'अनघ' हैं। इन चारों ग्रन्थों में भी क्षेत्र हिन्दू समाज तक ही परिमिति है! इन ग्रन्थों में एक भी बात ऐसी नहीं कही गई है जो भारतीय समाज के किसी वर्ग के लिए असन्तोषजनक हो। वास्तव में यह गुप्तजी के लिए प्रशंसनीय बात है कि उन्होंने विषय प्रस्तुत होने पर भी राष्ट्रीयता-विरोधी एक वाक्य भी कहीं नहीं लिखा है। जिन दिनों 'हिन्दू' और 'गुरुकुल' की रचना हुई थी, उन दिनों उदार-हृदय हिन्दू लेखकों के हृदय में भी मुसलमानों के प्रति क्रोध का भाव उत्पन्न हो सकता था। किसी अयोग्य लेखक की लेखनी के अधीन पड़कर 'हिन्दू' और 'गुरुकुल' दोनों ही का उपयोग हिन्दुओं के रोष-भाव को जाग्रत करने ही के लिये होता। किन्तु गुप्तजी ने अपनी लेखनी पर पूरा अधिकार रक्खा है।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में ललभग सन् १६१६ के आसपास भारतेन्दु-कालीन आदर्श की शक्ति-लोप का श्रीगणेश समझना चाहिये। स्वराज और भारतीय राष्ट्रीयता के आन्दोलन ने लम्बे डग बढ़ा कर पूर्ववर्ती धार्मिक साम्प्रदायिकता और हिन्दी राष्ट्रीयता के प्रभाव को पीछे की ओर ठेल दिया। घटनाचक्र ने हिन्दुओं को मुसलमानों से प्रति क्षुब्ध होने के अवसर दिये और परिणाम-स्वरूप हिन्दुओं के संगठन-आन्दोलन ने बल पकड़ा। भारतीय राष्ट्रीयता को एक धक्का-सा लगा। गुप्तजी का 'हिन्दू' और 'गुरुकुल' प्रतिक्रिया के ऐसे ही अवसर की उत्पत्ति है। गुप्त जी की कल्पना ने फिर उनका साथ नहीं दिया। उन्हें चाहिए था कि भारतीय समाज और भारतीय राष्ट्रीयता का संदेश लेकर वे अग्रसर होते। इस संदेश का एक मात्र स्वरूप यही

यह है कि उदार-हृदय शान्ति-प्रिय हिंदुओं को आवश्यकता और औचित्य से अधिक उदार और शान्त बनने ही की शिक्षा दी जाय; नहीं, भारतीय राष्ट्रीयता के दृष्टिकोण से मुसलमानों के अनुचित आचरण द्वारा होने वाली अपार हानि के प्रति ग्लानि का भाव प्रकट करने के लिए प्रबन्ध काव्य में किसी चरित्र की सृष्टि की जा सकती थी; स्फुट काव्य में विषाद के उद्गारों का समावेश किया जा सकता था। ऐसी रचनाओं में यथेष्ट बल होने पर समाज का समाज परिवर्तन हो सकता है, क्रांति हो सकती है। किन्तु गुप्तजी का ध्यान इस ओर न जा सका।

भारतेन्दु कालीन आदर्श में व्यापकता तो थी, किन्तु निश्चित केन्द्रिकता का उसमें अभाव था; इस अभाव का निवारण करके परवर्त्ती आदर्श स्वराज्य-आंदोलन के रूप में स्थिर हुआ। गुप्तजी ने वर्त्तमान आदर्श को तो ग्रहण कर लिया; लेकिन लोकमत हिंदू राष्ट्रीयता ही का बनाये रक्खा। इस सूक्ष्म विभेद के होते हुए भी गुप्तजी अधिकाँश में भारतेन्दु के अनुयायी कवियों की लड़ी के अंतिम कवि हैं। वे वर्त्तमान काल के राष्ट्रीय कवि नहीं हैं; किन्तु हिन्दू संस्कृति और हिन्दू समाज के उद्बोधनार्थ जितना काम अकेले उन्होंने किया है उतना अनेक संस्थायें और व्यक्ति भी शायद मिलकर न कर सकें।

भारतवासी अहिन्दुओं के प्रति भारतेन्दु के भाव उदार नहीं थे। इस विषय में वे 'शठं प्रति शाठ्य" की नीति के अनुयायी थे। ईसा की बीसवीं शताब्दी में भारत के भविष्य का ऊँट किस करवट बैठेगा, इसका अन्दाज वे उन्नीसवीं शताब्दी के सप्तम और अष्टम शतक में नहीं लगा सकते थे। मुसलमानों के व्यवहार से विशेषकर उनका चित्त अत्यन्त खिन्न हो जाया करता था। इसी कारण खीझ कर उन्होंने कहा था:—

"आर्य्यवंश को बधन पुन्य जा अधम धर्म्म मैं।
गोभक्षन द्विज श्रुति हिंसन नित जासु कर्म्म मैं॥

तिनकौ तुरतहिं हतौ मिलैं रन कै घर माहीं।
इन दुष्टन सों पुन्य किये हूँ पाप सदाहीं॥
चिउँटिहु पद-तल दबै खसत ह्वै तुच्छ जन्तु इक।
ये प्रतच्छ अरि इनहिं उपेछै जौन ताहि धिक॥
धिक तिन कहँ जे आर्य्य होइ जवनन को चाहैं।
धिक तिन कहँ जे इन सों कछु सम्बन्ध निबाहैं॥
उठहु वीर तलवार खींचि मारहु घन सङ्गर।
लोह लेखनी लिखहु आर्य्य बल जवन हृदय पर॥

भारतेन्दु के युग में और वर्त्तमान भारतीय युग में बहुत बड़ा अंतर उपस्थित हो गया है। आज राष्ट्रीयता का आदेश है कि हम अपने इन भावों को भुला दें। उक्त पंक्तियाँ जिस आदर्श और लोकमत की घोषणा करती हैं, आज भारतीय राष्ट्रीयता ने उसपर सङ्कीर्णता की छाप लगा दी है। यहाँ तक कि वर्त्तमान लोकमत को सन्तुष्ट करने के लिये गुप्तजी जी को 'गुरुकुल' नामक अपनी रचना लिखने के सम्बन्ध में इस प्रकार सफाई देनी पड़ी:—

"लिखने की धुन कहिये अथवा महापुरुषों की ओर देखने का आकर्षण कहिए, लेखक की अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ में न जाने; किन-किन विषयों पर लिखने की उमङ्ग उठा करती थी। महच्चरित्र संसार के किसी भी भूभाग पर उद्भूत हों, वे सार्वभौमिक होते हैं। इसलिए महाराणा प्रतापसिंह, छत्रपति शिवाजी और गुरू गोविन्द सिंह तक ही लेखक की वह लालसा सीमित न थी। हजरत हसन हुसेन पर भी अपनी सहानुभूति प्रकट करने के लिए उसका हृदय उत्कंठित हुआ करता था।"

इन पंक्तियों से प्रकट है कि गुप्तजी मनुष्य मात्र की वीरता, त्याग और बलिदान के प्रशंसक है, इन तत्वों में वे अपूर्व जीवन-सौन्दर्य्य का दर्शन करते हैं। यदि वे हजरत हसन हुसेन के सम्बन्ध में कुछ

लिख कर हमें दे सके, तो उनकी यह कृति भारतीय राष्ट्रीयता के विकास में एक बहुमूल्य स्थान प्राप्त करेगी।

हमारे अनेक महापुरुषों का जीवन-कार्य्य विदेशी मुसलमानों के अनुचित शासन का विरोध करता रहा है। ऐसी अवस्था में उनके शौर्य और त्याग के वर्णन से, उनके उद्योग की प्रशंसा से वे ही मुसलमान असन्तुष्ट होंगे जो राष्ट्रीय होना तो दूर की बात वीरता और बलिदान की कद्र करना भी नहीं जानते। जो हो, इस सम्बन्ध में गुप्तजी ने उचित पथ ही का अवलम्बन किया है। उन्होंने राष्ट्रीय भावना की तृप्ति के निमित्त लिखा है :—

"मुसलमानों से गुरुकुल का संघर्ष रहा है, उनके विरुद्ध ही बहुधा उनके बलिदान हुए हैं। अतएव उन बातों की चर्चा अनिवार्य थी। परन्तु पाठक देखेंगे कि यथास्थान लेखक ने मुसलमानों के प्रति सद्भाव प्रकट करने की भी पूरी चेष्टा की है—

"हिन्दू हो या मुसलमान हो
नीच रहेगा फिर भी नीच;
मनुष्यत्व सब के ऊपर है
मान्य महीमण्डल के बीच"

अब तो वे विरोध के दिन भी चले गये और हम और वे एक ही स्थिति में हैं। ऐसी दशा में लेखक की यह प्रार्थना है—

"हिन्दू-मुसलमान दोनों अब
छोड़ें वह विग्रह की नीति।
प्रकट की गयी है यह केवल
अपने वीरों के प्रति प्रीति।"

इस प्रकार गुप्तजी ने गत शताब्दी के हिन्दू राष्ट्रीयता के आदर्श वर्त्तमान काल की राष्ट्रीयता के साथ सुसंगत बना कर ही ग्रहण किया है।

६—गुप्तजी की कल्पना और अनुभूति का सङ्गमस्थल

प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व कल्पना और अनुभूति—दो तत्वों से निर्मित होता है। कल्पना के द्वारा मनुष्य सत्य का दर्शन करता है, और अनुभूति के द्वारा उसका उपभोग। ज्यों-ज्यों हम नव-नव सत्य के प्रदेश में प्रवेश करते चलते हैं त्यों-त्यों अन्य-अन्य आकर्षक सत्य क्षेत्रों की विजय का स्वप्न दिखलाना कल्पना का काम है। इसी तरह पुरुषार्थ और ताप द्वारा अर्जित, ज्ञान-सीमा में आनीत, सत्य को आत्मसात् कराना अनुभूति का काम है। किसी भी व्यक्ति की कल्पना और अनुभूति के सङ्गम का स्थल प्राप्त करके हम उसके व्यक्तित्व का स्वरूप निर्धारित कर सकते हैं। कवि की भी कल्पना और अनुभूति की मिलन-भूमि का निर्देश करके हम उसकी प्रतिभा का अनुमान कर सकते हैं।

कल्पना ठहरने के लिए कोई स्थान नहीं बतलाती; वह दूर देश की केवल एक मनोरम झांकी प्रस्तुत करके रह जाती है। जीवन के वर्त्तमान प्रश्नों को वह तरह-तरह से हल करना चाहती है। वह एक ऐसे सत्य की खोज में चलती है जो जीवन की सम्पूर्ण क्लान्ति; उसके समस्त अवसाद को एक अनन्त विश्राम की गोद में सुला देने की शक्ति रखता है। इसे हम चाहें तो दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि कल्पना ईश्वर को स्पष्ट से स्पष्ट रूप में हमारे सामने लाने के लिए लालायित रहती है। गुप्तजी की कल्पना को भी हम इस कार्य्य के लिए चंचल देखते हैं। वह उनको ईश्वर के अद्वैत रूप की ओर आकृष्ट करती है:—

"अब भी एक प्रश्न था—कोऽहं ?
कहूँ कहूँ जब तक दासोऽहं
तन्मयता कह उठी कि सोऽहं !

बस हो गया सवेरा;
दिनमणि के ऊपर उसकी ही
किरणों का है घेरा।"

गुप्तजी की कल्पना अन्यत्र भगवान के सगुण रूप ही की महिमा प्रतिष्ठित करती है :—

"पहले एक अजन्मा जाना
फिर बहु रूपों में पहचाना,
वे अवतार चरित नव नाना
चित्त हुआ चिर चेरा;
निर्गुण, तू तो निखिल गुणों का
निकला वास-बसेरा।"

कवि की कल्पना ने उसे ईश्वर को सखा तथा प्रियतम आदि अनेक रूपों में ग्रहण करने की ओर आकृष्ट किया है:—

(१) "सखे मेरे बन्धन मत खोल,
आप बन्ध्य हूँ, आप खोलूँ मैं;
तू न बीच में बोल।"
(२) "अच्छी आँच मिचौनी खेली,
बार बार तुम छिपो और मैं
खोजूँ तुम्हें अकेली।"

अवतारवाद की ओर आकृष्ट होकर गुप्तजी की कल्पना श्रीकृष्ण और श्रीरामचंद्र की ओर संकेत करती है:—

(३) "उर के न कपाट खुले खटके,
हम हार गये कब के रट के;
भव-कूप पड़े घट में लटके,
झट दो अपने गुण के झटके,
नटनागर आज कहाँ अटके?"

(२) "हो गया निर्गुण सगुण साकार है।
ले लिया अखिलेश ने अवतार है।
किसलिए यह खेल प्रभु ने है किया?
मनुज बन कर मानवी का पय पिया?
भक्तवत्सलता इसी का नाम है,
और वह लोकेश लीलाधाम है।
पथ दिखाने के लिए संसार को,
दूर करने के लिए भू-भार को।
सफल करने के लिए जन-दृष्टियाँ,
क्यों न करता वह स्वयं निज सृष्टियाँ।
असुर-शासन शिशिरमय हेमन्त है,
पर निकट ही राम-राज्य वसन्त है।
पापियों का जान लो अब अन्त है,
भूमि पर प्रगटा अनादि अनन्त है।"

गुप्तजी की कल्पना श्रीकृष्ण और श्रीरामचन्द्र दोनों को अपनी श्रद्धा समान रूप से समर्पित करती है; किन्तु फिर भी श्रीरामचंद्र की ओर ढल कर वह अधिक स्थिर हो जाती है। इसका एक कारण है—भगवान रामचंद्र मर्य्यादा पुरुषोत्तम हैं। सामाजिक और पारिवारिक सम्बन्धों का आदर्श देने के लिए जितने उपयुक्त वे हैं, उतने उपयुक्त श्रीकृष्ण नहीं। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि गुप्तजी का व्यक्तित्व समाज-सेवा सम्बन्धी भावों की दिशा में अधिक उल्लास पाता है। निस्सन्देह, श्रीकृष्ण का उपयोग भी समाज-सेवा का आदर्श देने के लिए किया जा सकता है, जैसा कि 'प्रियप्रवास' में किया गया है। किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि आदर्श भ्राता, आदर्श पति आदि के रूप में श्रीकृष्ण 'प्रियप्रवास' में अंकित नहीं किये गये। जो हो; गुप्तजी की कल्पना तो उन्हें ईश्वर के निर्गुण रूप तक की ओर ले चलने के लिए संकेत करती है, किन्तु

उनके व्यक्तित्व की अनुभूति इतनी गहरी नहीं है कि वह श्रीकृष्ण और रामचन्द्र के लिए भी नेति-नेति कहती हुई आकार-बाधा रहित निराकार, अचिन्त्य, अविनाशी सत्य प्रभु की ओर ले चलकर उन्हें कहीं ऐसी जगह पर टिका दे जहाँ से 'दासोऽहं' कहना हलका समझ पड़े और सोऽहं का घोष हृदय के अन्तस्तल से प्रसूत प्रतीत हो।

गुप्तजी की कल्पना ने जैसे उनकी अनुभूति के साथ संगम करके ईश्वर के लिए उन्हें श्रीरामचन्द्र का स्वरूप प्रदान किया है वैसे ही समाज का एक बृहत् क्षेत्र प्रस्तुत करने के बाद हिन्दू संस्कृति और हिन्दू समाज के अपेक्षाकृत लघु घेरे ही में उनकी अनुभूति के साथ सम्मिलन किया है। इसे कुछ अधिक स्पष्ट करने के लिए मैं गुप्तजी की पंक्तियों से ही सहायता लूँगा।

'साकेत' में रामचन्द्र आदर्श समाज सेवक के रूप में प्रतिष्ठित किये गये हैं। उन्हीं के शब्दों में कवि ने समाज-सेवा का भाव इस प्रकार व्यक्त किया है:—

"निज रक्षा का अधिकार रहे जन-जन को।
सब की सुविधा का भार किन्तु शासन को।
मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं।
जो विवश, विकल, बलहीन, दीन, शापित हैं।
हो जायँ अभय वे जिन्हें कि भय भासित हैं।
जो कौणप-कुल से मूक-सदृश शासित हैं।
मैं आया जिसमें बनी रहे मर्यादा।
बच जाय प्रलय से मिटे न जीवन सादा।
मैं यहाँ एक अवलम्ब छोड़ने आया।
गढ़ने आया हूँ, नहीं तोड़ने आया।
मैं यहाँ जोड़ने नहीं बाँटने आया।
जगदुपवन के झंखाड़ छाँटने आया।
+ \+ \+

सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।"

गुप्तजी की कल्पना खगी की भाँति विस्तृत समाज के आकाश में उड़ती है, किन्तु अन्त में अनुभूति के जिस घोंसले में आकर वह टिक जाती है; वह इतना विस्तृत नहीं है। रामचन्द्र जी की विजय का वर्णन करता हुआ कवि कहता है।

'गोदावरी-तीर पर प्रभु ने दण्डक बन में वास किया।
अपनी उच्च आर्य्य-संस्कृति ने वहाँ अबाध विकास किया।

× × ×

"जय जयकार किया मुनियों ने दस्युराज यों ध्वस्त हुआ।
आर्य्य-सभ्यता हुई प्रतिष्ठित आर्य्य धर्म्म आश्वस्त हुआ।
होते हैं निर्विघ्न यज्ञ अब जप-समाधि-तप पूजा पाठ।
यह गाती हैं मुनि-कन्याएँ, कर व्रत पर्वोत्सव के ठाठ।"

स्पष्ट है, कवि हिन्दू समाज और हिन्दू संस्कृति का कवि है। इन्हीं दोनों की विजय का गान करने में उसके हृदय की प्रीति है।

कवि की इस आवाज में कुछ मिशनरी का सा स्वर प्रतीत होता है। रामचन्द्र को एक मिशनरी के रूप में भेज कर दक्षिण की बानर भालू का-सा जीवन व्यतीत करने वाली असभ्य जातियों की शुद्धि उनके द्वारा भले ही आधुनिक हिन्दू समाज की एक आवश्यकता पूर्ति के उद्देश्य का समर्थक हो,—यद्यपि वर्त्तमान भारतीय राष्ट्रीयता के इस युग में यह आवश्यकता एक विवाद-ग्रस्त विषय बनी रहेगी—किन्तु रामचन्द्र जी के 'मिशन' के हलकेपन के सम्बन्ध के हमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। ऐसे ही स्थलों में गोस्वामी तुलसीदास ने रामचन्द्र के अवतरण के उद्देश्य को बहुत ऊँचा उठाया है:—

'जब जब होय धर्म्म की हानी।
बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।

करहिं अनीति जाइ नहिं बरणी।
सीदहिं विप्र धेनु सुर धरणी।
तब-तब प्रभु धरि विविध शरीरा।
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।

असुर मारि थापहिं सुरन्ह, राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग विस्तारहिं विशद यश, राम-जन्म कर हेतु।"

× × ×

"सुधा बरषि कपि भालु जियाये।
हरषि उठे सब प्रभुपँह आये।
रामाकार भये तिनके मन।
गये ब्रह्मपद तजि शरीर रन।
सुर अंशिक सब कपि अरु ऋच्छा।
जिये सकल रघुपति की इच्छा।"

जहाँ गुप्तजी कहते हैं कि श्रीरामचन्द्र ने दक्षिण की असभ्य जातियों को सभ्य बनाया, वहाँ तुलसीदास जी कहते हैं कि श्रीरामचन्द्र ने उन अशिक्षित भालुओं और बानरों को ब्रह्मपद प्रदान कर दिया। यही नहीं रावण को भी वे किसी विदेशी संस्कृति का अनुयायी नहीं मानते—

"उत्तम कुल पुलस्त्य कर नाती।
शिव विरंचि पूजेहु बहु भाँती।"

× × ×

तुलसीदास कृत रामचरितमानस के श्रीरामचंद्र ने भी रावण का और उसके साथी निशाचरों को अपने से भिन्न नहीं माना है:—

"रामसरिस को दीन हितकारी।
कीन्हें मुक्त निशाचर भारी।
खल मल धाम कामरत रावण।
गति पायी जो मुनिवर पावन।"

विचित्र बात तो यह है कि अन्यत्र स्वयं गुप्तजी ने रावण को आर्य्य-संस्कृति का अनुयायी ही माना है:—

"तप कर विधि से विभव निशाचर पति ने पाया।
वही पाप कर आप राम से मरने आया।"

इस प्रकार कवि की कल्पना में कुछ अस्पष्टता भी झलकती है। जो हो, जैसा कि ऊपर कहा गया है, हिन्दू-संस्कृति प्रचार-विशिष्ट देश-प्रेम ही में उनकी कल्पना और अनुभूति का संगम-स्थल दिखलायी पड़ता है। गुप्तजी की निम्नलिखित पंक्तियाँ भी इसी की घोषणा करती हैं:—

"दुर्गम दक्षिण मार्ग समझ कर ही निज मन में।
चित्रकूट से आर्य्य गये थे दण्डक बन में।
लंका के क्रव्याद वहाँ आकर चरते थे।
भोले-भोले शान्त सदय ऋषि-मुनि मरते थे।
सफल न करते आर्य्य भला फिर बन जाना क्यों?
पुण्य भूमि पर रहे पापियों का थाना क्यों?
भरत खण्ड का द्वार विश्व के लिए खुला है।
भुक्ति-मुक्ति का योग जहाँ पर मिला जुला है।
पर जा इस पर अनाचार करने आवेंगे।
नरकों में भी ठौर न पाकर पछतावेंगे।
जाकर प्रभु ने वहाँ धर्म-संकट सब मेटा।
जय-लक्ष्मी ने उन्हें आप ही आकर भेंटा।
दुष्ट दस्यु दल बांध रुष्ट होकर, हाँ, आये।
पर जीवित वे नहीं एक भी जाने पाये।"

गुप्तजी की ईश्वर और समाज-सम्बन्धी कल्पना तथा अनुभूति की मिलन-भूमि से हमने परिचय प्राप्त कर लिया; अब हमें यह देखना चाहिए कि व्यक्ति के सम्बन्ध में गुप्तजी की कल्पना उन्हें कितनी दूर ले

जाती है और उनकी अनुभूति उसको कहाँ स्थिति प्रदान करती है। इसकी व्याख्या में आगे बढ़ने के पहले हमें गुप्तजी के काव्य में प्रतिष्ठित चरित्रों पर एक दृष्टिपात कर लेना चाहिए।

गुप्तजी के काव्य में मनुष्य का जो रूप अङ्कित हुआ है, उसमें मानव-जीवन की चरम लक्ष्य अध्यात्मिक अनुभूति के रूप में नहीं उपस्थित किया गया है। उनकी रचनाओं की प्रवृत्तियों का निर्देश तथा समाज और ईश्वर सम्बन्धी उनकी कल्पना और अनुभूति का निरीक्षण करते समय हम उनकी विचार-धारा की कुछ थाह पा चुके हैं—वह विचार धारा जो देश-भक्ति से ओत-प्रोत है और हिन्दू संस्कृत की विजय का डङ्का पीटती है। यह बात नहीं कि उन्होंने विकसित आध्यात्मिकता से सम्पन्न चरित्रों की कल्पना नहीं की है; नहीं राम और बुद्ध ऐसी विभूतियों को उन्होंने अपने काव्य में स्थान दिया है; किन्तु यदि अपनाया है तो जैसा कि मैं अन्यत्र कह आया हूँ, उन्होंने इन्हें भी मातृ-भूति के सेवक-रूप ही में अपनाया है। 'गुरुकुल' में बंदा बैरागी और गुरुगोविन्द सिंह की बातचीत भी इसी लक्ष्य की ओर प्रगति करती है।

गुप्तजी के अन्य प्रधान पात्रों में मघ, लक्ष्मण, उर्मिला और यशोधरा उल्लेख-योग्य हैं। मघ की समाज-सेवा में एक निराली संलग्नता है। लक्ष्मण का त्यागपूर्ण वनवास, वास्तव में एक महाकाव्य का विषय होने योग्य है। किन्तु 'साकेत' में चित्रित उर्मिला की पीड़ा महाकाव्य का वर्णनीय विषय होने के योग्य नहीं। महाकाव्य अथवा किसी भी महान् कृति की नायिका की पीड़ा भी महान् होनी चाहिये। इसके विशेष विवेचना का उचित स्थल तो आगे आवेगा। यहाँ इतना ही कथन पर्य्याप्त है कि न तो उर्मिला की और न यशोधरा की चरित्र-सृष्टि में गुप्तजी ने उस विराट पीड़ा की नियोजना की है। जिसकी तुलना में पति वियोग का दुःख अत्यन्त अल्प-प्राण और निस्सार

है। निस्सन्देह कवित्व के उपयोग के लिए दुर्बल-हृदय नायिका एक सुलभ साधन है; किन्तु उच्च कवित्व के लिए, उच्चकोटि की कला के निदर्शक के लिए दुर्बल-हृदय नारी को भी, उसके महान् पति के महात्यागमय जीवन-वातावरण का रचनात्मक लाभ प्रदान करके, उत्तरोत्तर विकास-साधन सम्पन्न बनाया जा सकता है। उचित समय उपस्थित होने पर उर्मिला ने अपने वीर हृदय का परिचय दिया है; यशोधरा में भी स्वाभिमान का भाव कूट-कूट कर भरा है; साधारणतया इन दोनों चरित्रों की सृष्टि में कवि ने माधुर्य्य-तत्व का अच्छा समावेश किया है; किन्तु इन दोनों की वेदना के धरातल को और ऊँचे उठाकर यह माधुर्य्य तत्व और भी हृदयहारी बनाया जा सकता था।

उर्मिला प्रियतम की स्मृति से व्यथित हो रही है, उसे कान्त के साथ एक दिन का झूलना स्मरण आ रहा है। लक्ष्मण ने कहा थाः—

"नंगी पीठ बैठकर घोड़े को उड़ाऊँ कहो,
किन्तु डरता हूँ मैं तुम्हारे इस झूले से।
रोक सकता हूँ ऊरुओं के बल से ही उसे,
टूटे भी लगाम यदि मेरे कभी भूले से।
किन्तु क्या करूँगा यहाँ ?"

उर्मिला को याद आ रहा है—

"उत्तर में मैंने हँस
और भी बढ़ाये पैंग दोनों ओर झूले से।
"हैं हैं कह लिपट गये थे यहीं प्राणेश्वर,
बाहर में संकुचित भीतर से फूले से।"

यशोधरा की विचार-धारा उर्मिला की विचार-धारा से कुछ ऊँची है; उसके आदर्श उच्चतर हैं, उसका त्याग भी अपेक्षाकृत विशिष्ट है। उर्मिला लक्ष्मण के आदर्शों के सम्बन्ध में विवाद नहीं करती; वह शायद उनकी श्रेष्ठता की कायल है। बौद्धिक दृष्टि से यशोधरा

उर्मिलता से अधिक ऊँची है भी। यशोधरा की परिस्थिति में पड़ कर भी वह शायद ही विवाद करने की प्रतिभा का परिचय देती। किन्तु यशोधरा कहती है:—

"आओ, प्रिय! भव में भाव-विभाव भरें हम,
डूबेंगे नहीं कदापि, तरें न तरें हम।
कैवल्य-काम भी काम, स्वधर्म धरें हम,
संसार-हेतु शत बार सहर्ष मरें हम।
तुम, सुनो क्षेम से प्रेम-गीत मैं गाऊँ।
कह मुक्ति भला किस लिए तुझे मैं पाऊँ?"

× × ×

"ये चन्द्र-सूर्य निर्वाण नहीं पाते हैं,
ओझल हो हो कर हमें दृष्टि आते हैं।
झोंके समीर के झूम झूम जाते हैं,
जा जा कर नीरद नया नीर लाते हैं।
तो क्यों जा जा कर लौट न मैं भी आऊँ?
कह मुक्ति, भला, किसलिए तुझे मैं पाऊँ?"

यशोधरा ने विवाद तो किया और उसे दाद भी दी जा सकती है, लेकिन कठिनाई यह है कि वह 'शत बार' के स्थान में एक बार भी तो संसार के लिये नहीं मरी। गौतम बुद्ध तो मुक्ति के लिए जूझने गये थे और वे उसे लेकर ही अपने समय पर लौटे, किन्तु यशोधरा ने चन्द्रमा, सूर्य्य, पवन और बादल के विश्व-प्रेम को हृदय में धारण करके अपने उत्सर्ग का कोई परिचय नहीं दिया। उसने जो कुछ किया वह यही था कि राहुल को पाल-पोसकर बड़ा किया, इतना तो प्रत्येक माता अपने पुत्र के लिए करती है। यशोधरा ने मैले-कुचैले कपड़े भी पहने, वह दुर्बल भी हो गयी, किन्तु इससे क्या? पति को प्यार करने वाली प्रत्येक वियोगिनी स्त्री की ये स्वाभाविक परिस्थितियाँ हैं।

चरित्रों के इस संक्षिप्त दिग्दर्शन के बाद अब विचारणीय है कि गुप्तजी की कल्पना और अनुभूति ने कैसी चरित्र सृष्टि में अपना सङ्गम-स्थल प्राप्त किया है। राम को तो आर्य धर्म्म के प्रचारक के रूप में नीचे की ओर खींचकर उन्होंने अपने व्यक्तित्व के अनुकूल कर लिया है, किन्तु बुद्ध के मिशन में देश-प्रेम के किसी लौकिक रूप का सन्निवेश न हो सकने के कारण वे गुप्तजी के लिए दूर की अनुभूत वस्तु ही के रूप में रहे हैं। और फिर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि 'साकेत' में श्रीरामचन्द्र और 'यशोधर' में बुद्ध भगवान् केवल वातावरण के निर्माता हैं, 'साकेत' में लक्ष्मण और उर्मिला तथा 'यशोधरा' में यशोधरा ही प्रधान हैं। कवि की कल्पना नायकेतर चरित्रों की विचार-धारा के रूप में चाहे जितना ऊँचा उड़े, किन्तु नायक सृष्टि के मूलसार ही में उसकी अनुभूति स्थिरता प्राप्त करती है। ऐसी स्थिति में उल्लेख-योग्य पात्रों में लक्ष्मण, उर्मिला, और यशोधरा ही में हमें गुप्तजी की अनुभूति और कल्पना की सम्मिलन-भूमि की तलाश करनी चाहिये। उर्मिला की तुलना में 'साकेत' के वस्तु-संगठन में लक्ष्मण भी कम महत्वपूर्ण जान पड़ते हैं, ऐसा जान पड़ने लगता है, मानो कवि ने उर्मिला के अश्रु-मौक्तिकों की माला गूँथ कर परमात्मा को समर्पित करने ही के लिए यह सब प्रबन्ध रचा है। किन्तु विश्ववेदना-शून्य, केवल पति-वियोग-व्यथा में निष्ठुरता-पूर्वक केन्द्रीभूत इन मौक्तिकों को क्या विश्वात्मा के चरणों में स्वीकृति प्राप्त होगी? जैसे उर्मिला वैसे ही यशोधरा ने विश्व-वेदना का कोई ठोस परिचय नहीं दिया है। निस्सन्देह लक्ष्मण की सृष्टि में कवि को सफलता प्राप्त हुई है, और वह इसलिए कि वे कवि के व्यक्तित्व की प्रकृत उत्पत्ति हैं, राष्ट्र-सम्मान आत्म सम्मान की रक्षा में दत्त-चित्त एक धुरन्धर सिपाही हैं। अतएव यह कहा जा सकता है कि लक्ष्मण ही कि सृष्टि में कवि की कल्पना ने अपने विश्राम की भूमि प्राप्त की है।

संक्षेप में गुप्तजी ने श्रीरामचन्द्र के रूप में अपने ईश्वर को आर्य-

संस्कृति-विशिष्ट हिन्दू समाज में अपने समाज को, और लक्ष्मण के रूप में वर्त्तमान काल के श्रेष्ठ, देश-सम्मान-रक्षक योद्धा को प्राप्त किया है। इसी त्रयी की धुरी पर गुप्तजी का सम्पूर्ण काव्य-शकट प्रगतिशील होता है।

७-गुप्तजी समाज की उत्पति या उसके निर्माता

समाज की प्रत्येक स्थिति में एक आदर्श और उसका अनुसारी एक लोकमत उसके प्रत्येक सदस्य की प्रवृत्तियों को शासित करता रहता है, इसकी चर्चा की जा चुकी है। यह भी बतलाया जा चुका है कि प्रत्येक प्रतिनिधि कवि एक नवीन आदर्श और लोकमत के प्रवर्त्तन के लिए अवतीर्ण होता है। महाकवि और प्रतिनिधि कवि के अन्तर की ओर भी संकेत कर दिया गया है, महाकवि अधिक दीर्घकाल व्यापी आदर्श और लोकमत की उत्पत्ति करने में सफल होता है, प्रतिनिधि कवि उससे अपेक्षाकृत कम। ये दोनों ही समाज का स्वरूप परिवर्त्तित कर देने में सफल होते हैं। किन्तु महाकवि या प्रतिनिधि कवि द्वारा प्रस्तुत आदश और लोकमत का अनुसरण करने वाले अन्य कवि समाज के निर्माता या उसके प्रवर्त्तक नहीं कहे जा सकते, वे तो उस समाज ही की उत्पत्ति कहे जायेंगे जिसके स्वीकृत आदर्श और लोकमत में उनका जीवन व्यतीत होता है। गुप्त जी समाज के निर्माता हैं, या उसकी उत्पत्ति हैं, इस पर विचार करने का यह उपयुक्त स्थल है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में गुप्तजी के कार्य्य का एक विशेष स्थान है। वर्त्तमान काल में पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय को छोड़कर अन्य किसी कवि ने हिन्दू जाति के उद्बोधन के लिए इतना श्रम नहीं किया। उपाध्याय जी की रचनाओं के एक अंश में शृंगारिकता भी पायी जाती, है, किन्तु गुप्तजी ने जहाँ नारी-सौन्दर्य का निरूपण किया

है, वहाँ भी प्रगाढ़ शृंगारिकता देखने में नहीं आती। ऐसी अवस्था में यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि गुप्तजी के कार्य में एक बहुत बड़ा निरालापन है जो हिन्दी साहित्य में अन्यत्र मिलना असम्भव है। उनके काव्य में जिस आदर्श का गान किया गया है, जिस लोकमत की घोषणा की गई है, उसका आविष्कार यदि स्वयं उन्होंने किया होता, तो निस्सन्देह उनके कार्य के इस निरालेपन का महत्व बहुत अधिक बढ़ जाता। किन्तु गुप्तजी ने कोई मौलिक आदर्श लेकर कार्य-क्षेत्र में प्रवेश नहीं किया; जैसा कि पहले कहा गया है, उन्होंने भारतेन्दु द्वारा प्रचलित तथा उनके समसामयिक और अनुगामी अन्य कवियों द्वारा स्वीकृत देशभक्ति के व्यापक आदर्श को अपनाया जो कालांतर में स्वराज्य प्राप्ति के प्रयत्न के रूप में केन्द्रित हुआ। वर्त्तमान समाज के लिए भी उन्होंने कोई मौलिक आदर्श नहीं प्रस्तुत किया; अधिकांश में वे औरों द्वारा दिये गये आदर्श को आत्मसात् करने ही की चेष्टा में लगे रहे और कहीं-कहीं उसमें भी सफल नहीं हो सके हैं। ऐसी अवस्था में हम उन्हें समाज का निर्माता न कह कर समाज की उत्पत्ति ही कहने को विवश होंगे; उन्होंने समाज की आन्तरिक शक्ति को प्रेरणा प्रदान करने के स्थान में उससे स्वयं ही प्रेरणा प्राप्त की है और अपनी कृतियों द्वारा उसी प्रेरणा का उपभोग किया है। गुप्तजी के ग्रंथों पर एक दृष्टिपात करके हम अपने इस कथन के औचित्य की परीक्षा भी कर सकते हैं।

गुप्तजी का पहला काव्य ग्रन्थ 'रंग में भंग' है। इसके नायक गेनोली'नरेश लालसिंह की मिथ्या अपमान-भावना ने वीरता का अनावश्यक प्रदर्शन प्रदान कराके न जाने कितने मूल्यवान जीवन का बलिदान कर दिया। इस बलिदान में निहित सत्य की अपूर्णता अथवा पूर्णता की कवि ने कहां परीक्षा की ? उक्त सत्य से उच्चतर सत्य का स्वरूप उसने कहां खड़ा किया ? लालसिंह मे दानवीरता भले ही क़न्तु ,रही होजिस करुणाजनक काण्ड का सूत्रपात उनके कारण

हो गया, उसका उत्तरदायित्व उनकी अनुचित प्रतिद्वन्दिता-भावना ही पर है। इसकी आलोचना न तो कवि ने लालसिंह के अनुताप के रूप में की और न किसी अन्य पात्र के द्वारा किसी रूप में करायी। सत्य आदर्श की अपूर्णता ही से विवाद की सृष्टि होती है। लालसिंह के आदर्श में किस स्थल पर अपूर्णता थी, इसे पाठकों को समझाने का कोई उद्योग कवि ने नहीं किया। और इस प्रयत्न के अभाव में हम यह समझने लग सकते हैं कि शायद कवि को इसी में तृप्ति मिल रही है।

'किसान' नामक काव्य के नायक किसान के जीवन और अन्त में भी कवि का कोई मौलिक आदर्श नहीं दिखायी पड़ता। उसके जीवन-क्रम को हम देश में प्रचलित आन्दोलनों पर आश्रित देखते हैं। उदाहरण के लिए उसके कुलियों में भर्ती होकर दक्षिणी अफ्रीका को जाने और वहाँ से लौट कर ब्रिटिश सैनिकों में भरती होने वाली बात पर दृष्टिपात किया जा सकता है। इस किसान का जीवन तो दयनीय है ही, किन्तु कवि ने इसकी मृत्यु को भी गौरव-जनक नहीं बनाया। ब्रिटिश युद्ध-स्थल में भेजकर टिगरिस नदी के तट पर उसके प्राणों का विसर्जन कराना कौन सा महत्व रखता है? इसमें किस आदर्श की महत्ता प्रगट की गयी है! इससे कहीं अधिक सजीवता तो लो० तिलक के उस कथन में थी जिसमें उन्होंने कुछ शर्तों पर केवल महाराष्ट्र से एक लाख सैनिक देने का वादा किया था। उससे भी कहीं अधिक शक्ति गाँधीजी के निस्वार्थ सहयोग में थी, जिसने कालान्तर में उनके द्वारा प्रवर्त्तित असहयोग की तेजस्विता बढ़ायी। गुप्तजी ने इन आदर्शों का उपयोग किया होता तो उनके किसान में कुछ चमक आ जाती, कुछ जान आ जाती।

'भारत भारती' में भी गुप्तजी का कोई मौलिक आदर्श नहीं दिखायी पड़ता। उसके मुखपृष्ठ पर लिखा गया है:—

हम कौन थे, क्या हो गये हैं, और क्या होंगे अभी ।
आओ विचारें आज मिल कर ये समस्याएँ सभी ॥

कवि ने कुछ अंशों में यह तो सफलतापूर्वक बतलाया कि हम कौन थे, यह भी ठीक-ठीक समझा दिया कि हम क्या हो गये हैं; किन्तु आगे हम क्या होंगे, इस समस्या पर उचित प्रकाश नहीं डाला। इस प्रश्न का हल तो कवि को तभी मिल सकता था जब उसके सामने भावी भारतीय समाज का कोई चित्र उपस्थित होता, ऐसा चित्र जिसमें हिन्दू मुसलमान और इसाई आदि सभी भारतवासी जीवन के एक ऐसे स्तर पर दिखलाये जाते जहाँ उनके पारस्परिक ऐक्य की संभावना होती। इसके उत्तर में शायद यह कहा जाय कि इस पुस्तक का विषय ही केवल हिन्दू जाति है, ऐसी अवस्था में इतर लोगों के वर्णन का उसमें किस प्रकार समावेश किया जा सकता है ! जो इस प्रकार के प्रश्न उपस्थित करे वह हिन्दुओं की वास्तविक समस्याओं से परिचित नहीं समझा जा सकता। सच बात यह है कि भारतवर्ष में भी अपने घर में भी हिन्दुओं का भविष्य अब केवल हिन्दुओं के हाथों में नहीं है। 'भारत-भारती' के प्रकाशित होने के दो दशकों के भीतर ही हमने देख लिया कि उसमें चाहे कुछ भी किया गया हो किन्तु इस पर विचार नहीं किया गया कि हम 'क्या होंगे ! गुप्तजी के पास यदि कोई मौलिक आदर्श होता तो 'भारत-भारती' में यह त्रुटि सम्भव नहीं हो सकती थी।

'साकेत' गुप्तजी का महाकाव्य है। उनके जीवन के अधिकांश श्रम का वह मधुर और सुसंगठित फल है। किन्तु मौलिक आदर्श के अभाव ने उसे भी अछूता नहीं छोड़ा है। तुलसीदास के रामचन्द्र का अवतरण काल के एक बहुत बड़े विभाग की समस्या को हल करने के लिए हुआ था, उनके मर्यादापुरुषोत्तम ने अपने वर्त्तमान काल की कठिनाइयों को तो हल किया ही, साथ ही भविष्य के लिए भी भक्तों का सहायक होने के लिए अपने नाम का प्रभाव छोड़

दिया। किन्तु गुप्तजी के रामचन्द्र जी हमारी वर्त्तमान कठिनाइयों को भी पूर्ण रूप से निराकृत नहीं करते। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, 'बारम्बार हमारे समाने यही प्रश्न उपस्थित होता है कि हिन्दू संस्कृत के प्रचार- कार्य्य से बोझिल बना कर कवि ने जो उन्हें दक्षिणी जङ्गलों में भेज दिया है उससे हमारी विद्यमान समस्याओं को कौन सा प्रकाश मिलता है? कवि का इशारा शुद्धि आन्दोलन की ओर तो नहीं है! क्या वे हमारे सामने एक ऐसा कार्य्य-क्रम रख रहे हैं जिसके अनुसार भारतीय समाज का उद्धारक आर्य्येतर तथा भारतवासियों को आर्य्य-संस्कृति में दीक्षित करके, तथा उन्हें अपना घनिष्ट संगी-साथी बना कर सिन्धु के उस पार विलखने वाली भारत-लक्ष्मी का उद्धार करेगा। यदि इस कथन में सत्य का कोई अंश हो तो इसमें थोड़े से और शब्दों को जो जोड़ कर हम यह कह सकते हैं कि आर्य्यसमाज का बहुत दिनों तक यही कार्य्यक्रम रहा है, जिसे बाद को हिन्दू महासभा ने भी अपना लिया है।

'साकेत' के नायक लक्ष्मण के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक तो अन्यत्र लिखा जायगा, यहाँ इतना ही कथन पर्य्याप्त है कि उनमें पराक्रम, साहस, त्याग सब कुछ होने पर भी जल्दबाजी और क्रोध का इतना आधिक्य है कि उनके कारण पग-पग पर कठिनाइयाँ खड़ी हो सकती हैं। यदि उन्हें सम्हालने के लिए रामचन्द्र जैसे धीर पुरुष निरन्तर साथ न रहें तो वे बात-बात में अनर्थ खड़ा कर दिया करें। ऐसे पुरुष को हमारे सामने आदर्श रूप में रखकर क्या कवि इच्छा करता है कि हम उसी का पदानुसरण करें? रामचरितमानस में इस तरह का प्रश्न इसलिए नहीं खड़ा होता कि उसमें लक्ष्मण गौण रूप में अंकित किये गये हैं। वहाँ लक्ष्मण की सभी विशेताओं को अनुकरणीय समझने का प्रोत्साहन पाठक को नहीं मिलता। 'साकेत' में लक्ष्मण की स्थिति ठीक इसके विपरीत है। लक्ष्मण के चरित्र में कितनी अधिक महत्ता, कितनी अनुकरणीयता, कितनी लोकग्राह्यता का समावेश हो

जाता, यदि उनमें अपने क्रोध के प्रति अनुताप का एक हलका-सा भाव भी उत्पन्न हो सकता। आवेशशील लक्ष्मण में यदि स्वयं अपने क्रोध के प्रति थोड़ी सी झल्लाहट पैदा हो गई होती तो उनके महाकाव्योपयुक्त व्यक्तित्व की विशालता में और भी परिवर्द्धन हो जाता। हमारे वर्त्तमान समाज के लिये राजपूतों की व्यक्तिगत वीरता और जोशीलेपन का आदर्श सहायक नहीं हो सकेगा; उसमें शक्ति रहते हुए भी असफलता का बीज निहित है। हमारे वर्त्तमान समाजोद्धारक को वीरता के साथ धीरता और गंभीरता का विकास भी अपने व्यक्तित्व में समाविष्ट करना पड़ेगा।

उर्मिला और यशोधरा के द्वारा भी गुप्तजी ने समाज के लिये कोई मौलिक आदर्श नहीं प्रस्तुत किया। ये दोनों तो अपने ही स्वार्थ में सिमिट कर रह गई हैं। इनकी अपनी ही वेदना इतनी अधिक है कि लोक वेदना को हृदय में धारण करने के लिए इनके पास अवकाश नहीं।

जो कुछ ऊपर निवेदन किया गया है, उससे, आशा है, पाठक को यह बात स्पष्ट हो जायगी कि गुप्तजी ने अपने समय के समाज के सामने भी, दस बीस वर्षों के लिए भी, नेतृत्व प्रदान करने वाले किसी आदर्श को उपस्थित नहीं किया। यही नहीं, समाज के क्रियाशील आदर्श से वे कहीं-कहीं पिछड़े भी रह गये। उनके काव्य की पृष्ठभूमि के सम्बन्ध में कुछ कहा जा चुका है। उक्त पृष्ठभूमि का उन्होंने उचित उपयोग किया; भारतेन्दुकालीन आदर्श और लोकमत का जैसा सुन्दर विकास उनके काव्य में मिलता है वैसा पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय को छोड़ कर और किसी भी आधुनिक कवि के काव्य में नहीं मिलता। किन्तु अपने समकालिक समाज तथा आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए वे उपयोगी आदर्श नहीं दे सके। अधिकांश में वे समाज के प्रचलित आदर्श के अधीन ही रह कर कार्य्य करते रह गये।

ऐसी अवस्था में जैसा कि हम पहले कह आये हैं, हम उन्हें समाज का निर्माता न कह कर उसकी उत्पत्ति ही कहेंगे।

८—गुप्तजी की भाषा

ज्यों-ज्यों भारतीय राष्ट्र के नव जागरण को भाषा में व्यक्त करने की आवश्यकता बढ़ी, त्यों-त्यों खड़ी बोली में लिखी गई कविताओं का प्रचार भी बढ़ा। हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रायः प्रत्येक काल में खड़ी बोली में कुछ कविताएँ लिखी जाती रही हैं, किन्तु अधिकांश कवि व्रजभाषा की माधुरी पर इतने लट्टू रहे हैं कि स्वभावतः वे अपनी प्रतिभा का परिमार्जनकारी उपयोग खड़ी बोली को नहीं प्रदान कर सके। फल यह हुआ कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में और उनके कुछ समय बाद जब खड़ी बोली का उपयोग बढ़ा, तब काव्य-प्रेमी पाठकों को उसमें काव्योचित मधुरिमा का अभाव दीख पड़ा। स्वयं भारतेन्दु की कविता खड़ी बोली के मैदान में आकर या तो पूरी मात्रा में अरबी फारसी शब्दों से लदी हुई उर्दू ही हो गयी या फिर लड़खड़ाती हुई ही चली। उनकी दोनों तरह की कविताओं के दो नमूने देखियेः—

(१) "दिल मेरा ले गया दया करके।
बेवफा हो गया वफा करके।
हिज्र की शब घटा ही दी हमने।
दास्तां जुल्फ की बढ़ा कर के।
शुअलारू कह तो क्या मिला तुझको।
दिलजलों को जला जला करके।"

(२) "श्रीराधामाधव युगल प्रेम-रस का अपने को मस्त बना।
पी प्रेम पियाला भर-भरकर कुछ इस मै का भी देख मजा॥
इतबार न हो तो देख न ले क्या हरिश्चन्द्र का हाल हुआ॥
पी प्रेम पियाल भर-भरकर कुछ इस मै का भी देख मजा॥"

द्वितीय अवतरण के तुकों, 'बना' 'मजा' 'हुआ' 'मजा' पर दृष्टिपात कीजिये। उर्दू में भले ही ये प्रचलित हों, किन्तु हिन्दी में तो यह काफियातङ्गी दुर्बलता मानी जायगी। भाष-सम्बन्धी यह लड़खड़ाहट भारतेन्दु के समसामयिक तथा अनेक परवर्त्ती कवियों में देख पड़ती है। पं० बदरीनारायण चौधरी की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिये:—

"अब बची-खुची खेती हूँ खिसकन लागी।
चारहुँ दिसि लागी है महँगी की आगी।
सुनिये चिलायँ सब परजा भई भिखारी।
भागो भागो अब काल पड़ा है भारी।"

पं० नाथूराम शङ्कर शर्मा की निम्नलिखित पंक्तियों में भी भाषा-सम्बन्धी अव्यवस्था विद्यमान है:—

"लाल गुलाल उड़ाय कीच केशर की छिड़की।।
सबको नाच नचाय सुगति की खोली खिड़की।

+ + +

भङ्ग हुआ रस रङ्ग भयातुर हुल्लड़ भागा।
निरखि नर्त्तनागार छुपा रसराज अभागा।।"

पं० श्रीधर पाठक की कवित्वपूर्ण लेखनी का सम्पर्क पाकर भी खड़ी बोली की अस्त व्यस्तता नहीं की जा सकी:—

"ध्यान लगाकर जो देखो तुम सृष्टि की सुघराई को।

+ + +

सकल सृष्टि की सुघर सौम्य छवि एकत्रित तहाँ❀ छाई है।

+ + +

देखूँ मैं इन्हें मनुज-कुल नामकता का अधिकारी।"

❀तहँ

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी की खड़ी बोली की कविता भी साधु-भाषा के अभाव में लँगड़ाती हुई चलती है:—

"स्वामी की इस अनुकम्पा का अभिनन्दन कर शीश झुकाय।
रति नायक इस भाँति इन्द्र से बोला उसे अकेला पाय।
× × ×
विश्व-कर्त्तव्य कार्य तत्र क्या है मुझे होय आदेश।
× × ×
भृकुटी कुटिल कटाक्ष-पात से उसे सुन्दरी सुर बाला।
बांध डाल रक्खे वैसे ही पड़ा रहे वह चिरकाला।
× × ×
बिना कहे ही तुझको देगा वह सहायता इस काला।
× × ×
इससे वे अन्धे से होकर मरमरात पत्तों वाले।"

हिन्दी के आधुनिक कवियों में पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय कठिन और सरल दोनों प्रकार की भाषा लिखने के लिए प्रख्यात हैं। अधिकांश में कवि की भाषा का विशेष सम्बन्ध उसके विषय और छन्द-गत निर्वाचन से है। उदाहरण के लिए उनकी दो रचनाएँ यहाँ दी जाती हैं:—

(१) "रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय कलिका राकेन्दु बिम्बानना।
तन्वङ्गी कलहाँसिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला-पुत्तली।
शोभा-वारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्य लीलामयी।
श्रीराधा मृदुभाषिणी मृग-दगी माधुर्य्य सन्मूर्ति थीं।"

(२) "आँख का आंसू ढलकता देखकर,
जी तड़प कर के हमारा रह गया।

क्या गया मोती किसी का है बिखर
या हुआ पैदा रतन कोई नया ''

पं० श्रीधर पाठक की कविता की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। उपाध्याय जी की भाषा का उक्त दुरङ्गापन कुछ-कुछ उनकी भाषा में भी पाया जाता था। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियों देखिए:—

(१) बन्दे भारत देश मुदारम्।
सुषमा सदन सकल सुख सारम्।
बोध विनोद मोद आगारम्।
द्वेष दुरापद क्लेश कुठारम्।''

(२) ''प्राण पियारे की गुण गाथा साधु कहाँ तक मैं गाऊँ।
गाते-गाते चुके नहीं वह चाहे मैं ही चुक जाऊँ।''

बाबू मैथिलीशरण गुप्त की भाषा में न तो वे त्रुटियाँ अधिक मात्रा में हैं जो भारतेन्दु के समसामयिक अथवा परवर्त्ती कवियों की एक विशेषता रही है और न दुरङ्गापन ही उसमें कहीं उल्लेख-योग्य मात्रा में देखा जाता है।

'सरस्वती' में प्रकाशित होने वाली उनकी प्रारम्भिक रचनाओं से लेकर 'यशोधरा' तक की भाषा में प्रायः एकरूपता का दर्शन होता है। उदाहरण के लिए पाठक उनकी कतिपय पंक्तियाँ देखें:—

(१) ''तब वीर कर्ण समक्ष सत्वर उग्र साहसयुत हुआ,
उस काल दोनों में वहाँ पर युद्ध अति अद्भुत हुआ।''
—जयद्रथ-बध

(२) ''री लेखनी! हृत्पत्र पर लिखनी तुझे है यह कथा।
हृक्कालिमा में डूब कर तैयार होकर सर्वथा।''
—भारत-भारती

(२) "खोले मूँद प्रकृति पलक निज फिर दिन हो फिर रात।
परम-पुरुष तू परख हमारे घात और प्रतिघात।"
—झङ्कार

(४) "भू पर यत्र तत्र सर्वत्र, किया तुम्हीं ने एकच्छत्र।
तप कर पाये तो तत्व, सुख के और शांति के सत्व।"
—हिन्दू

(५) "दुस्तर क्या है उसे विश्व में प्राप्त जिसे प्रभु का प्रणिधान।
पार किया मकरालय मैंने उसे एक गोष्पद सा मान।"
—साकेत

(६) "अब कठोर हो वज्रादपि ओ कुसुमादपि सुकुमारी।
आर्य्यपुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी बारी।"
—यशोधरा

उक्त अवतरणों में रेखांकित शब्दों पर दृष्टिपात कीजिये। उनमें युत, रात, परख आदि ही थोड़े से शब्द तो तद्भव हैं; शेष सभी तत्सम हैं। गुप्त जी के 'भारत-भारती' नामक ग्रन्थ में तो जहाँ-तहाँ कर्णकटु तत्सम शब्दों का बाहुल्य भी देखने में आता है। उन्होंने तद्भव शब्दों के प्रयोग की ओर यदि यत्र-तत्र ध्यान दिया है तो प्रायः संकीर्ण स्थलों में, जहाँ उनकी तत्सम शब्द-विशिष्ट पदावली को यति अथवा तुक आदि की सुविधाओं के ख्याल से अपनी रास ढीली करनी पड़ती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि तद्भव शब्दों के विदग्धतापूर्ण प्रयोग के बिना कवि को भाषा पर अधिकार नहीं प्राप्त होता, भाषा कवि की चेरी होकर उसके भावों की वेधिनी शक्ति को विकसित नहीं होने देती।

गुप्तजी की काव्य-भाषा की उस त्रुटि की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है जो उन्हीं की नहीं, खड़ी बोली के अधिकांश कवियों की काव्य-भाषा की त्रुटि है। यह त्रुटि है, चलते महावरों के प्रयोग

का अभाव । ब्रजभाषा के कवियों ने महावरों का प्रयोग करके अपनी उक्तियों में अपूर्व चमत्कार और प्रभाव भर दिया है । उदाहरण के लिये सूर के कतिपय प्रयोगों को देखिये:—

१—"अब दुख मानि कहा धौं करिहौं-
हाथ रहैगी गारी ।"
२—"याको बिलग बहुत हम मान्यो
जब कहि पठयो धाइ ।"
३—"हम तौ रीझि लट्टू भईं लालन
महाप्रेम जिय जानि ।"

बिहारी का एक दोहार्द्ध केवल महावरे के प्रयोग से कितना प्राणान्वित हो गया है:

"देखत बने न देखत बिन देख अकुलाई ।

पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय ही खड़ी बोली के एक ऐसे कवि हैं, जिन्होंने महावरों के प्रयोग की ओर, उचित मात्रा में, ध्यान देने की चेष्टा की है । उनकी निम्नलिखित अन्यथा-साधारण पंक्तियों में महावरों के प्रयोग ने कितनी जान डाल दी है, पाठक देखें:—

"कुछ बनाये नहीं बनी अब तक ।
जान पर आ बनी बचा न सके ।
हम कहें क्या तपाक की बातें ।
आप की राह ताक ताक थके ।
हम बड़े ही बखेड़िये होंवे ।
आप यों मत उखेड़िये बखिये ।
पास करना अगर पसन्द नहीं ।
गाह गाहे निगाह तो रखिये ।

महावरों का प्रयोग अभिव्यक्ति की सरलता और प्रभावशालिता का कितना सुन्दर साधन है, यह उक्त पंक्तियों से स्वयं प्रकट है। ऊँची कल्पना शक्ति और गहरी अनुभूति यदि काव्य-पुरुष के मन और प्राण हैं, तो महावरों के सुन्दर प्रयोगों से विभूषित पदावली उसका स्वस्थ शरीर है। संसार-यात्रा में मन और प्राण की ऊँची उमंगें तभी पूरी हो सकती हैं जब शरीर भी पुष्ट हो। गुप्तजी को यह असुविधा अवश्य ही रही है कि खड़ी बोली उन्हें अपरिमार्जित रूप ही में प्राप्त हुई। जो हो यह तो कहा जा सकता है कि छायावादी कवियों की अपेक्षा उन्होंने महावरों का अधिक ही प्रयोग किया है। महावरों से सुभूषित उनकी कतिपय पंक्तियाँ देखिए:—

१—'चन्द्रकांत मणियाँ हटा पत्थर मुझे न मार'।
—साकेत

२—'और जमाना चाहा उसने
उनके अधिकारों में पाँव'।
—गुरुकुल

३—'किसी ओर ग्रीवा मोड़ो'।
कन्धे से कन्धा जोड़ो'।
—वैतालिक

४—'अपना पानी भी नहीं
रखता अपनी बात'।
—साकेत

महावरों के प्रयोग अथवा अप्रयोग से काव्य में कितनी शक्ति का विकास हो जाता है, अथवा उनमें कितनी कमी रह जाती है, इसे गुप्तजी की पंक्तियों में भी पाठक देख सकते हैं। नीचे उनकी कुछ ऐसी पंक्तियाँ दी जाती हैं; जिनमें महावरों का भी प्रयोग किया जा सकता था, किन्तु किया नहीं गया:—

१—'छोड़ धाम धन जाकर मैं भी रहूँ उसी वन में'।
२—'करने लगे परिश्रम मिलकर हम दोनों जी तोड़'।
३—'शांत रही न महामारी भी पाकर योग उमङ्ग'।

गुप्तजी के काव्य में महावरों के कम प्रयोग से सौन्दर्य की कितनी कमी रह गयी है, इसका अन्दाज लगाने के लिये मैं पाठकों के सामने मन्थरा कैकयी का प्रसङ्ग उपस्थित करता हूँ। दोनों की तुलना करके वे देखें कि महावरों ने तुलसीदास जी की पंक्तियों को कितना सरस बना दिया है, और उसके अभाव से गुप्तजी की भाषा में किस हद तक स्वभाविकता का ह्रास होगया है। उक्त प्रसङ्ग में तुलसीदास की महावरेदार चौपाइयाँ निम्नलिखित हैं:—

(१) 'देखि लागि मधु कुटिल किराती।
जिमि गौ तकै लेउँ केहि भाँती'।
(२) 'उत्तर देइ न लेइ उसासू।
नारि चरित करि ढारति आँसू'।
(३) 'कत सिख देइ हमहिं कोउ माई।
गाल करब केहि कर बल पाई'।
(४) 'का सोवति सुहाग अभिमानी।
निकट महाभय तू न डरानी।
(५) 'भा कौशिल्यहिं विधि अति दाहिन।
देखत गर्व रहत उर नाहिन'।
(६) 'हमहुँ कहब अब ठकुरसुहाती।
नाहिंत मौन रहब दिन राती'।
(७) 'करि कुरूप विधि परबश कीन्हा।
बुवा सो लुनिय लहिय जो दीन्हा'।

(८) 'जरि तुम्हारि चह सवति उखारी ।
रूधहुँ करि उपाय बर बारी' ।
(९) 'चतुर गँभीर राम महँतारी ।
बीच पाइ निज काम सँवारी ।'
(१०) 'रेखा खैंचि कहौं बल भाखी ।
भामिनि भइउ दूध की माखी' ।
(११) 'सुनु मंथरा बात फुर तोरी ।
दहिन आँखि नित फरकति मोरी' ।
(१२) 'नैहर जनम भरब बरु जाई ।
जियत न करब सवति सेवकाई' ।
(१३) 'दुई बरदान भूप सन थाती ।
माँगहु आज जुड़ावहु छाती' ।
(१४) 'जौ विधि पुरब मनोरथ काली ।
करहुँ तोहिं चख पूतरि आली' ।

तुलसीदास जी की इन पक्तियों में से रेखांकित महावरों को निकाल दीजिये और तब देखिये कि उनमें कितना प्राण शेष रह जाता है ।

गुप्तजी ने उक्त मन्थरा-कैकेयी-प्रसङ्ग के वर्णन में लगभग दो सौ पंक्तियां लिखी हैं, किन्तु उनकी केवल निम्न-लिखित पंक्तियां ही महावरों से भूषित हैं:—

१—'कहा दासी ने धीरज त्याग ।
लगे इस मेरे मुँह में आग' ।
२—'ठोक कर अपना क्रूर कपाल ।
जताकर यही कि फूटा भाल' ।
३—'उड़ाती है तू घर में कीच ।
नीच ही होते हैं बस नीच' ।

४—'जानकर अबला अपना जाल।
दिया है उस सरला पर डाल।
५—'भरत की माँ हो गयी अधीर।
क्षोभ से जलने लगा शरीर'।

मुहावरों की कमी के सिवा गुप्तजी की रचनाओं की भाषा में एक त्रुटि और है। वह पड़ोस के समाज में प्रचलित फारसी, अरबी के शब्दों का संस्कार करके उन्हें आत्मसात् करना नहीं जानती। यह विशेषता सभी अच्छे कवियों की भाषा में देखी जाती है। थोड़े से उदाहरण लीजिए:—

१—'खातूने खाना तो हों सभा की परी न हों'।
—अकबर

२—'देवता बिगड़े तो फिर सरकार इसको क्या करे'।
—अकबर

३—'सुनहु सूर हम सों हठ मांड़ति कौन नफा करि लैहो।'
—सूर

४—'गई बहोरि गरीब नेवाजू।
सरलसबल साहेब रघुराजू।'
—तुलसी

५—'स्तन मन नयन नितम्ब को, मनहुँ इजाफा कीन।'
—बिहारी

निस्सन्देह, निम्न-लिखित पंक्तियों में गुप्तजी ने उर्दू बोली के कुछ शब्दों का प्रयोग किया है:—

"जमींदार ने कहा कि "सुन लो, कहते हैं हम साफ।
अब की बार फसल फिर बिगड़े या लगान हो माफ।

पर हम जिम्मेदार नहीं हैं, छोड़ेंगे न छदाम।
जो तुमको मंजूर न हो तो देखो अपना काम।
हुक्म हुआ फिर मगर कबूलत होगी फिर बेकार।
इन्दुलतलब नाम का रुक्का लिखा गया लाचार।”

ये पंक्तियाँ ‘किसान’ नामक काव्य की हैं और इसमें रेखाङ्कित शब्दों का जिस स्वतन्त्रता से उपयोग किया गया है वह उस प्रसङ्ग की उत्पत्ति है जिसमें उक्त पंक्तियाँ लिखी गयी हैं। अदालती वातावरण का जहाँ सर्वथा अभाव है जहाँ कवित्व का प्रवाह प्रगतिशील है तथा जहाँ तत्सम शब्दों के प्रयोग के लिए पूर्ण अवकाश है, वहाँ पर भाषा के शब्दों का सौन्दर्य-वृद्धिकारक प्रयोग करने की ओर उन्होंने अधिकांश में ध्यान नहीं दिया है।

फारसी, अरबी के शब्दों को हिन्दी काव्य में यदि गुप्तजी ने कहीं खपाया है तो उनका रूप हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल करके; उदाहरण के लिए—

“धसकने सी लगी नीचे धरा भी।
पसीजी पर न पाषाणी जरा भी।”

किन्तु जब हम फारसी और अरबी के शब्दों को संस्कृत करके गृहीत करने की सिफारिश करते हैं, तो इसका यह अर्थ नहीं कि हम साहित्य में हिन्दुस्तानी एकेडेमी के भू० पू० सेक्रेटरी डाक्टर ताराचन्द की खिचड़ी भाषा के निम्न-लिखित आदर्श को स्वीकार कर रहे हैं:—

“बड़ी हद तक यह काम शायर और अदीब, कवि और लेखक कर सकते हैं, वह नहीं जो लफ्जों के आडम्बर रचते हैं, लेकिन वह जिनके लिए कहा है कि शायरी का दरजा पयम्बरी है। अफसोस है, इस वक्त ऐसे शायर और अदीब कम हैं जिनका कोई पयाम हो❀।”

❀एकेडेमी के कारफरमाओं की खिदमत में इस कदर अर्ज करने की जरअत करता हूँ कि जब एकेडमी ने हिन्दुस्तानी का लकब अख्तियार

इस खिचड़ी भाषा को प्रचलित करने का उद्योग जितना व्यर्थ है, उतना ही वह इस देश के भविष्य के प्रति द्रोह सूचक और अहित-कारक है। राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द इस प्रकार का असफल प्रयत्न कर चुके हैं, और यदि शिवप्रसादी भाषा अनुकूल समय में पनप न सकी तो हिन्दी के वर्त्तमान उत्थानकाल में ताराचन्दी ज़बान को भी हमारे वर्त्तमान कवि और लेखक अपना नहीं सकते, भले ही डा० ताराचन्द उन्हें 'पयंबरी' का दरजा न दे सकें। हिन्दुस्तानी एकेडेमी जैसी सरकारी संस्थाओं के अतिरिक्त हिन्दू-मुस्लिम एकता की हिमायती राजनैतिक संस्थाएँ भी उक्त ताराचन्दी ज़बान के प्रचार में संलग्न देखी जाती हैं। हिन्दी लेखकों और कवियों को कठिन भाषा के उपासक रूप में प्रचलित करने का इन संस्थाओं ने एक फैशन-सा प्रचलित कर दिया है। इस सम्बन्ध में गुप्तजी का निम्न-लिखित कथन सर्वथा युक्ति-युक्त है:—

"जो शब्द भिन्न भाषाओं के होने पर भी हमारी भाषा में मिल गये हैं वे हमारे ही हो गये हैं। परन्तु यह अवश्य कहा जायगा कि उनके सामने, उसी अर्थ के, अपने शब्दों को अशिष्ट समझना हमारे मन की नहीं तो कानों की गुलामी ज़रूर है। आजकल राजनीति की सभाओं में बहुधा एक बात देखी जाती है। वह हिन्दी शब्दों का चुन-चुन कर बहिष्कार और उनके बदले उर्दू फारसी के अलफाज का प्रचार। हिन्दी के हित चिन्तकों को सावधान हो जाना चाहिए। अपनी भाषा को छोड़ कर हम अपने भावों की रक्षा नहीं कर सकते।"

किया है और हिन्दुस्तानी के रवाज का बीड़ा उठाया है तो क्यों कुछ किताबें अब तक ऐसी तालीफ नहीं करायी गयीं और कोई ऐसा रिसाला नहीं शाया किया गया जो हिन्दुस्तानी ज़बान में और बजिंसहू बग़ैर किसी तग़ैयुर व तब्दीली के दोनों रस्म ख़त में लिखा जा सके।

—मौलवी अब्दुल हक़, सभापति चतुर्थ सम्मेलन
हिन्दुस्तानी एकेडमी, उर्दू विभाग।

प्रान्तीय बोलियों के उपयुक्त शब्दों के समावेश के सम्बन्ध में वे "गुरुकुल" में लिखते हैं:—

"बोलचाल की भाषा की कविता का शब्द-भण्डार भरने में अपनी प्रान्तिक भाषाओं से भी सहायता लेकर हमें उनसे सम्बन्ध-सूत्र बनाये रखना उचित जान पड़ता है। ब्रज, बुन्देलखंडी, और अवधी की तो बात ही जाने दीजिए, उन्हें तो हम लोग अपने घरों और गावों में नित्य बोलते ही हैं, लेखक की राय में तो अन्य प्रान्तिक भाषाओं में से भी हमें शब्द "जोगाड़" करते हुए "सिहरने" के बदले "विभोर" ही होना चाहिए।

× × ×

"हमारी प्रान्तिक बोलियों में कभी-कभी ऐसे अर्थ पूर्ण शब्द मिल जाते हैं, जिनके पर्य्याय हिन्दी में नहीं मिलते। जब हम अरबी, फारसी और अंग्रेजी के शब्द निस्संकोच भाव से स्वीकार करते हैं तब आवश्यक होने पर अपनी प्रान्तीय भाषाओं से उपयुक्त शब्द ग्रहण करने में हमें क्यों संकोच होना चाहिए।"

भाषा के घर का द्वार सदा उन्मुक्त रहना चाहिए; उसमें पड़ोसी भी आ सकते हैं, विदेशी भी आकर रह सकते हैं; किन्तु घर के अधिकारियों का कर्त्तव्य है कि वे पड़ोसियों और विदेशियों, सभी को, घर की मूल प्रकृति में तन्मय कर लें। "औज" ऐसे शब्दों का तो स्वागत किया जा सकता है; किन्तु "अञ्झड़" ऐसे शब्दों के प्रयोग से दुरूहता बढ़ेगी। गुप्तजी के द्वारा इन शब्दों का प्रयोग देखिए:—

१—"चली न उनकी एक चाल भी।
बिगड़ गयी उनकी सब औज" ॥
२—'तोड़ मरोड़ उखाड़ पछाड़े।
बड़े बड़े बहु अञ्झड़ झाड़' ॥

'झाड़' के साथ लगे रहने के साथ भले ही हम 'अञ्झड़' का अर्थ समझ जायँ। अन्यथा तो विभिन्न प्रान्तों के लोगों के लिए वे

६

नीरसता-वर्द्धक ही होंगे । अतएव प्रान्तीय बोलियों के शब्दों को ग्रहण करने में कुछ सावधानी की आवश्यकता है ।

गुप्तजी की खड़ी बोली के कुछ चिन्त्य नीचे दिये जाते हैं:—

(१) 'आर्य का औदास्य यह अवलोक,
सहम सा मेरा गया पितृ शोक' ।
(२) 'मैं अनुगृहीत हूँ अधिक कहूँ क्या देवी ।
'निज जन्म जन्म में रहूँ सदा पद सेवी ।
(३) 'जब तक जाय प्रणाम किया,
माँ ने आशीर्वाद दिया' ।
(४) 'इन्द्रवधू आने लगी क्यों निज स्वर्ग विहाय ।
(५) भर भर कर भीति भरी अँखियाँ' ।

इस निबन्ध में गुप्तजी की भाषा के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है, उसका सारांश यह है कि भाषा के क्षेत्र में भी गुप्तजी की लेखनी हिन्दू संस्कारों में पूर्णतया दीक्षित है । दोषों के होते हुए भी उनकी भाषा हिन्दी के अन्य कवियों की भाषा की अपेक्षा वर्त्तमान हिन्दी काव्य की हिन्दू संस्कार सम्पन्न आदर्श भाषा के सबसे अधिक निकट है । इसमें सन्देह नहीं कि उनकी सर्वाधिक लोकप्रियता का एक प्रधान कारण उनकी भाषा है ।

—:o:—

६—गुप्तजी की शैली

किसी मनुष्य में सरलता होती है, किसी में कृत्रिमता, कोई मनसा, वाचा, कर्मणा एकरस होता है, कोई प्रदर्शनप्रिय होता है । व्यक्तित्व की ये विशेषताएँ जैसी भीतर होती हैं वैसी ही भाव-भङ्गी लेकर बाहर भी प्रकट होती हैं । भावों के व्यक्त होने पर रचना का जो एक स्वरूप स्थिर होता है उसी को शैली कहते हैं ।

गुप्तजी के कवि व्यक्तित्व का हम कुछ विश्लेषण कर चुके हैं। यह व्यक्तित्व काव्य में जिस रूप में प्रवाहित हुआ है; उसी को हम उनकी शैली कहेंगे। उनकी कृतियों में हम चार शैलियों का दर्शन करते हैं—(१) उपदेशात्मक शैली; (२) गीतकाव्यात्मक शैली; (३) नाट्यात्मक शैली; (४) प्रबन्धात्मक शैली। यहाँ इन शैलियों के सम्बन्ध में कुछ निवेदन किया जायगा।

गुप्तजी की उपदेशात्मक शैली के दो भेद किये जा सकते हैं; (१) साधारण: (२) अलंकृत। इस शैली का साधारण स्वरूप कहीं इतना साधारण हो जाता है कि वह पद्य-रचना की कोटि में आ जाता है। 'रंग में भंग', 'जयद्रथ बध', 'हिन्दू', 'गुरुकुल' आदि अनेक ग्रन्थों में अलंकृत शैली के साथ-साथ इस साधारण शैली के दर्शन होते हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियों को देखिए:—

(१) "उस विशाल बरात का बैभव बताना व्यर्थ है।
जान सकते सब जिसे उसका जताना व्यर्थ है।"

—रंग में भंग

२) "यह अति अपूर्व कथा हमारे ध्यान देने योग्य है।
जिस विषय से सम्बन्ध हो वह जान लेने योग्य है।
अतएव कुछ आभास इसका है दिया जाता यहाँ।
अनुमान थोड़े से बहुत का है किया जाता यहाँ।"

—जयद्रथ-वध

(३) "हे ब्राह्मणों फिर पूर्वजों के तुल्य तुम ज्ञानी बनो।
भूलो न अनुपम आत्म-गौरव धर्म के ध्यानी बनो।
क्षत्रिय उठो अब तो कुयश की कालिमा को मेट दो।
निज देश को जीवन-सहित तन मन तथा धन भेंट दो!"

—भारत-भारती

(४) "राजद्रोही कहे गये गुरु भरकर झूठी साची साख।
सुनी गयी उनकी न एक भी दण्ड हुआ उन पर दो लाख।

समझा गुरु ने अविचारी को दो कौड़ी भी देना पाप ।
सहा उसे धीरज से जो कुछ दिया गया उनको संताप ।"

—गुरुकुल

(५) "इसका नहीं हमें कुछ खेद !
मिट जावे आपस का भेद ।
रक्खो हिन्दूपन का गर्व ।
यही ऐक्य के साधन सर्व ।
हिन्दू निज संस्कृत का त्राण ।
करो भले ही दे दो प्राण ।"

—हिन्दू

पिछले ग्रन्थ, 'हिन्दू' की भूमिका में गुप्तजी ने लिखा है:—

यदि हम किसी निबन्ध की एक एक पंक्ति में रस खोजने लगेंगे तो काव्यों की तो बात ही क्या, महाकाव्यों को भी अपना स्थान छोड़ने के लिये बाध्य होना पड़ेगा। एक एक पत्ते में फूल खोजने की चेष्टा व्यर्थ होगी और ऐसे फूलों का कोई मूल्य भी न रह जायगा। फूल के साथ पत्ती भी रहती ही है और सच पूछिए तो पत्तियों के बीच ही वह 'खिलता' है।"

निस्सन्देह, प्रबन्ध काव्यों की एक-एक पंक्ति में रस खोजना व्यर्थ है; हर पत्ती में फूल नहीं मिल सकता। किन्तु ऐसा भी न होना चाहिए कि पत्तियाँ ही पत्तियाँ मिलें और फूल के दर्शन ही दुर्लभ हो जायँ। 'जयद्रथ वध' आदि में तो अन्य शैलियों का समावेश भी है, किन्तु 'हिंदू' में तो आदि से अन्त तक साधारण शैली ही का दौरदौरा है। गुप्तजी में कवित्व की कमी नहीं है, किन्तु समाज-सेवा की धुन में वे किसी-किसी रचना को अपनी प्रतिभा का पूर्ण उपयोग नहीं प्रदान कर सके हैं।

अलंकृत उपदेशात्मक शैली में उपदेश के विद्यमान रहते हुए भी उसकी अभिव्यक्ति के ढङ्ग में कुछ सौन्दर्य्य और सरसता का समावेश

हो गया है, जिससे ऐसे स्थलों में कवित्व की रक्षा सम्भव हुई है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए:—

(१) "मैं कैसा हो रहा हूँ इस अवसर में घोर आश्चर्य-लीन।
देखा है आज मैंने अचल चल हुआ सिन्धु संस्था विहीन।
देखा है, क्या कहूँ मैं निपतित नभ से इन्द्र का आज छत्र।
देखा है, और भी हाँ, अकबर कर में आपका संधि-पत्र।"

—पत्रावली

(२) "अम्बुज भी हैं खिले हुए।
हेला से कुछ हिले हुए।
रहते हैं वे जल पर यों।
कि तुम रहो भूतल पर ज्यों।"

—वैतालिक

गुप्तजी की गीति-काव्यात्मक शैली 'झङ्कार' के गीतों और उर्मिला के विषाद-वर्णन में दिखलायी पड़ती है। इस शैली में भी कहीं कहीं साधारणता और कहीं-कहीं अलंकृति के दर्शन होते हैं। नीचे की पंक्तियाँ देखिए:—

(१) "जीव, हुई है तुझको भ्रांति।
शान्ति नहीं यह तो है श्रान्ति।"

× × ×

अपने आप घिरा बैठा है
तू छोटे से घेरे में
नहीं ऊबता है क्या तेरा
जी भी इस अँधेरे में'।

(२) "मैं निहत्था जा रहा हूँ इस अँधेरी रात में।
हिंस्र जीव लगे हुए हैं प्राणियों की घात में।

गूँजती गिरि-गह्वरों में गर्जना है।
विषम पथ में गर्जना है तर्जना है।

× × ×

विमुख करने की मुझे क्या शक्ति है उत्पात में।
मैं निहत्था जा रहा हूँ इस अँधेरी रात में।"

—झङ्कार

(३) "पूछी थी सुकाल दशा मैंने आज देवर से—
कैसी हुई उपज कपास ईख धान की?
बोले—"इस बार देवि, देखने में भूमि पर
दुगुनी दया सी हुई इन्द्र भगवान की।
पूछा यही मैंने एक ग्राम में तो कर्षकों ने
अन्न गुड़ गोरस की वृद्धि की बखान की।
किन्तु, 'स्वाद कैसा है, न जाने इस वर्ष हाय!'
यह कह रोई एक अबला किसान की।

—साकेत

इन तीनों अवतरणों में से प्रथम में साधारणता आने का कारण यह है कि जीव को कवि ने जीव ही लिखा, उसे किसी मनोहर संकेत के भीतर जकड़ कर नहीं रक्खा। शेष दोनों में अलंकृत गीतिकाव्यात्मक शैली विद्यमान है। तीसरा अवतरण उर्मिला के आँसुओं की अनवरत धारा का लक्ष्य मात्र करता है, और उसके विचित्र प्रभाव को देखकर हम चमत्कृत रह जाते हैं।

गुप्तजी की तीसरी शैली है नाट्य-शैली, जो सबसे अधिक निष्फल है। वास्तव में उनकी प्रतिभा नाटक-रचना के सर्वथा अनुपयुक्त है। उनके तीन नाटकों में से किसी में भी गति नहीं है, परिणाम-सम्बन्धी उत्कंठा उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है।

गुप्तजी की चौथी शैली है प्रबन्धात्मक शैली, जिसमें उनको विशेष कृतकार्य्यता प्राप्त हुई है। इस शैली में उन्हें चरित्र-सृष्टि का कौशल दिखलाने का अवसर मिला है। चरित्र-सृष्टि के परदे में, घटना-प्रवाह के सिलसिले में कवि जिन भावों और विचारों को व्यक्त करने की कोशिश करता है, उनमें एक अद्भुत सौन्दर्य्य आ जाता है। इस शैली का अनुसरण करके उन्होंने कुछ ऐसे चरित्र हमारे सामने रख दिये हैं जिनके जीवन से हम अपने जीवन का आदर्श प्राप्त कर सकते हैं। रामचन्द्र, सीता, कैकेयी, लक्ष्मण, यशोधरा मघ आदि चरित्र विचारों के एक पुञ्ज हैं, जो विविध मानवी व्यापारों के बीच चित्रित होकर भिन्न-भिन्न जटिल समस्याओं का एक हल हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं।

गुप्तजी की इन विभिन्न शैलियों के प्रवाह में हमें वर्त्तमान ईसवी शताब्दी के विविध तरङ्गित काव्य-प्रवाह का दर्शन हो जाता है। 'सरस्वती' के आरम्भ के वर्षों में छपने वाली कविताओं पर एक दृष्टि डाली जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि उन दिनों अधिकांश में ऐसी ही कविताएँ लिखी जाती थीं जिनमें विषय का वर्णन अन्य पुरुष में होता था। गुप्तजी के काव्य-काल के प्रारम्भिक कुछ वर्ष इस शैली के अनुसरण में व्यतीत हुए। इस शताब्दी के द्वितीय दर्शक में प्रथम पुरुष में लिखी गई कविताओं का प्रचार बढ़ने लगा। गुप्तजी की यह प्रवृत्ति रही है कि उन्होंने समय की आवश्यकताओं और प्रवृत्तियों को देखकर काम किया है और जब उन्होंने देखा कि लोग बाह्य जगत के वर्णनों से ऊबकर अन्तर्जगत की पैठ अधिक मात्रा में चाहने लगे हैं तो उन्होंने उस ओर भी कदम बढ़ाया। 'रङ्ग में भङ्ग' 'जयद्रथ-बध' 'भारत भारती' यदि प्रथम शैली में लिखी गई हैं तो झंकार के गीत द्वितीय शैली की ओर कवि के आकर्षित होने की सूचना देते हैं। समय की प्रगति तथा पाठक-मण्डली में गीति-काव्य के प्रति अधिक रुचि बढ़ती जाने के कारण गुप्तजी में भी यह प्रवृत्ति अधिकाधिक मात्रा में विकसित होती गयी। इस

विकास ही का परिणाम है कि साकेत में पूरा का पूरा नवम सर्ग हम गीतों की एक क्रम-बद्ध लड़ी के रूप में पाते हैं। किन्तु 'साकेत' में फिर भी कवि के हाथ पैर प्रबन्ध की जटिलताओं में जकड़े हुए थे; 'यशोधरा' में इस बाधा के कम होने के कारण उसमें गीति-रचना ही को अधिक अवकाश मिला है। स्मरण रहे कि छायावादी कविताओं की बाढ़ के रूप में प्रगट होने वाली गीति-काव्योन्मुखी प्रवृत्ति का तृतीय दशक में उत्तरोत्तर विकास होता चला है। गुप्तजी की हाल की रचना 'द्वापर' में तो केवल ऐसे चरित्रों का चित्रण है जो अपने ही हृदय के भावों को व्यक्त करते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नाट्यशैली को छोड़कर अन्य अनेक शैलियों पर गुप्तजी का अधिकार है और प्रबन्ध-काव्य तथा गीति काव्य दोनों ही शैलियों में उन्हें सफलता मिली है।

१०--गुप्तजी का छन्द-निर्वाचन

भारतेन्दु के पूर्ववर्ती तथा तुलसी और सूर आदि के परवर्त्ती कवियों ने अधिकांश में एक घिरे हुए वृत्त के भीतर घूमना शुरू किया था और उसमें उनके लिए छन्दों की तलाश भी आवश्यक नहीं थी। बाप-दादों ने राधा कृष्ण के सुमिरन के रूप में एक अपरिवर्त्तनीय अनुपम विषय दे ही रक्खा था। साथ ही, दोहा, सवैया, कवित्त आदि छन्द भी निर्दिष्ट ही से थे। ऐसी अवस्था में उन्हें हाथ पैर हिलाने की आवश्यकता नहीं थी; प्राप्त सम्पत्ति का उपभोग मात्र करने की उन्हें आवश्यकता थी और यही उन्होंने किया।

किन्तु जब भारतेन्दु ने एक नवीन विषय का प्रवेश कर दिया तब उसे व्यक्त करने वाले नवीन छन्द और नवीन भाषा की भी खोज शुरू हो गयी। देशभक्ति की कविताओं के लिए खड़ी बोली में जो

अनुकूलता दिखाई पड़ी वह ब्रजभाषा में नहीं थी। किसी समय ब्रजभाषा भी राष्ट्रीय एकता की सूचक थी, किन्तु धीरे-धीरे इस आसन पर खड़ी बोली आसीन हुई। प्राचीन छन्दों में अभी खड़ी बोली का संस्कार नहीं हुआ था, दूसरी ओर खड़ी बोली का एक रूप उर्दू के नाम से क्रियाशील था और जनता का उसके प्रति आकर्षण भी कम नहीं था। अतएव उसी के अभ्यस्त, मँजे हुए छन्दों से आदर्श लेकर अथवा उसी के छन्दों को लेकर हिन्दी के कवि राष्ट्रोद्धार के कार्य्य में लगे। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियों को देखिये:—

(१) "हुआ प्रबुद्ध बुद्ध भारत निज आरत दिशा निशा का।
समझ अन्त अतिशय प्रमुदित हो तनिक तब उसने ताका"।
—बदरीनारायण चौधरी

(२) "विवादी बढ़े हैं यहाँ कैसे कैसे।
कलाम आते हैं दरमिआँ कैसे कैसे।
जहाँ देखिए मलेच्छ सेना के हाथों।
मिटे नामियों के निशाँ कैसे कैसे।
बसो मूर्खते देवि आर्य्यों के जी में।
तुम्हारे लिए हैं मकाँ कैसे कैसे"।
—प्रतापनारायण मिश्र

(३) "बुढ़ापा नातवानी ला रहा है।
जमाना जिन्दगी का जा रहा है।
किया क्या खाक? आगे क्या करेगा?
अखीरी वक्त दौड़ा आ रहा है।"
—पं० नाथूराम शङ्कर

(४) "कहीं पै स्वर्गीय कोई बाला सुमंजु बीणा बजा रही है।
सुरों के सङ्गीत की सी कैसी सुरीली गुंजार आ रही है।

हरेक स्वर में नवीनता है, हरेक पद में प्रवीनता है।
निराली लय है और लीनता है अलाप अद्‌भुत मिला रही है।
—पं० श्रीधर पाठक

"चाँद और सूरज गगन में घूमते हैं रात दिन।
तेज औ तम से दिसा होती है उजली औ मलिन।"
—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय

उक्त अवतरणों में से पहले अवतरण का छन्द हिन्दी पिङ्गल का ललित पद है, किन्तु अरबी फारसी के बह्रों में दीर्घ को ह्रस्व पढ़कर शब्दों के अक्षरों को विकृत रूप में पढ़ने की जो प्रवृत्ति पायी जाती है, वह इसमें मौजूद है।

दूसरे अवतरण में जिस बह्र का अनुसरण किया गया है वह है:—

फ़ऊलुन्	फ़ऊलुन	फ़ऊलुन्	फ़ऊलुन्
ISS	ISS	ISS	ISS

हिन्दी पिङ्गल में इसे 'पीयूष वर्ष' छंद कह सकते हैं।

तीसरे अवतरण की बह्र इस प्रकार है:—

मफ़ाईलुन्	मफ़ाईलुन्	फ़ाऊलुन्
ISSS	ISSS	ISS

यह हिन्दी के सुमेरु छंद के समकक्ष है।

चौथे अवतरण की बह्र इस प्रकार है:—

फ़ऊल	फेलुन्	फ़ऊल	फेलुन्
ISI	SS	ISI	SS

यह हिंदी के 'यशोदा' छंद का समवर्त्ती है।

पाँचवें अवतरण की बह्र इस प्रकार है:—

मुस्तफ़ईलुन्	मुस्तफ़ईलुन्	मुस्तफ़ईलुन्	मुस्तफ़ईलुन्।
SS	SSIS	SSIS	SSIS

यह हिन्दी के गीतिका छन्द की जोड़ का है, जिसका चौदह और बारह मात्राओं पर विराम होता है।

द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पंचम अवतरण का छन्द, उर्दू छन्द-शास्त्र के अनुसार, गजल है। गजल के प्रथम और द्वितीय चरण सम होते हैं; तृतीय, पंचम, सप्तम और नवम चरण विषम होते हैं, और चतुर्थ, षष्ट, तथा अष्टम चरणों का रदीफ और काफिया प्रथम चरण का अनुसरण करता है। प्रायः ग्यारह चरणों में गजल समाप्त हो जाता है।

यों तो हिन्दी और उर्दू कवियों का सम्पर्क मुस्लिम शासकों के दर्बार में प्रायः हो जाता था और दोनों ही एक दूसरे की ओर आकर्षण का अनुभव करते थे। यह आकर्षण और इसके परिणाम-स्वरूप होने वाले आदान प्रदान में कोई अनौचित्य नहीं है। आरम्भ में अगर कुछ बेढङ्गी नकल भी हो तो कोई हर्ज की बात नहीं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर पं० श्रीधर पाठक तक अनेक कवियों ने जो गजलें लिखी हैं, उनके तत्सम हिन्दी शब्दों की जगह अगर अरबी फारसी के शब्द रख दिये जायँ तो इनमें भाषा और छन्द की दृष्टि से ऐसी एक भी बात न रह जायगी जिसे हम अपनी कह सकें। संक्षेप में कहने का मतलब यह है कि गजलों के अनुसरण के रूप में खड़ी बोली काव्य के आधुनिक प्रवर्त्तकों ने जो कूड़ा कचरा हिन्दी छन्दः शास्त्रियों के सामने रख दिया, उसे साफ करके एक नया माल परवर्ती कवियों ने अपनी गोदाम में रक्खा। इस माल की सफाई में गुप्तजी का भी कुछ हाथ रहा है।

गुप्तजी ने गजल का भी कुछ अधिक उपयोग तो हिन्दी में नहीं किया, 'भारत-भारती' के अन्त में भगवान् से एक प्रार्थना की है; वही उनकी एक मात्र गजल है, जिसे उन्होंने सोहनी का नाम दे दिया है। इस सोहनी की भाषा और शैली देखियेः—

"इस देश को हे दीनबन्धो ! आप अपनाइये,
भगवान भारतवर्ष को फिर पुण्य-भूमि बनाइये।

× × ×

माँ शंकरी ! तू अन्नपूर्णा और हम भूखों मरें,
हेरम्ब से कह दो हमें अब तो न और सताइए।

इस तरह की विशुद्ध हिंदी भाषा में लिखित एक भी गजल हमारे देखने में नहीं आया। निस्सन्देह उर्दू बह्रों में पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय से अधिक कविता किसी भी हिंदी कवि ने नहीं लिखी है और उनके उद्योग से ये बह्र भी अपना विदेशीपन त्याग कर हिन्दी पिंगल में बैठने की जगह पा गये; किन्तु जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है वहाँ तक उनके ऐसे पद्यों पर प्रायः उर्दू की छाप लगी दिखाई पड़ती है। निम्नलिखित पंक्तियाँ देखियेः—

(१) "नागहानी से बचो धीरे बहो।
है उमंगों से भरा उनका जिगर।
यों उमड़ कर आँसुओ ! सच्ची कहो।
किस खुशी की आज लाये हो खबर।

(२) "रंग क्यों इतना निराला कर लिया।
है नहीं अच्छा तुम्हारा ढंग यह।
आँसुओ ! अब छोड़ तुमने दिल दिया।
किसलिए करते हो फिर दिल में जगह।'

दूसरे पद्य में 'हो' दीर्घ है; किन्तु उसे ह्रस्व करके पढ़ना पड़ता है। उपाध्याय जी के ऐसे पद्यों में कहीं-कहीं यह आवश्यकता बनी रह जाती है। गुप्तजी की सोहनी इन सब त्रुटियों से सर्वथा मुक्त है।

गुप्तजी ने छन्द-निर्वाचन के क्षेत्र में उर्दू बह्रों की ओर विशेष ध्यान न देकर अपने ही यहाँ के छंदों को नवीन रूप में ग्रहण करके उन्हें आकर्षक बनाने का प्रयत्न किया है।

काव्य की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसकी अभिव्यक्ति भी उसके अनुरूप हो। मोटे आदमी के लिये तंग और पतले आदमी के लिये चौड़ा कोट ठीक नहीं हो सकता। उसमें सौन्दर्य और प्रभाव दोनों का ह्रास होता है। गुप्तजी हिन्दू संस्कृति को लेकर अपने रचना-कार्य में अग्रसर हुए हैं, अतएव उर्दू के बह्रों को अपनाने की ओर वे स्वभावतः प्रवृत्त नहीं हुए। किन्तु सम्भव है, हरिऔध जी की तरह फारसी और उर्दू के संस्कारों से सम्पन्न होने की अवस्था में वे उर्दू के बह्रों में लिखित काव्य में भी हिन्दू संस्कृति का प्रचार करते। जो हो, गुप्त जी के प्रयुक्त छन्दों पर एक दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है।

गुप्तजी ने वर्णवृत्त और मात्रिक दोनों ही तरह के छन्दों में लिखने का प्रयास किया है। सन् १९०५ की 'सरस्वती' में प्रकाशित उनकी 'हेमन्त' शीषक कविता में 'वंशस्थ विलम्' और इन्द्रवंशा का संयोग किया गया है। कुछ पंक्तियाँ देखियेः—

"वियोगिनी वाम महा मलीन।
होतीं दिशाएँ सब दीप्ति हीन।
अम्भोज सारे बिन पत्र क्षीण।
भुजंग होते बिन वीर्य्य दीन।"

उक्त चारों पंक्तियों में प्रथम पंक्ति में "वंशस्थ विलम्" और शेष तीनों में 'इन्द्रवंशा' का प्रयोग किया गया है।

रंग में भंग, 'जयद्रथ-वध' 'भारत भारती' गुरुकुल, 'हिन्दू', वैतालिक, 'यशोधरा' आदि काव्यों के अतिरिक्त 'साकेत', "द्वापर" आदि में भी अधिकांश में मात्रिक छंदों ही का प्रयोग किया गया है। 'रंग में भंग' में गीतिका', 'जयद्रथ वध' और 'भारत-भारती' में 'हरिगीतिका' छन्द का प्रयोग देखा जाता है। इन ग्रन्थों के बाद जो ग्रन्थ गुप्तजी की लेखनी से प्रसूत हुए हैं उनमें हरिगीतिका का और गीतिका

का प्रायः बहिष्कार कर दिया गया है; इसका प्रधान कारण यह जान पड़ता है कि एक तो उन्होंने 'हरिगीतिका' का अतिशय प्रयोग करके औरों के लिए, तथा और अधिक उपयोग के लिए, उसे नीरस बना दिया; दूसरे गत महायुद्ध के अनन्तर स्फूर्तिमय विचारों की जो लहर समाज में आ गयी उसे व्यक्त करने के लिए नवीन छन्दों के प्रयोग की आवश्यकता जान पड़ी, तीसरे यह 'हरिगीतिका' का असामर्थ्य और दुर्भाग्य ही समझना चाहिए कि जहाँ ललित पद का प्रयोग भारतेन्दु के समय से अनेक कवियों द्वारा होता आया है और उसमें अनेक काव्यों के लिखे जाने पर भी उसके प्रति हिन्दी कवियों का अनुराग कम नहीं हुआ, वहाँ बेचारा हरिगीतिका थोड़े हो दिन आदर-सम्मान पाकर तिरस्कृत हो गया। यों भी हिन्दी काव्य तुक और छन्दों के बन्धन में पड़ कर बहुत ऊब गया था। हरिऔध जी ने 'प्रिय प्रवास' के रूप में इस ऊब को व्यक्त किया और महायुद्ध के अनन्तर छायावादी कवियों के प्रवेश ने उसकी परिमित तुकान्त ही तक नहीं रहने दी, केवल लय पर आश्रित छन्दहीन मुक्त काव्य की ओर भी उन्होंने पैर बढ़ाये। इसी को लक्ष्य करके गुप्तजी ने 'हिन्दू' की भूमिका में लिखा है:—

"सुन्दरम् की प्राप्ति के लिए वह नये-नये पंथों का, नई-नई गतियों का, अथवा नये नये छन्दों का आविष्कार कर रहा है। हम तो उसके साधन पर ही मुग्ध हो गये, साध्य न जाने कैसा होगा।"—

गुप्तजी ने मुक्त काव्य को तो नहीं अपनाया, किंतु अपनी कविता-कामिनी के लिए नये-नये छंदों का पाटम्बर ढूँढ़ने में उन्होंने कोई कोताही नहीं की। उन्होंने 'मेघनाद बध' नामक अतुकांत पद्यों में लिखित महाकाव्य का हिंदी में अनुवाद किया। इस अनुवाद में उन्होंने जिस छंद का प्रयोग किया वह पन्द्रह अक्षरों का वही छंद है, जिसमें गोस्वामी तुलसीदास निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी गयी हैं:—

"देखि? द्वै पथिक गोरे साँवरे सुभग हैं।
सुतिय सलोनी संग सोहत सुभग हैं।

सौभासिंधु-सम्भव से नीके नीके मग हैं ।
मातु पिता भागि बस गये पारि फग हैं ।"

इस छन्द का उपयोग, 'पलासी का युद्ध' नामक काव्य में गुप्तजी ने तुकान्तपूर्ण पद्य में भी किया है। उदाहरण के लिए:—

"आधी रात हो रही है मौन महीतल है ।
सघन घनों से घिरा घोर नभस्थल है ।
करके विदीर्ण उसे नाग ज्यों करे कला ।
रह रह कर कौंधती है चला चंचला ।"

'सिद्धराज' में इसी छन्द की नियोजना है:—

"दीप्त भाल, काले बाल, नयन विशाल क्या,
भृकुटी कुटिल और नासा क्या सरल है ।
लाल लाल होंठ हँसना ही सदा चाहते,
किन्तु बीच बीच में कठोरता झलकती ।"

'नहुष' नामक काव्य में भी इसी छन्द से काम लिया गया है:—

"अस्थिर शची ही थी सखी के साथ मन में—
शान्त सुरगुरु के सुरम्य तपोवन में ।
चिन्तित थी आज वह दूनी अन्य दिन से ।
काम उस कोमल को था पड़ा कठिन से ।

'यशोधरा' के थोड़े से अतुकान्त पद्य भी इसी छन्द में लिखे गये हैं। कतिपय पंक्तियाँ देखिए—

'गोपे हम अबला जनों के लिए इतना ।
तेज—नहीं, दर्प—नहीं, साहस क्या ठीक है ?
स्वामी के समीप हमें जाने से स्वयं वहीं ।
रोक नहीं सकते हैं स्वत्व आप अपना ।
त्याग कर बोल भला तू क्या पायगी बहू ?"

संस्कृत वृत्तों का प्रयोग भी गुप्तजी ने यथेष्ट मात्रा में किया है, विशेष करके 'साकेत' में, 'पत्रावली' का तो सम्पूर्ण ग्रंथ

ही संस्कृत वृत्तों में लिखा गया है। लेकिन यह नहीं समझ में आता कि वे संस्कृत वृत्तों का प्रयोग अतुकान्त काव्य में करने से क्यों झिझकते रहे हैं। हाँ, एक बात समझ में आती है और है और वह यह कि जन-साधारण भले ही अन्त्यानुप्रास युक्त तथा संस्कृत वृत्तों में लिखित कविताओं को अपना लें; किन्तु अतुकान्त कविता की ओर, चाहे वह संस्कृत वृत्तों के संगीत से संगीतमयी ही क्यों न हो जाय, वे प्रायः कम प्रवृत्त होते हैं। अतुकान्त काव्य का रसास्वादन करने के लिए कुछ साहित्यिक संस्कार अपेक्षित है। गुप्त जी की कविता जो जन-साधारण के भीतर इतना प्रवेश कर सकी उसका, भाषा के अतिरिक्त, एक कारण उनका छन्द निर्वाचन भी जान पड़ता है। उन्होंने छन्दों की पसन्दगी में अपने पाठकों की रुचि का भी ख्याल किया है, और ऐसा करके भी बहुत समय से अप्रयुक्त अनेक पुराने छन्दों को नवीन सौन्दर्य प्रदान करते हुए उन्हें नया मूल्य प्रदान किया।

११—गुप्तजी का स्फुट शिक्षात्मक काव्य

गुप्तजी के स्फुट शिक्षात्मक काव्यों में 'भारत भारती' की विशेष प्रसिद्धि है। हिन्दू समाज के उद्बोधन के लिए यह उस समय प्रकाशित हुआ जब अनेक राजनैतिक आन्दोलनों द्वारा हिन्दुओं की कल्पना यथेष्ट रूप से उद्दीप्त हो चली थी। फलतः यद्यपि इस ग्रन्थ में कवित्व-पूर्ण स्थलों का अत्यन्त अभाव है, तथापि हिन्दी पाठकों में यह बहुत लोकप्रिय हुआ। उस समय समालोचना के क्षेत्र में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी की लेखनी चमत्कारिक प्रभाव दिखाया करती थीं। उन्होंने इस काव्य की प्रशंसा करते हुए लिखा:—

"यह काव्य वर्त्तमान हिन्दी-साहित्य में युगान्तर उत्पन्न करने वाला है। वर्त्तमान और भावी कवियों के लिए वह आदर्श का काम

देगा। जो कितने ही अंश 'सरस्वती' में निकल चुके उनसे इसके महत्व का अनुमान पाठकों ने पहले ही कर लिया होगा। यह सोतों को जगाने वाला है; भूले हुओं को ठीक राह पर लाने वाला है, निरुद्योगियों को उद्योगशील बनाने वाला है, आत्मविस्मृतों को पूर्व स्मृति दिलाने वाला है; निरुत्साहियों को उत्साहित करने वाला है + + + इसमें वह संजीवनी शक्ति है, जिसकी प्राप्ति हिन्दी के और किसी भी काव्य से नहीं हो सकती है।"

उक्त पंक्तियों में एक भी अयथार्थ बात नहीं कही गयी है। हमें यह स्वीकार करना होगा कि 'भारत-भारती' ने बहुत से लोगों को जगाया, बहुत से आत्म-विस्मृतों को ठीक राह पर लगाया। इस अवतरण की केवल एक ही बात में संशोधन करने योग्य है और वह संशोधन यह है कि 'भारत-भारती' ने किसी नये युग को उत्पन्न नहीं किया; उसने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की देश-भक्तिपूर्ण कविताओं से आरम्भ होने वाले भारत-विषयक काव्य-युग की अन्तिम अभिव्यक्ति इस मात्रा में कर दी, कि फिर उसके बाद से एक नये ही युग का श्री गणेश हुआ, जिसका नेतृत्व 'प्रियप्रवास' ने किया। निस्सन्देह, पं० श्रीधर पाठक भी पेंशन लेने के बाद कुछ दिनों तक भारत-गीतों की रचना करते रहे; किन्तु वह निरर्थक और नीरस प्रयास था; क्योंकि प्रवाह जो कुछ था 'भारत-भारती' में अपनी शक्ति शेष कर चुका था।

मैंने अभी कहा है, 'प्रवाह जो कुछ था'। स्पष्ट शब्दों में इसका यही अर्थ है कि 'भारत-भारती' ने भी अधिक प्रवाह नहीं पाया था। जो नदी किसी बहुत ऊँचे पहाड़ से निकलती है उसी की धारा में वेग और प्रखरता आ सकती है। 'भारत-भारती' की रचना के समय उसके प्रणेता की दृष्टि बहुत ऊँचे नहीं उठ सकी थी; यह 'भारत-भारती' की शिथिल प्रगति से प्रकट है।

'भारत-भारती' के लेखक ने ग्रन्थ भर में रौद्र रूप कहीं भी नहीं धारण किया; हिन्दू समाज को मटियामेट करनेवाली प्रचण्ड प्रेरक

७

शक्तियों को देख सकने की शक्ति का उन्होंने कहीं परिचय नहीं दिया; उनका सम्पूर्ण क्रोध थोड़े से औपन्यासिकों, शृंगारिक कवियों और पंडों तक सीमित होकर रह गया; जिन मूल कारणों से हम लोग जर्जरावस्था को प्राप्त हो रहे हैं उनकी ओर कवि की दृष्टि गयी होती तो अपने समाज के उक्त वर्गों के प्रति भी उनका हृदय सहानुभूति से आर्द्र हो गया होता। क्रौंच पक्षी काम-मोहित थे, किन्तु आदिकवि ने उन पर रोष नहीं किया, उनका क्रोध तो व्याध की ओर ही गया, जिसने निरीह पक्षी-प्रेमिकों को एक साधारण वासना की तृप्ति भी नहीं कर लेने दी।

गुप्तजी ने अनेक स्थलों और संस्थाओं पर आक्रमण किया है, किन्तु प्रायः उनका कुठार कुंठित ही रह गया है। उदाहरण के लिए:—

"किस स्वर्ग की सोपान है तू हाय री डिप्टीगरी।
महिमा समुन्नति की हमारे चित्त में तू ही भरी।"

डिप्टीगरी में हमें शासन करने का अवसर प्राप्त होता है, ऐसी अवस्था में हम उसे समुन्नति की सीढ़ी क्यों न समझें? हम किस आकर्षक लाभ के लोभ से डिप्टीगरी के प्रति मोह का संवरण करें, यह कवि ने हमें नहीं बतलाया। किसी उच्चतर लाभ का स्वरूप स्थिर करना तो दूर की बात, उसने उसकी कल्पना की एक उड़ती झलक भी हमें नहीं दिखलायी। स्पष्ट है कि कवि हमारे हृदय में इन पंक्तियों के द्वारा डिप्टीगरी के प्रति उपेक्षा का भाव तो नहीं जगा सका। यदि कवि के हृदय में वेदना की आग होती तो डिप्टीगरी तो उसके एक पद की फूँक से उड़ जाती है।

गुप्तजी ने जैसे अपने क्रोध को एक छोटे वृत्त के भीतर संकुचित कर रक्खा है, वैसे ही उनकी करुणा भी प्रायः वहीं तक जा सकी है जहाँ तक समाचार-पत्रों की सम्पादकीय टिप्पणियों ने पथ-प्रदर्शन का काम किया है। उदाहरण के लिए उन्होंने कृषक वृन्द के प्रति सहानु-

भूति दिखायी है—वह कृषक-वृन्द जो बेचारा तब भी कठोर कार्य्य में रत रहता है जब:—

"बरसा रहा है रवि अनल भूतल तवा सा जल रहा।
है चल रहा सन सन पवन तन से पसीना ढल रहा।"

किंतु क्या उन्होंने ब्रह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शुद्रों तथा अस्पृश्य वर्गों की दुरवस्था से द्रवित होकर अश्रु प्रवाह किया ? उन्होंने इन वर्गों को सम्बोधित करके कहा है:—

"हे ब्राह्मणो ! फिर पूर्वजों के तुल्य तुम ज्ञानी बनो।
भूलो न अनुपम आत्म-गौरव धर्म के ध्यानी बनो।
कर दो चकित फिर विश्व को अपने पवित्र प्रकाश से।
मिट जाय फिर सब तम तुम्हारे देश के आकाश से।
क्षत्रिय ! सुनो अब तो कुयश की कालिमा को मेट दो।
निज देश को जीवन सहित तन मन तथा धन भेंट दो।
वैश्यो ! सुनो व्यापार सारा मिट चुका है देश का।
सब धन विदेशी हर रहे हैं पार है क्या क्लेश का।"

किन्तु क्या गुप्तजी ने उन कारणों की ओर भी ध्यान दिया जो ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों, तथा अस्पृश्यों के पतन के लिए उत्तरदायी हैं, जो हिन्दू समाज की वर्त्तमान परिस्थिति के लिए जिम्मेदार हैं ? 'भारत-भारती' की पंक्तियों को पढ़ कर हमारे नेत्रों से अविरल अश्रुधारा क्यों नहीं प्रवाहित होती ? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि स्वयं कवि के हृदय ने मार्म्मिक पीड़ा-जनित व्याकुलता का अनुभव नहीं किया। संसार के इतिहस में, मानव-जाति के इतिहास में हिन्दुओं का शक्ति से वंचित होना एक अत्यन्त करुणाजनक घटना है; जिस समाज ने एक से एक महावीर उत्पन्न किये; जिसके वीरों ने अपने अद्भुत साहस और पराक्रम के कार्यों से शत्रुओं के छक्के छुड़ा दिये, जिसके दार्शनिकों की व्याख्यायें आज भी विश्व के विद्वानों के लिए

आश्चर्य-रूप हैं, जिसके कवियों की कलात्मक कृतियाँ सहस्रों वर्ष बीत जाने पर भी काल के क्रूर करों द्वारा ध्वंस को नहीं प्राप्त हो सकीं उसी हिन्दू समाज की अग्रणी जातियाँ निरक्षरता, कायरता और विलासिता में डूब कर मिट्टी में मिल रही हैं और उसी के थोड़े से शिक्षित सदस्य अपने हाथों से उनका गला घोंटने और लहू घूँटने के काम में लगे हैं, क्योंकि थानेदारी, तहसीलदारी, डिप्टीगरी, वकालत के पदों पर आरूढ़ होकर वे सहज ही गुलामी की रोटियाँ और मिथ्या प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। क्या इससे भी बढ़कर दयाजनक परिस्थिति किसी जाति के सामने खड़ी हो सकती है ? 'भारत-भारती' के निर्माण के पहले यदि कवि ने उचित साधना का अवलम्ब लिया होता तो उसकी अन्तर्दृष्टि उसे एक महाकवि के पद के लिए अधिकारी बना देती। जो हो, हिन्दू पाठकों ने फिर भी गुप्तजी की कृति के दर्पण में अपने दयनीय स्वरूप का किंचित् दर्शन पाया और यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि उससे वे द्रवित और मुग्ध हुए, तथापि यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि असंगठित विचारों को एक स्थान पर पद्यों के रूप में संकलित देखकर उनके मस्तिष्क को कुछ आह्लाद हुआ और उसने पुस्तक की असीम लोकप्रियता को उत्तेजना प्रदान की। मस्तिष्क के आह्लाद से भी आत्मस्मृति होती है, जागरण होता है। और इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी के उक्त कथन में अतिशयोक्ति नहीं थी, साथ ही यह स्वीकार कर लेने में भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि गुप्तजी को मार्के की सफलता प्राप्त हुई है।

जैसे एक ओर 'भारत-भारती' की रचना में गुप्तजी की प्रतिभा की प्रगति कुंठित हो गयी, वैसे ही उसके विरोध में लिखी गयी आलोचनाओं का निशाना भी ठीक न बैठा। जैसा कि कहा जा चुका है, ये आलोचनाएँ अधिकांश में 'भारत-भारती' के सम्बन्ध में द्विवेदी जी के प्रशंसात्मक उद्‌गारों के विरोध में ही लिखी गयीं और प्रायः भाषा

तथा थोड़ा बहुत विचार संगठन सम्बन्धी त्रुटियों पर ही असंयत आक्रमण करके रह गयीं। थोड़े से संशोधन के साथ द्विवेदी जी की उक्त प्रशंसा को स्वीकार कर लेने में किसी को कोई आपत्ति न होनी चाहिये।

स्फुट काव्य की श्रेणी में 'भारत-भारती' की शृङ्खला को गुप्तजी के काव्य विकास के द्वितीय विभाग में सम्बद्ध करने वाला पहला काव्य वैतालिक है। 'भारत-भारती' के कवित्व के सम्बन्ध में जो आक्षेप आलोचकों द्वारा किये गये थे, उनमें यथार्थता का सर्व्वांश में अभाव नहीं था, सम्भव है उन्हीं आक्षेपों के उत्तर में 'वैतालिक' की रचना की गयी हो। इस छोटे से काव्य में कवित्व है और सुशृंखलित विचार-धारा ने इसके शरीर संगठन में उचित भाग लिया है।

गीता में प्रतिपादित निष्काम कर्म्म से अधिक ऊँचा आदर्श न समाज के सामने रखा जा सकता है और न व्यक्ति के सामने; यहीं पूँजीवाद और श्रमवाद का समन्वय हो जाता है। इसी आदर्श को अपने पाठकों के सामने रखते हुए गुप्तजी कहते हैं:—

"श्री शुक ने सब को छोड़ा।
रम्भा से भी मुँह मोड़ा।
किन्तु विदेह कर्म्मयोगी।
मुक्ति रहे रह कर भोगी।
प्रकृति पुरुष की है क्रीड़ा।
कभी विकास कभी व्रीणा।
जीव, ब्रह्म माया न तजो।
शिव को शक्ति समेत भजो।
रवि पश्चिम को जाता है।
वहाँ ज्योति फैलाता है।
फिर प्राची को आता है।
ललित लालिमा लाता है।

आवागमन युक्ति रवि है।
पर निष्काम मुक्त रवि है।
यही तुम्हारा भी क्रम हो।
मित्र, तभी सार्थक श्रम हो।"

यों तो गुप्तजी की प्रायः सभी रचनाओं पर, उनके गीता-अध्ययन का प्रभाव अंकित है, किन्तु 'वैतालिक' और 'हिन्दू' में तो यह विशेषता प्रचुर मात्रा में आ गई है। गीता की विचार-धारा तो जाह्नवी की तरह पवित्र है, व्यासदेव की वह विश्व-वन्दनीया कृति है जो सागर में सागर भरती है, जो वामन रूप में अवतरित भगवान की लघुकाया में उनके विराट रूप का दर्शन कराती है। किन्तु गीता को काव्य की दृष्टि से न देखना चाहिए; वह एक धर्म्मग्रन्थ है, जिसमें मीमांसा और उच्चातिउच्चगामिनी कल्पना से काम लिया गया है। उसके विचारों को जब हम काव्य के क्षेत्र में लावें तो हमें चाहिए कि उनको अपनी अनुभूति से आर्द्र कर लें। गुप्तजी ने 'वैतालिक' में जो विचार उपस्थित किये हैं उनकी अभिव्यक्ति में 'हिन्दू' के विचारों की अभिव्यक्ति से केवल इतना अंतर है कि 'हिन्दू' की कथनशैली में कल्पना के कलात्मक साधनों का उपयोग नहीं किया गया है और 'वैतालिक' विशेषता पायी जाती है। किन्तु 'वैतालिक' की कला भी केवल अनुरंजित अम्बर धारण करने ही के मोह में मग्न रह गयी है; उसने अपने करुणा से द्रवीभूत हृदय का कोई परिचय नहीं दिया है।

'हिन्दू' में भी, जहाँ कवि ने कुछ भावुकता से काम लिया है, मनोहर पंक्तियों की रचना सम्भव हो सकी है:—

"वही उर्वरा धरा उदार।
वही सिन्धु बहु रत्नागार।
वही हिमालय विंध्य विशाल।
सुख दुख के साक्षी चिरकाल।

वही सुनिर्मल जल प्रवाह।
कूल किनारे अपने आह।
वही सिन्धु सरयू के तीर।
गंगा यमुना के कल नीर।
वही अखिल अन्नों के खेत।
खानें बहु मणि धातु निकेत।
देखो अब भी खोलो नेत्र।
वही प्रान्त पुर पुण्य क्षेत्र।
हुए जहाँ ये चारु चरित्र।
एक-एक सौ-सौ स्मृति-चित्र।
यही पञ्चनद राजस्थान।
प्राप्त जिन्हें है गौरवमान।
वही बिहार उड़ीसा बङ्ग।
है अक्षय भारत के अङ्ग।
युद्ध, मध्य, पाञ्चाल, पुलिन्द।
चेदि, कच्छ, काश्मीर, कुलिन्द।
द्रविड़, मद्र, मालव, कर्णाट।
महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, विराट।
कामरूप, किंवा आसाम।
सातों पुरियाँ आठों धाम।
अटक कटक तक एक अभङ्ग।
दुख में सुख में हैं सब संग।

× × ×

छोड़ परस्पर वैर विवाद।
करो आर्यगण अपनी याद"।

इस सम्पूर्ण अवतरण में कवि की अनुभूति का सूचक केवल एक

शब्द 'आह' सारी की सारी पंक्तियों में जान डाल देने में सफल हुआ है। अस्तु।

'हिन्दू' में अनुभूति के अभाव के कारण उसकी पंक्तियों में कितनी नीरसता अकड़ कर बैठी हुई है, इसे ठीक-ठीक समझने के लिए हम एक ही विषय 'विधवा' पर लिखित उनकी तथा मौलाना हाली की कविताएँ यहाँ पर देते हैं; पाठक दोनों की तुलना करके देखें:—

—"हिन्दू विधवा की शुचि मूर्ति।
पवित्रता की सकरुण मूर्ति।
कर दें खल छल बल से भंग।
तो मरने का कौन प्रसंग।
किस पर है इसका दायित्व।
यही तुम्हारा है न्यायित्व।
कि तुम करो ब्याहों पर ब्याह।
पर विधवाएँ भरें न आह।
तुम बूढ़े भी विषयासक्त।
बनी रहें वे किन्तु विरक्त।
वे जो निरी बालिका मात्र।
अस्पर्शित है जिसका गात्र।
सोचो तुम हो कितने क्रूर।
दया और ममता से दूर।

× × ×

रक्खो ऊँचा ही आदर्श।
कर न सकें जो इतरस्पर्श।
करो न अवनति के प्रस्ताव।
आप तुम्हीं ऊँचे हो जाव।"

—मैथिलीशरण गुप्त।

२—"थपक थपक थे जिनको सुलाते।
घुड़क घुड़क थे जिनको सुलाते।
जिनको शादी की थी तमन्ना।
और न मँगनी का था तक़ाजा।
जिनको न आपे की थी खबर कुछ।
और न रँड़ापे की थी खबर कुछ।
भली से वाकिफ थीं न बुरी से।
बद से मतलब था न बदी से।
रुखसत चाले और चौथी को।
खेल तमाशा जानती थी जो।
होश जिन्हें या रात न दिन का।
गुड़ियों का सा ब्याह था जिनका।
दो दो दिन रह रह के सुहागन।
जनम जनम को हुईं विरागन।

× × ×

"आबादी जङ्गल का नमूना।
दुनिया सूनी और घर सूना।
आठ पहर का है यह जलापा।
काटूँगी किस तरह रँड़ापा।
थक गई मैं दुख सहते सहते।
आँसू थम गये बहते बहते।
दबी थी भूमल में चिनगारी।
ली न किसी ने खबर हमारी।
वो चैत और फागुन की हवाएँ।
वो सावन भादों की घटाएँ।

वो गरमी की चाँदनी रातें।
वो अरमान भरी बरसातें।
किससे कहूँ किस तौर से काटी।
खैर कटीं जिस तौर से काटीं।
रही अकेली भरी सभा में।
प्यासी रही भरी गङ्गा में।"

—हाली

गुप्तजी में हृदय-तत्व का अभाव नहीं है। 'साकेत' के अनेक स्थल उनकी सहृदयता के रस से सिक्त हैं; उसे जाने दीजिए, 'जयद्रथ-बध' में भी वे कवि-रूप में दिखलायी पड़ते हैं। किन्तु जहाँ उन्होंने जनसाधारण के हृदय पर अधिकार करने की इच्छा न करके केवल उसकी उत्तेजित कल्पना को स्पर्श करके काम निकालना चाहा है, वहाँ वे शिक्षा तो ऊँची से ऊँची दे सके हैं; किन्तु उनकी कृति में उस हृदय-तत्व का अभाव हो गया है, जिसके बिना कला में प्राणों का स्पन्दन ही नहीं होता। गुप्तजी की तथा मौलाना हाली की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करने ही में लगे हैं, वहाँ हाली महोदय ने विधवा के हृदय पर जो बीतती है, उसका हृदय-द्रावक चित्र खींचा है। शिक्षा ही की दृष्टि से दोनों कविताओं पर विचार कीजिए। क्या हाली की कविता से शिक्षा नहीं मिलती? केवल शिक्षा की दृष्टि से भी, हीन से हीन श्रेणी के विषय पर भी ऐसी कविता न लिखनी चाहिए, जिसमें दिल का दर्द न हो। जिस काव्य में केवल तुकों और छन्दों की समस्या का समाधान किया गया हो उसे हम कतिपय विचारों को पद्यबद्ध कर देने के उपलक्ष में, अपनी सुविधा की दृष्टि से, भले ही कंठस्थ कर लें; किन्तु हृदय में उसे स्थान नहीं मिल सकता। शिक्षात्मक काव्य में भी हृदय-तत्व का अभाव न होना चाहिए।

१२—गुप्तजी और कला

मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास की जो स्वाभाविक आवश्यकताएँ हुआ करती हैं, उनकी पूर्ति के निमित्त वह अपने से अतिरिक्त जगत् के सम्पर्क में आता है। यह सम्पर्क ही अन्तर और बाह्य जगत् में आघातों-प्रत्याघातों की सृष्टि करता है। इन आघातों-प्रत्याघातों से कभी कभी हृदय चिरकाल के लिए अभिभूत रहता है, जिससे मूल्यवान होकर ये साहित्य में स्थान पा जाते हैं। साधारण व्यक्ति इन आघातों-प्रत्याघातों का साधारण ही मूल्य आँकता है; किन्तु कवि की ऊँची कल्पना और गहरी अनुभूति अतीन्द्रिय होकर उन्हें अमूल्य बना देती है। चद्रमा को रात्रि में प्रकाश देनेवाला तो सभी जानते हैं; किन्तु जानकी के मुख की समता करने के लिए प्रतिद्वन्दिता-तत्पर रूप में कलाकार ही उसका दर्शन करता है; वही चंद्रमा का यह विशेष मूल्य आँकता है। सृष्टि की प्रत्येक वस्तु का परिमित और अपरिमित मूल्य होता है। परिमित मूल्य की अनेक श्रेणियाँ होती हैं; साधारण कलाकार और साधारण सत्य-द्रष्टागण परिमित मूल्य की इन्हीं श्रेणियों के बीच में अपने अनुमान की प्रतिष्ठा किया करते हैं; किन्तु असाधारण कलाकार प्रत्येक वस्तु का असाधारण, अपरिमित मूल्य ही आँकता है।

कला चन्द्रमा की तरह अपरिमिति की उक्त कल्पना रूपी कुमुदिनी का अनुभूति के करों से स्पर्श करती है। उसकी विविध अवस्थाएँ हैं। शरद की पूर्णिमा का चन्द्रमा रात्रिकाल में पूर्ण कलाओं के साथ आकाश और भूमण्डल पर कौमुदी का विस्तार करता है; वही चन्द्रमा भिन्न-भिन्न तिथियों में आंशित कलाओं को लेकर उदित होता है; वही चन्द्रमा प्रायः दिन में सर्वथा निस्तेज रूप में भी दिखाई पड़ जाता है। कला की भी यही स्थिति है। अपरिमित की उक्त कल्पना जब अपरिमित की अनुभूति से समन्वित हो जाती

है, तब कला अपने पूर्ण रूप से प्रगट होती है। अपरिमित की कल्पना और अनुभूति का आंशिक समन्वय ही संघटित होने पर कला का आंशिक स्वरूप ही हमारे सामने प्रस्तुत होता है। और जब अनुभूति का लेशमात्र उपस्थित नहीं रहता तथा केवल वाह्य ढाँचा खड़ा कर के उसे कला का मन्दिर कहने का प्रयास किया जाता है तब अपनी शक्ति से शून्य होकर कला देवी ज्योत्स्ना-विहीन चंद्रमा की तरह अलग, मन्दिर से न जाने कितनी दूर, निस्तेज पड़ी रहती है।

मानव-जीवन के किसी भी काल में अपरिमित की कल्पना और अनुभूति का सम्यक् समन्वय न संभव हो सका और न हो सकेगा। विश्व के सम्पूर्ण साहित्य में आंशिक समन्वय के आधार पर ही कला की निकुंज-रचना होती है। इसका कारण केवल यही है कि हमारी कल्पना परिमिति, हमारी अनुभूति परिमित, हमारी बुद्धि और शक्ति सभी कुछ परिमित है।

निम्नलिखित अवतरण में कल्पना की अपरिमित है, किन्तु अनुभूति का सर्वथा अभाव है, इसमें कला की तलाश करना रेगिस्तान में पानी ढूँढ़ने के बराबर है;—

"है नहीं काज उत्पत्ति हेतु बिन और जगत है काज बड़ा।
यह विश्व रचयिता के होने का है प्रमान जगमान्य कड़ा।
यदि ईश्वर को भी काज गुनैं तो जावै मति चकराय।
उसके रचने वाले का भी कुछ नहीं पता दरसाय।
बस एक ईश को अन्तिम कर्ता ग्रहन सुमति भी करती है।
पर सकल जगत को अन्तिम कारन कहने में सक धरती है।
हैं एक सूर्य के साथ घूमते अगनित ग्रह दिन रात।
है भूमण्डल भी उन ग्रहगन में एक परम लघु गात।
उस प्रति नक्षत्र लोक अपने में सूरज सरिस विचरता है।
अरु उसमें भी सब ओर ग्रहों का मंडल निसि दिन फिरता है।

इन सब नक्षत्रों के गिनने में है कोई न समर्थ।
यों ब्रह्माण्डों की गिनती का सदा सकल स्रम व्यर्थ।
उस ईश्वर के प्रति रोम कूप यों कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड बसैं।
अरु अगनित ये सब लोक गगन में बस कर सुख से सदा लसैं।"

—मिश्रबन्धु

नीचे की पंक्तियों में परिमित श्रीकृष्ण और श्रीराम के अपरिमित मूल्य की कल्पना की गयी है, और इस कल्पना को अनुभूति का आंशिक सहयोग मिला है:—

१—"कहत श्याम यह श्रीमुख बानी।
धन्य-धन्य दृढ़ नेम तुम्हारे बिन दामन मो हाथ बिकानी।
निर्दय वचन कपट के भाषे तुम अपने जिय नेक न आनी।
भजी निसंक आप तुम मोको गुरुजन की शंका नहिं मानी।
सिंह रहे जंबुक शरणागत देखी सुनी न अकथ कहानी।
सूर-श्याम अंकम भरि लीन्ही विरह अगिनि झर तुरत बुझानी।

—सूरदास

२—"राम सच्चिदानन्द दिनेशा।
नहि तहँ मोह निशा लव लेशा।
सहज प्रकाश रूप भगवाना।
नहिं तहँ पुनि विज्ञान विहाना।
हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना।
जीव धर्म अहमिति अभिमान।
राम ब्रह्म व्यापक जग जाना;
परमानन्द परेश पुराना।

× × ×

निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी।
प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी।

यथा गगन घन पटल निहारी।
झंपेउ भानु कहहिं कुविचारी।
चितव जो लोचन अंगुलि लाये।
प्रगट युगल शशि तेहि के भाये।
उमा राम विषयक अस मोहा।
नभ तमधून धूरि धूरि जिमि सोहा।
विषय करण सुर जीव समेता।
सकल एक तें ऐक सचेता।
सब कर परम प्रकाशक जोई।
राम अनादि अवधपति सोई।
जगत प्रकाश्य प्रकाशन रामू।
माताधीश ज्ञान गुण धामू।"

—तुलसीदास

निम्न-लिखित पंक्तियों में कल्पना और अनुभूति दोनों की अपरिमिति का आंशिक समन्वय देख पड़ता है:—

"मैं तेहिं अब जानेउँ संसार।
बाँधि न सकहि मोहिं हरि के बल प्रगट कपट आगार।
देखत ही कमनीय कछू नाहिंन पुनि किये विचार।
ज्यों कदली तरु मध्य निहारत कबहुँ न निसरइ सार।
तेरे लिए जनम अनेक मैं फिरत न पायउँ पार।
महा मोह मृग जल सरिता महँ बोरेउ बारहिं बार।
सुनु खल छल बल कोटि किये बस होहिं न भगत उदार।
सहित सहाय तहाँ बसु अब जेहिं हृदय न नन्दकुमार!
तासों करइ चातुरी जो नहिं जानइ मरम तुम्हार।
सो परि भरइ डरइ रजु अहि ते बूझइ नहिं व्यवहार।

निज हित सुनु सठ हठ न करहि जौं चहहि कुसल परिवार।
तुलसिदास प्रभु के दासन्ह तजि भजहि जहाँ मद मार।"

—तुलसीदास

वर्त्तमान हिन्दी काव्य में छायावादी कवियों की प्रवृत्ति अपरिमित कल्पना के प्रसार ही की ओर रहती है। उदाहरण के लिए, मान लिया कि उन्हें गिलहरी के सम्बन्ध में कविता करनी है, इसके निमित्त वे गिलहरी के स्थूल रूप को एक साधन मात्र बना कर उसके विराट सूक्ष्म रूप के चित्रण में तत्पर हो जायँगे। पन्त जी की 'छाया', 'स्याही की बूँद' निराला जी की 'यमुना के प्रति' आदि कविताएँ ऐसी ही हैं। ऐसी कविताओं में कल्पना की अपरिमिति की योजना होने के कारण एक विशेषता आ जाती है, जो वस्तु विशेष के साधारण स्थूल रूप के वर्णन में नहीं आ पाती। इन कल्पनामूलक कविताओं में यदि अनुभूति की अपरिमिति की योजना की जा सके तो निस्सन्देह इनसे लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति हो। किन्तु हमारे छायावादी कवि शायद इस बात को भुला देते हैं कि कोई भी आकाशचारी चौबीस घण्टे आकाश में उड़ता ही नहीं रह सकता; उसे श्रान्ति और विश्रांति का तुक मिलाना ही पड़ेगा। इसी प्रकार अकेली कल्पना पर आश्रित कविता अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकती; साथ ही ऊँची उड़ान का श्रम-परिहार करने के लिए घोंसला भी ऐसा होना चाहिए जो पूर्ण विश्राम दे सके।

गुप्तजी ने हिन्दू की भूमिका में लिखा है:—

"क्रम-विकास के अनुसार उन्नति करता हुआ कवित्व आज कल स्वर्गीय हो उठा है अपनी लक्ष्य-सिद्धि के लिए यह जो विचित्र चाप चढ़ाने जा रहा है, हमें भी कभी कभी, मेघों के कन्धों पर चढ़कर, वह अपनी झाँकी दिखा जाता है। उसे उठाने के लिए जिस सूक्ष्मता अथच विशालता अथवा स्वर्गीयता की आवश्यकता

होगी, कहते हैं, कवित्त्व उसी की साधना में लगा हुआ है। हम हृदय से उसकी सफलता चाहते हैं।

"उसका लक्ष्य क्या है? हमें जब वह नहीं दिखायी देता तब लक्ष्य की चर्चा ही क्या?—

सम्मुख चन्द्र-चकोर है सम्मुख मेघ मयूर।
वह इतना ऊँचा उठा गया दृष्टि से दूर।

परन्तु, सुनते हैं, वह लक्ष्य है —"सुन्दरम्" और केवल "सुन्दरम्"। "सत्यम्" और "शिवम्" उसके पहले की बातें हैं। कवित्व के लिए अलग से उनकी साधना करने की आवश्यकता नहीं, औरों के लिए हो तो हो। फूल में ही तो मूल के रस की परिणति है, फल तो उपलक्ष्य मात्र है।"

छायावाद वाली कविताओं में कोई उल्लेख-योग्य क्रम-विकास तो नहीं दिखाई पड़ता। यदि ऐसा होता तो इनकी तुलना में सूर और तुलसी की कविताएँ आज पिछली श्रेणी की समझी जाती। निस्सन्देह उत्तरकलीन कृष्णकाव्य पर वे संशोधन-स्वरूपा हैं, या यों कहना चाहिए कि उक्त कृष्णकाव्य पर वे विकृत स्वरूप के विरुद्ध होने वाली प्रतिक्रिया की वे प्रतिनिधि हैं। उनकी उपमा इन्द्रचाप से दी जा सकती है, क्योंकि अपनी अनुरंजित रूप छटा के मोहित कर लेने की शक्ति रखने पर भी वे हृदय पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ जातीं। इन कविताओं का लक्ष्य केवल 'सुन्दरम्' है; तो कोई हर्ज की बात नहीं; क्योंकि "सुन्दरम्" अपने स्वरूप की रक्षा के निमित्त भी 'सत्य' और 'शिव' को त्याग कर पृथक नहीं रह सकता। जो 'सत्यं' और 'शिवं' को पीछे की बात समझते हैं वे गलती में हैं। 'पीछे' से अगर अप्रत्यक्ष का मतलब है तो हमें उसमें भी कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि हम 'सुन्दरम्' में 'सत्यं और 'शिवं' को उसी तरह निहित मानते हैं

जिस तरह ईख के पोर पोर में रस को। जिस प्रकार ईख के रस को ईख से पृथक करके हम उसे 'खोई' समझते हैं, वैसे ही 'सत्य' और 'शिव' की द्वयी से विरहित होकर 'सुन्दरम्' सर्वथा नीरस हो जाता है, और बाद को उसका त्याग ही उचित होता है। अकेले 'सुन्दरम्' की उपासना करनेवाले 'सत्यं' और 'शिवं' की उपेक्षा करना भी चाहें तो नहीं कर सकते; क्योंकि जैसे मूल से पृथक होकर पेड़ धराशायी हो जाता है, वैसे ही जिस काव्य में केवल 'सुन्दरम्' का गान किया जाता है—ऐसा गान जिसमें 'सत्य' और 'शिव' लय और ताल की तरह सम्मिलित नहीं रहते—वह सतरंगी इन्द्रधनुष की तरह अभिराम होने पर भी काल की एक फूँक के लगते उड़ जाता है।

छायावादी कविताओं में कल्पना का जो महल खड़ा किया जाता है, उनमें अनुभूति की बहुत कमजोर नींव पड़ी रहती है। जो अनुभूति इन्द्रियगोचर साधनों द्वारा व्यक्त होगी, जिसमें ईश्वर और जीव के सम्बन्ध में पुरुष और नारी की कल्पना करके उत्सुकतापूर्ण अभिसारों की योजना करायी जायगी, वह स्वल्प काल के भीतर ही अपनी शक्ति को समाप्त कर देगी। हिन्दी साहित्य में कृष्णकाव्य की यही दशा हुई। कृष्ण और राधा की कल्पना कुछ कम ऊँची न थी, किन्तु वे साधन दूषित थे जिनकी सहायता लेकर कालान्तर में उस कल्पना ने अपने विश्राम-भवन का निर्माण किया। अनन्त के चारों ओर चक्कर काटने वाली छायावादी कविताओं ने यदि अनुभूति के अतीन्द्रिय, अपरिमित साधनों को एकत्र न किया तो वे अधिक काल तक टिक नहीं सकतीं। प्रकृति के विराट रूप की नारी-रूप में कल्पना कर के वे उससे माधुर्य्य और सौन्दर्य्य के एक नवीन भण्डार को प्राप्त करते हैं तो यह अच्छी बात है, हिन्दी साहित्य में इस अंग की भी पूर्त्ति होनी चाहिए। साथ ही यदि वे क्षुद्र पदार्थों के अन्तस्तल में बैठ

कर उनके अनन्त अपरिमित स्वरूप-दर्शन का आनन्दानुभव करना चाहते हैं तो यह भी कोई अप्रशंसनीय बात नहीं। किन्तु उन्हें अपनी अनुभूति की सामग्री में जीवन के गंभीर तत्वों का समावेश करना चाहिए, नहीं तो जिस नायिकाभेदमूलक काव्य से हम लोग एक बार ऊब चुके हैं, उसी की उनके द्वारा पुनः रूपान्तर में पुनरावृत्ति हो जायगी। निम्नलिखित पंक्तियाँ अभी से इस ओर संकेत करने लगी हैं:—

"सोती थी
जाने कहो कैसे प्रिय आगमन वह ?
नायक ने चूमे कपोल,
डोल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिण्डोल।
इस पर भी जागी नहीं, चूक-क्षमा माँगी नहीं,
निद्रालस बंकिम विशाल नेत्र मूँदे रही,
अथवा मतवाली थी
यौवन की मदिरा पिये कौन कहे ?
निर्दय उस नायक ने निपट निठुराई की।
कि झोंकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिये गोरे कपोल गोल,
चौंक पड़ी युवती—
चकित चितवन निज चारों ओर फेर
हेर प्यारे को सेज पास,
नम्र मुखी हँसी,—खिली
खेल रंग प्यारे संग।"

—निराला

उक्त पंक्तियों में और निम्नलिखित पंक्ति—

"केलि की रैन अघाने नहीं
दिन ही में लला पुनि घात लगायी।"

में कोई अन्तर नहीं है। अस्तु।

काव्य में अनुभूति का जितना महत्वपूर्ण स्थान है उतना कल्पना का नहीं। कल्पना में केवल स्वप्न है, कामना है, इसके विपरीत अनुभूति में वास्तविकता है, निश्चित रूप-रेखा है। कल्पना सोने का पहाड़ है, जो सूर्य्य के प्रातः और सन्ध्याकालीन प्रकाश में अनुपम नयनाभिराम शोभा प्राप्त करता है; इसके विपरीत अनुभूति वह रोटी का टुकड़ा है, जिससे हमारी भूख बुझती है। कल्पना और अनुभूति के संगम-स्थल ही में कला का निवास रहता है।

यद्यपि गुप्तजी ने छायावाद के ढंग की भी कविताएँ लिखने का प्रयत्न किया है, तथापि छायावाद के वर्त्तमान स्वरूप को हृदयंगम करने की उनमें प्रवृत्ति नहीं है। इस सम्बन्ध में विशेष तो हम अन्यत्र लिखेंगे, यहाँ इतना ही कथन पर्य्याप्त है कि उन्होंने जब कभी वस्तु-विशेष अथवा व्यक्ति-विशेष का वर्णन किया है तब छायावादियों की तरह उनके विराट् स्वरूप को सामने रखकर नहीं, बल्कि उनके साधारण स्थूल रूप पर ही ध्यान देकर। जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में सखा, प्रेमिक आदि के सम्बन्धों का नियोजन करके उन्होंने रहस्यमयी शैली का अनुसरण करने की चेष्टा की है। किन्तु वास्तव में उनकी इस ओर विशेष प्रवृत्ति नहीं है। प्रधान रूप से उनके काव्य का विषय मनुष्य है, और मनुष्य भी किन विशेषणों से संयुक्त होकर उनके आराध्य रूप में उपस्थित होता है, इसकी विवेचना की जा चुकी है; अर्थात् विशेष रूप से हिन्दू संस्कृति और हिन्दू समाज ही का उन्होंने जय-गान किया है। किन्तु उनके इस काव्य में एक त्रुटि है। जहाँ उन्होंने 'हिन्दू' जैसी पुस्तक का निर्माण किया है वहाँ कल्पना का घेरा चौड़ा न रखने के साथ ही साथ अनुभूति की ओर भी उपेक्षा कर दी है।

गुप्त जी ने 'हिन्दू' की भूमिका में लिखा है:—

"कवित्व के उपासकों से उसकी ही प्रार्थना है कि वे उसकी सीमा इतनी संकुचित न कर दें कि नवीन दृष्टि से विचार करने पर पुरानी रचनाएँ तुकबन्दियों के सिवा और कुछ न रह जायँ।

"यदि हम किसी निबन्ध की एक-एक पंक्ति में रस की खोज करने लगेंगे तो काव्यों की तो बात क्या, महाकाव्यों को भी अपना स्थान छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। एक-एक पत्ते में फूल खोजने की चेष्टा व्यर्थ होगी और ऐसे फूलों का कोई मूल्य भी न रह जायगा।"

कवित्व की ओर से हमारा निवेदन है कि यदि किसी काव्य में अथवा महाकाव्य ही में सही, अनुभूति का सर्वथा अभाव है तो प्राचीन और अर्वाचीन दोनों दृष्टियों का सहयोगपूर्ण उद्योग उक्त काव्य अथवा महाकाव्य की निस्सारता दिखाने ही के पक्ष में होगा; उदाहरण के लिए 'हिन्दू' को सत्यकाव्य न कहने के लिए हम विवश हैं। उसमें कल्पना की छायावादी उड़ान न थी तो कोई हर्ज नहीं, किन्तु उसमें अनुभूति का भी तो अभाव है। उसकी कतिपय पंक्तियाँ देखिए:—

'रक्खो हिन्दूपन का गर्व।
यहीं ऐक्य के साधन सर्व!
हिन्दू निज संस्कृति का त्राण।
करो, भले ही दे दो प्राण।
कठिन काल में भी कुल मान।
रक्खा तुमने दे दी जान।"

× × ×

"करो बन्धुगण करो विचार।
किस प्रकार अब हो उद्धार?
सब कुछ गया, जाय बस एक—
रक्खो हिन्दूपन की टेक।

ऐसा है वह कौन विवेक ।
करता हो जो हमको एक ?
और बढ़ा सकता हो मान ?
केवल हिन्दू हिन्दुस्तान ।"

'भारत-भारती' में गुप्तजी ने काव्य के सम्बन्ध में अपना मत इस प्रकार दिया है:—

"केवल मनोरञ्जन न कवि का कर्म्म होना चाहिए ।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म्म होना चाहिए ।"

संक्षेप में 'हिन्दू' की भूमिका का भी यही कथन है। वास्तव में गुप्तजी ने इन दो पंक्तियों में बात सही ढङ्ग से कह दी है—'मनोरंजन' हमें 'सुन्दरम्' की ओर ले चलें तथा उचित उपदेश का मर्म्म 'सत्यम्' और 'शिवम्' की ओर से विमुख न होने दे। किन्तु इसका पालन स्वयं उनके काव्य के एक अंश में नहीं हो सका; 'भारत-भारती' के अनेक स्थलों में, तथा 'हिन्दू' में प्रायः सर्वत्र उनकी उपदेशक वृत्ति ने कलाकार वृत्ति पर विजय प्राप्त कर ली है। स्वयं उन्हीं की कृतियाँ सूचित करती हैं कि उक्त उपदेशक-वृत्ति के विरुद्ध स्वयं उन्हीं के हृदय में प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। वाह्य परिस्थितियों का उनपर अनिवारणीय प्रभाव पड़ता रहा। 'भारत-भारती' की प्रतिकूल आलोचना का परिणाम यदि 'वैतालिक' का जन्म हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। इसी प्रकार 'झङ्कार' के गीतों के लिए भी बाहर ही से प्रेरणा मिली जान पड़ती है। 'हिन्दू' तो स्पष्ट रूप से असहयोग से स्थगित होने के अनन्तर आनेवाली सामाजिक प्रतिक्रिया की उत्पत्ति है। कलात्मक कृतियों की रचना की ओर वे वर्त्तमान शताब्दी के द्वितीय दशक ही में ढल चुके थे, और 'रङ्ग में भंग' तथा 'जयद्रथ-बध' में व्यक्त होने वाली उनकी कला-रसिकता 'साकेत' के निर्माण की ओर अग्रसर हो रही थी। उक्त सामाजिक प्रतिक्रिया ने कवि के आन्तरिक प्रबल संस्कारों

के साथ सहयोग करके उनके कला-काल में भी उन्हें 'हिन्दू' जैसी स्पष्ट शिक्षा-प्रधान तथा कला-शून्य पुस्तक के निर्माण की ओर ठेल दिया। कला की इस हार ने 'साकेत', 'यशोधरा', 'द्वापर' आदि के रूप में आवश्यक से अधिक मात्रा में परिशोध प्राप्त कर लिया है।

१३—गुप्तजी का गीति काव्य

हिन्दी-साहित्य में गीति-काव्य की ओर कभी प्रवृत्ति ही न रही हो, ऐसी बात नहीं। शुद्ध शृंगारिक धरातल पर लिखी गयी तथा भावुक नारी-हृदय को व्यक्त करने वाली विद्यापति की गीति-कविताएँ मधुर भाषा और चुटीले भावों की दृष्टि से अपनी समता नहीं रखतीं। विरहिणी गोपिकाओं के कलेजे के दर्द को अमर पद प्रदान करने वाली सूरदास की भाव-मग्न लेखनी उनसे इस क्षेत्र में टक्कर ले सकी है। महात्मा तुलसीदास ने भी गीति-काव्य लिखी है, लेकिन राम-काव्यकार होने के कारण उन्हें वे सुविधाएँ प्राप्त नहीं हो सकीं जो राधा-कृष्ण के मधुर व्यक्तित्व के कारण कृष्ण-काव्यकारों को सहज ही प्राप्त हो सकती हैं। उनके गीति-काव्य का धरातल ऊँचा ही रह गया, जहाँ उन्होंने संसार के दुख से दुखी होकर भगवान के दरबार में अपनी पत्री निवेदित की है। चरम विकास की ओर अग्रसर होने के लिए सहायक भावुकता के आवाहनार्थ मानवात्मा जिस आर्त्ति को, वेदना को धारण करती है, केवल उसी का गान उनकी मर्य्यादा के भीतर था। अतएव जहाँ हम कृष्णकाव्यकारों में विद्यापति, सूरदास, मीरा, नन्ददास आदि कवियों को सरस गीति रचना करते देखते हैं, वहाँ राम-काव्यकारों में प्रायः तुलसीदास को छोड़ कर और कोई इस क्षेत्र में दृष्टिगत नहीं होता। कृष्ण काव्यकारों ने भी कहीं तो गोपिकाओं को आलम्बन बना कर आध्यात्मिक अनुरंजना के भीतर सांसारिक प्रेम का गीति-काव्य में गान किया है, और कहीं

जहाँ वे कुछ ऊँचे उठ सके हैं, अपने ही हृदय को आलम्बन रूप में ग्रहण कर संसृति के आघात से मिलने वाली वेदना को व्यक्त करने की चेष्टा की है। इन दोनों ही विशेषताओं का संयोग सूरदास में आकर्षक मात्रा में दिखलायी पड़ता है। उनके उत्तराधिकारियों की रचनाओं में आध्यात्मिक अनुरंजना के अभाव के साथ-साथ संसृति के आघात की अनुभूति भी नहीं थी, अतएव, यदि उन्होंने कभी गीति-रचना की तो भी वह अधिकांश में नारी और पुरुष के पारस्परिक प्रेमोद्गारों ही तक परिमित रह गयी। क्रमशः गीति काव्य का लोप हो गया और हिन्दी कविता ने अन्तर्जगत् से निकल कर वाह्य जगत् में विचरण करना शुरू किया।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में कृष्ण-काव्य ही के पथ से गीति-काव्य का फिर उद्गार हुआ। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'प्रियप्रवास' ने इस क्षेत्र में नेतृत्व प्रदान किया। इस काव्य में यशोदा का, और उनसे भी अधिक राधा का विषाद गीति-काव्य के लिए उपयुक्त सामग्री है। करुण रस का इतना सुन्दर परिपाक करने वाला, हृदय को इतना द्रवीभूत करने वाला काव्य खड़ी बोली के लिए तो एक नई चीज था ही; वास्तव में व्रजभाषा में भी सैकड़ों वर्षों से आविर्भूत नहीं हुआ था। इस काव्य का महत्वपूर्ण स्थल न तो इसका प्रबन्ध है और न इसके वर्णन हैं; इसका सार-भाग वहीं पर है जहाँ हृदय की पीड़ा की अभिव्यक्ति की गयी है। गुप्तजी के काव्य 'भारत-भारती' में इसका ठीक उलटा है; उसमें हृदय-तत्व का प्रायः सर्वथा अभाव है। 'प्रियप्रवास' के बाद उपाध्यायजी ने हृदय-तत्व की ओर कम ध्यान दिया; उनके उत्तरकालीन काव्य में स्वाभाविकता के स्थान में परिश्रम का प्रभाव अधिक दृष्टिगोचर होने लगता है। इधर गुप्तजी का ध्यान कला की ओर अधिक आकृष्ट हो गया और उन्होंने गीति काव्योन्मुखी प्रवाह की अनुकूलता में प्रगति करके 'झङ्कार' 'साकेत' 'यशोधरा' और 'द्वापर' आदि रचनाएँ उपस्थित कीं। 'झङ्कार' के गीत ईश्वर प्रेरक हैं।

उन गीतों की रचना गुप्तजी ने अपने व्यक्तित्व के प्रवाह को कुछ भुला कर की है। जो हो, इतना तो वे स्पष्ट कर देते हैं कि कवि काल-द्वारा प्रस्तुत काव्य-प्रवाह के अनुकूल चलने के लिए कितना सन्नद्ध है। 'साकेत' महाकाव्य है, किन्तु उसकी भी प्रधान विशेषता प्रबन्ध नहीं है, उसका विशेष उल्लेख-योग्य स्थल उर्मिला के वे गीत ही हैं जिनमें पति-वियोग की अत्यन्त मार्मिक व्यथा भरी हुई है। 'यशोधरा' के सम्बन्ध में गुप्तजी ने अपने अनुज को सम्बोधित करते हुए लिखा है—'लो गीत, लो कविता, लो नाटक, और लो गद्यपद्य, तुकान्त अतुकान्त सभी कुछ, परन्तु वास्तव में कुछ नहीं।' यह सब होने पर भी जो वस्तु विशेष रूप से हमारे काम की है वह यही है कि कवि ने 'यशोधरा' के हृदय का, पीड़ित हृदय को व्यक्त करने की चेष्टा की है। 'द्वापर' में तो प्रबन्ध का वह नाम मात्र का ढाँचा भी नहीं रखा गया जो 'यशोधरा' में है, उसमें कवि ने त्रिविध पात्रों के मनोभावों का अध्ययन करने तथा उस अध्ययन को काव्यमयी अभिव्यक्ति प्रदान करने का प्रयत्न किया है।

हिन्दी काव्य का वर्त्तमान युग गीति-काव्य का युग है, मानों बाहर के सौन्दर्य से ऊब कर कवित्व मन के भीतर आनन्द का रसास्वादन करने के लिए अन्तर्मुखी हो गया है। हृदय की वेदना का तीव्र वेग ही गीति-काव्य का प्राण है। व्यक्तित्व के विकास के अनुरूप वेदना की अनेक कोटियाँ होती हैं। जिन अतृप्त लालसाओं में भोग की ज्वाला उद्दीप्त रहती है वे अल्पप्राण वेदनाओं की कोटि ही में परिगणित हो सकती हैं। गीति-काव्य के नाम से आजकल जो बहुत-सा कूड़ा-कर्कट भी प्रकाश में आ रहा है उसकी नीरसता का प्रधान कारण यही है कि उसके जन्मदाताओं के पास प्रकृत वेदना का अभाव है। प्रकृत वेदना अपने प्रेम-पात्र के लिए आत्म-बलिदान के रूप में स्वयं को प्रगट करती है; वह शोषण की असमर्थता नहीं है, बल्कि पोषण का प्रसाद है। निम्नलिखित पंक्तियों में पाठक शोषण के एक स्वरूप का दर्शन कर सकते हैं:—

"पीने दे, पीने दे ओ! यौवन मदिरा का प्याला।
मत याद दिलाना कल की कल है, कल आने वाला।
है आज उमंगों का युग तेरी मादक मधुशाला।
पीने दे जी भर रूपसि अपने पराग की हाला।
लेकर अतृप्त तृष्णा को आया हूँ मैं दीवाना।
सीखा ही नहीं यहाँ है थक जाना या छक जाना।
यह प्यास नहीं बुझने की पी लेने दे मनमाना।
बस मत कर देना रूपसि बस करना है मर जाना।"

—भगवतीचरण वर्म्मा

इसी प्रकार निम्न-लिखित पंक्तियों में पोषण का प्रसाद वर्त्तमान है:—

"के पतिया लए जायत रे मोरा पिय पास।
हिय नहिं सहै असह दुख रे भल साओन मास।
एकसर भवन पिया बिनु रे मोरा रहलो न जाय।
सखियन कर दुख दारुन रे जग के पतिआय।
मोर मन हरि हरि लै गेल रे अपनो मन गेल।
गोकुल तजि मधुपुर बसि रे कति अपजस लेल।
विद्यापति कवि गाओल रे धनि धरु पिय आस।
आओत तोर मन भावन रे एहि कातिक मास।"

—विद्यापति

प्रथम अवतरण में प्रेमी अपने प्रेमपात्र के 'पराग' की सम्पूर्ण 'हाला' को पी डालना चाहता है, ठीक उसी तरह जिस तरह शायद 'निराला' जी की 'जूही की कली' की सुप्तावस्था में अचानक उस पर टूट पड़ने वाले भौंरे ने चाहा था। द्वितीय अवतरण में यह बात नहीं है; उसकी पंक्तियों में प्रोषित-पतिका नायिका की बड़ी गम्भीर पीड़ा अंकित है।

वेदना में भोग-भावना का जैसे जैसे ह्रास होता जाता है, वैसे वैसे उसका स्वरूप निखरता जाता है। क्रमशः प्रेमी अपने प्रेमपात्र से किसी बात की याचना करने के स्थान में उसे अपना ही सब कुछ समर्पित करने के लिए तैयार हो जाता है। तभी प्रेम में परिपक्वता आती है, तभी वह माधुर्य से भर जाता है, तब वह डाका डालने और चोरी करने की चेष्टा नहीं करता, बल्कि अपने व्यक्तित्व की सम्पूर्ण भूख और प्यास को बुझा सकने की शक्ति अपने ही में अनुभव करने लगता है।

गुप्तजी के काव्य में प्रेम का कौन सा स्वरूप व्यक्त हुआ है, उसमें त्यागमयी गम्भीरता और स्थिरता है या चंचलता और अशान्ति है? यह पहले ही कहा जा चुका है कि उनके काव्य को नारी-प्रेम अथवा ईश्वर-प्रेम से प्रेरणा नहीं मिली है। ऐसी अवस्था में उनका कवि-हृदय किसे अपने प्रेम का उपहार प्रदान करेगा! उनके देश-प्रेम की ओर भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा चुका है। देश की भूमि, देश के सर-सरिताएँ, पहाड़, निर्झर, पशु पक्षी और उसके निवासी मनुष्यों के प्रति किया जाने वाला प्रेम ही देश-प्रेम कहा जा सकता है। किन्तु इस क्षेत्र में आने पर भी हमारे प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता; गुप्तजी ने एक भी ऐसे गीत का निर्माण नहीं किया है जो भारतवर्ष के अथवा उसमें निवास करने वाले महान् हिन्दू समाज के हृदय को हिला दे। यह है भी बड़े आश्चर्य की बात कि उन्होंने अपने गीति-काव्य के प्रवाह को अपने कवि-व्यक्तित्व के प्रवाह के अनुकूल प्रवाहित नहीं किया। 'झंकार' के गीतों में उन्होंने रहस्यवाद के पथ पर चलने का प्रयास किया है, तथा 'साकेत' और 'यशोधरा' में पति-वियोगिनी नारी की पीड़ा को व्यक्त करने की चेष्टा की है। क्या ही अच्छा होता यदि 'उर्म्मिला' और 'यशोधरा' अपने पति-वियोग को भुला कर लोक-सङ्कट के निवारण में दत्तचित्त हो जातीं और अपनी आहों और

आँसुओं को व्यक्तिगत पीड़ा की अभिव्यक्ति के लिए नियुक्त न कर के लोक के कष्ट को दूर करने के लिए प्रयोजित करतीं। उस अवस्था में इन दोनों ही महिलाओं की पीड़ा का मूल्य कहीं अधिक बढ़ जाता।

व्यक्तिगत दुःख व्यक्तिगत स्वार्थ की पीड़ा से युक्त होने पर भी उर्म्मिला और यशोधरा के दुख में एक विशेषता है। वह लोक के स्वार्थ में अपने स्वार्थ को निमज्जित कर देता है, और इसी प्रकार शुद्ध भी हो जाता है। उदाहरण के लिए उर्म्मिला कहती है:—

"सिर माथे तेरा यह दान,
हे मेरे प्रेरक भगवान।
अब मैं माँगू भला आर क्या फैला कर ये हाथ?
मुझे भूल कर ही त्रिभुभव में विचरें मेरे नाथ,
मुझे न भूले उनका ध्यान,
हे मेरे प्रेरक भगवान।
डूब बची लक्ष्मी पानी में सती आग में पैठ,
जिये उर्म्मिला करे प्रतीक्षा सहे सभी घर बैठ।
विधि से चलता रहे विधान,
हे मेरे प्रेरक भगवान।
दहन दिया तो भला सहन क्या होगा तुझे अदेय?
प्रभु की इच्छा पूर हो, जिसमें ही सब का श्रेय।
यही रुदन है मेरा गान,
हे मेरे प्रेरक भगवान!"

उर्म्मिला विश्व-प्रेमिका नहीं है, वह अपने पति की प्रेमिका है। पति की प्रेमिका होकर ही वह पति के आदर्श-प्रेम और उसमें गर्भित त्याग, तपस्या सभी कुछ पर अपने आपको निछावर करती है। वह विवश होकर प्रभु की इच्छा में, सब के श्रेय में अपने आप को निमग्न कर देती है।

लगभग उर्म्मिला ही की तरह यशोधरा भी विश्व-प्रेम के साथ समझौता करती है। राहुल के यह कहने पर कि माँ, तुझे मन के अधीन न होना चाहिए, उसका तो शासन ही करना चाहिए, यशोधरा कहती है:—

"यह जन शासक न होता मन का यहाँ,
तात ! तो चला न जाता, धन उसका जहाँ ?
भार रखती हूँ उस शासन का जब मैं,
हलकी न हाऊँ नेक रोकर भी तब मैं,
चिपल तुरङ्ग को कशा भी नहीं मारते,
हाथ फेर अन्त में उसे हैं पुचकारते।
रखती हूँ मन को दबा कर ही सर्वदा,
साँस भी न लेने दूँ उसे क्या मैं यदा-कदा ?
कण्ठ जब रुँधता है तब कुछ रोती हूँ,
होंगे गत जन्म के ही मैल उन्हें धोती हूँ ?

× × ×

रोती हूँ, परन्तु क्या किसी का कुछ लेती हूँ ?
नीरस न हो रसा में नीर ही तो देती हूँ।"

ठीक है, बेचारी यशोधरा रोकर किसो को कोई हानि तो पहुँचातीं नहीं। और इस रोने के लिए यह विवश भी है। आखिर वह अपने जी को किताना समझावे ? बहुत अधिक आंखें दिखाने से, बहुत अधिक ताड़ना देने से कहीं मन रूपी चञ्चल घोड़ा एक दम से बन्धन तोड़कर भाग जाय तो फिर वह क्या करेगी ? इसलिए कभी कभी वह रास ढीली भी कर देती है। इसे वही अपनी दुर्बलता मानती है, तभी तो वह कहती है कि पूर्व जन्म के मैल को मैं आँसुओं से धो रही हूँ। उसका कहना ठीक है; ममता का मैल तो उसमें इतनी कठोर साधना के बाद भी लगा ही हुआ है। वह

क्यों बुद्ध के परिमित रूप को अपनाने के लिए इतनी व्याकुल है; जो विश्व भर में बँट चुका, जिस पर सब का समान अधिकार हो चुका, उसे विशेष रूप से अपनाने के लिए वह क्यों कामनामयी है ? वह क्यों कहती है:—

"पहले हो तुम यशोधरा के,
पीछे होगे किसी परा के,
× × ×
देखूँ एकाकी क्या लोगे ?
गोपा भी लेगी तुम दोगे।
मेरे हो, तो मेरे होगे,
भूले हो, पहचानो।
चाहे तुम सम्बन्ध न मानो।"

नहीं, हम यशोधरा के प्रति निष्ठुर न हों, वह लाड़-प्यार से पाली-पोसी गयी राजकुमारी; सुन्दरियों में अनिन्द्य सुन्दरी, कपिलवस्तु युवराज की दुलारी पत्नी एकाएक विश्व की प्रेमिका बन कर अपनी ममता, अपने अहम्भाव, अपने स्वाभिमान को भुला तो नहीं सकती। किन्तु कठिनाई तो यही है कि विश्व प्रेम की सन्तति को अंक में धारण करने के लिए इस अधिकार-भावना के त्याग की प्रसववेदना तो सहन करनी ही पड़ेगी।

अन्त में उर्मिला ही की तरह यशोधरा को भी विश्व-प्रेम की व्यापक भावना के प्रति आत्म समर्पण करना ही पड़ा है। बुद्धदेव के पधारने पर राहुल का भेंट देते हुए उसको कहना पड़ा है:—

"मेरे दुख में भरा विश्व-सुख क्यों न भरूँ फिर मैं हामी।
बुद्धं शरणं, धर्मं शरणं, संघं शरणं गच्छामिऽ।"

पाठक देखेंगे कि उर्मिला और यशोधरा के लिए विश्व प्रेम गान की वस्तु नहीं हैं; उसे वे विवश होकर स्वीकार करती हैं। उनका व्यक्तिगत दुःख निन्दनीय नहीं है, क्योंकि भोग-विलास के वातावरण

में, विश्व के दुःख से बहुत दूर, फूलों की सेज पर सोने वाली इन राजवधुओं को वही साधना का कष्टकर किन्तु अनिवार्य्य तपस्या का अवसर प्रस्तुत कर सका है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्तजी का गीति काव्य न तो विश्व-प्रेम अथवा ईश्वर-प्रेम से उपकरण संग्रह कर सका है और न देश-प्रेम से; हिन्दू समाज की करुणाजनक परिस्थिति से भी वह अपने आपको अनुप्राणित नहीं कर पाया है। कल्पना का आश्रय ग्रहण करके भारत का एक ऐसा चित्र ही वह हमारे सम्मुख उपस्थित कर सका है, जो वर्त्तमान प्रकृति अवस्था से तुलना किये जाने पर कृत्रिमतापूर्ण ही समझ पड़ता है। एक गीत की कुछ पंक्तियाँ देखिए:—

"मेरे भारत ! मेरे देश !
बलिहारी तेरा वर वेश।
बाहर मुकुट विभूषित भाल,
भीतर जटा-जूट का जाल।
ऊपर नभ नीचे पाताल,
और बीच में तू प्रणपाल।
बन्धन में भी मुक्ति निवेश।
मेरे भारत मेरे देश।
इधर विविध लीला-विस्तार।
उधर गुणी का भी परिहार।
जिधर देखिए एकाकार।
किधर कहें हप तेरा द्वार।
हृदय कहीं से करे प्रवेश।
मेरे भारत मेरे देश।

तो फिर गुप्तजी के काव्य का मर्म्म-स्थल कहाँ है? हम देखते आये हैं कि समाज की कल्याण-कामना की ओर उनकी कवि-कल्पना

अशान्त रूप से उन्हें प्रेरित करती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्यक्ति की साधना अनिवार्य्यतः आवश्यक है। इसी व्यक्ति-साधना का गान उन्होंने अपने गीति-काव्य में किया है—वह साधना 'जो व्यक्ति के अहङ्कार को, स्वार्थ को चूर्ण-चूर्ण करके समाज के लिए उसे अधिक से अधिक उपयोगी बनाने में समर्थ हो सकती है।

गुप्तजी के काव्य में रहस्यवाद अथवा छायावाद

समाज और साहित्य की प्रवृत्तियों में कितनी घनिष्टता रहती है, समाज की प्रवृत्तियों से कितनी प्रचुर मात्रा में साहित्य उपादान का संग्रह करता है और साहित्य अपनी ऊँची कल्पना, गहरी अनुभूति तथा संगीतमयी वाणी द्वारा कितनी अधिक मात्रा में समाज को सावधानता प्रदान करता रहता है, इसकी चर्चा की जा चुकी है। इस सिद्धान्त का प्रयोग जब हम वर्त्तमान हिन्दी-काव्य में रहस्यवाद अथवा छायावाद के प्रवेश पर उसके आगमन के रहस्य-चिन्तन के लिए करते हैं तो समझ में नहीं आता कि काव्य की इस धारा को हमारे वर्त्तमान जीवन में कहाँ से उद्‌गम प्राप्त हुआ। हमारे वर्त्तमान जीवन में इतना अपमान, इतना दैन्य, इतना संकोच प्रविष्ट हो गया है कि ईश्वर का स्मरण भी हम इस समय इसीलिए कर सकते हैं कि वह हमारी बेड़ियों को तोड़ने में सहायक हो। ईश्वर की सर्व-व्यापकता और अद्वैतता इस समय हमारे किसी काम का नहीं; हमें तो उसके उस रूप की आवश्यकता है जो हमारे सामने खड़ा होकर हमारी आर्त्ति का हरण करे। जिस समाज में हमारा जीवन इस समय व्यतीत हो रहा है उसके आदर्श और लोकमत के सम्बन्ध में कुछ निवेदन किया जा चुका है; इस काल के श्रेष्ठ कवि को इस आदर्श और लोकमत की त्रुटियों की ओर मार्मिक संकेत करके या तो और भी ऊँचे आदर्श और लोकमत की प्रतिष्ठा

में तत्पर होना चाहिए या वर्त्तमान आदर्श और लोकमत ही से सामग्री का संचय करके उसे कवित्वपूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान करनी चाहिये। रहस्यवाद अथवा छायावाद में प्रवृत्त वर्त्तमान कवियों ने हमारे समाज के वर्त्तमान आदर्श और लोकमत की अपूर्णता की ओर दृष्टिपात करने का साहस नहीं किया है; उन्होंने केवल उसकी मधुर उपेक्षा की है। वर्त्तमान युग में स्वराज्य का आदर्श भारतीय स्वाधीनता संग्राम के आदर्श के रूप में विकसित हो गया है—यह आदर्श जो समाज की सदियों की गुलामी को, सदियों के कोढ़ को धो डालने के लिए उद्यत होकर आया है। यह आदर्श जीवन में सिद्धि की प्राप्ति के लिये हृदय का रक्त माँगता है, सिर का बलिदान चाहता है। यदि समाज ने इस आदर्श को स्वीकार कर लिया तो उसे अमरत्व का अथवा दीर्घ जीवन का वरदान मिलेगा; इसके विपरीत यदि उसकी ओर से आँखें फेरी तो उसका दण्ड होगा मरण। ऐसी अवस्था में वर्त्तमान कवित्व के लिये यह अनिवार्य्यतः आवश्यक है कि वह प्रस्तुत आदर्श का गान करें अथवा उसे आत्मसात् कर आगे बढ़े, जैसे नदी का प्रखर प्रवाह तट के कगारे को तोड़ कर अपना पथ परिष्कृत करता है। जब छायावाद इन दो कामों में से एक काम भी नहीं कर सका तब इस स्थिति में उनकी मधुरता और सुकुमारता को हम रामचन्द्र अथवा कृष्ण की मधुरता और सुकुमारता नहीं कह सकते, जो आवश्यक होने पर रावण अथवा कंस जैसे पराक्रमी विरोधी का भी वध कर सकी।

छायावाद की ओर आधुनिक हिन्दी कवियों के आकर्षित होने के अनेक प्रबल कारण है। (१) बहिर्जगत् के चित्रण में उतना माधुर्य्य नहीं है जितना आन्तर्जगत् के चित्रण में; (२) विराट् प्राकृतिक पदार्थों को मानवी रूप में कल्पित करके, उनमें मानवी भावों का आरोप करके काव्य-कला के लिए जिस साधन का संचय किया जाता है उसके कारण कविता में एक अनूठे मिठास की वृद्धि हो जाती है; (३) क्षुद्र पदार्थों के अन्तस्तल में पैठ कर उनके विराट

रूप को अंकित करने की चेष्टा से एक अनूठे चमत्कार की सृष्टि हो जाती है; (४) अन्तर्जगत् के चित्रण में भी जब कवि किसी अज्ञात, अदृष्ट प्रेमिक या प्रेयसी के लिए प्रेयसी अथवा प्रेमिक के रूप में अपने मनोभाव व्यक्त करता है, तब स्वभावतः उसके माधुर्य्य में वृद्धि हो जाती हैं। इन विशेषताओं के कारण छायावाद ने हिन्दी कवियों को उसी प्रकार सम्मोहित कर लिया है जिस प्रकार नागरिक ऐश्वर्य्य से सम्पन्न कोई युवती किसी ऐसे दीन कृषक के मन को खींच ले जो दिन रात के एक ही ढंग के परिश्रमपूर्ण जीवन से ऊब गया हो। रसहीन नारी-सौन्दर्य्यमूलक, और बाद को अधिकांश में प्राणशून्य देशभक्तिमूलक, विषयों ने हिन्दी-काव्य की प्रगति को कुण्ठित कर दिया था और वह पिष्टपेषण से ऊब कर नवीनता का प्यासा बन बैठा था। स्वयं भारतेन्दु में उस कल्पना और अनुभूति का अभाव नहीं था जो परिस्थिति के अन्तस्तल में पैठ कर समाज के लिए आदर्श और लोकमत का निर्माण कर सकती है; उन्होंने देश भक्ति की जो कविताएँ लिखी हैं उनमें बड़ी मार्मिकता है। किन्तु उनका अनुसरण करनेवाले कवियों ने प्रायः लकीर ही पीटी। इस कारण हिन्दी कविता मनुष्य की आराधना से विमुख होकर, उसमें अपने हृदय की रुचि न पाकर, ईश्वर के लिए प्रायः एक झूठी भूख का अनुभव करती हुई आगे बढ़ी। भारतेन्दु के जिन परवर्त्ती कवियों ने मनुष्य की अराधना को अपनाया, उनमें गुप्तजी का एक विशेष स्थान है। मनुष्य के दुःख को कवि वाणी में अभिव्यक्ति प्रदान करने की चेष्टा में असफलता का अनुभव करके तथा काल की प्रेरणा से प्रभावित होकर गुप्तजी को भी छायावाद की ओर आकर्षित होना पड़ा।

छायावाद की ओर गुप्तजी आकर्षित तो हुए, किन्तु अनन्त की झूठी तलाश में वे अपने आपको अधिक समय तक लगाये नहीं रह सके। छायावादी के स्वर में स्वर मिला कर उन्होंने कहा—

'थे, हो और रहोगे जब तुम,
थी, हूँ, और सदैव रहूँगी।
कल निर्मल जल की धारा सी
आज यहाँ कल वहाँ बहूँगी।

× × ×

दूती बैठी हूँ सज कर मैं
ले चल शीघ्र मिलूँ प्रियतम से।
धाम धरा धन सब तज कर मैं।

× × ×

अच्छी आँख मिलौनी खेली,
बार बार तुम छिपो और मैं
खोजूँ तुम्हें अकेली।

× × ×

कर प्रहार, हाँ, कर प्राहर तू,
मार नहीं यह तो है प्यार,
प्यारे, और कहूँ क्या तुझ से;
प्रस्तुत हूँ मैं, हूँ तैयार।

× × ×

जैसा वायु बहा वैसा ही
वेणु-रन्ध्र-रव छाया।
जैसा धक्का लगा लहर ने
वैसा ही बल खाया।

× × ×

मेरे तार तार से तेरी
तान तान का हो विस्तार,
अपनी अँगुली के धक्के से
खोल अखिल श्रुतियों के द्वार।

उक्त पंक्तियों में जीवात्मा तथा परमात्मा के विविध सम्बन्धों का अङ्कन किया गया है। कवि जीवन के आघातों का स्वागत करता है; क्योंकि उन्हीं से तो झङ्कार उठेगी। दैनिक जीवन से मिलने वाली विषाद की चोट के सम्बन्ध में कवि कहता है कि वह तो प्रियतम का प्यार मात्र है; उनके प्यार को पाकर हमें प्रसन्न होना चाहिए, न कि व्यथित।

अच्छा तो यह वीणा कब तक बजेगी? यह सृष्टि कब तक चलेगी, कवि अपने भगवान् से कहता है:—

"तुम्हारी वीणा है अनमोल।
हे विराट! जिसके दो तूँबे
हैं भूगोल खगोल।
इसे बजाते हो तुम जब लों,
नाचेंगे हम सब भी तब लों,
चलने दो न कहो कुछ कब लों।
यह क्रीणा कल्लोल।
तुम्हारी वीणा है अनमोल।"

परमात्मा की माया के कारण यह जीव किस प्रकार बद्ध हुआ और फिर उन्हीं के बन्धन खोल देने से किस प्रकार मुक्त हुआ—यह भाव गुप्तजी ने निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त किया है:—

"अरे, डराते हो क्यों मुझको
कह कर उसका अटल विधान?
'कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं'
है स्वतन्त्र मेरा भगवान।
उत्तर उसे आप लेना है।
नहीं दूसरों को देना है।
मेरी नाव किसे खेना है?
जो है वैसा दया-निधान।

अरे, डराते हो क्यों मुझको
कह कर उसका अटल विधान ?"

किन्तु यह अद्वैत भाव उन लोगों को प्रिय नहीं हो सकता जो जीवन-रस के रसिक हैं। एक दूसरे गीत में गुप्तजी कहते हैं:—

बड़े यत्न से माला गूँथी
किसे इसे पहनाऊँ ?
अरे खोजती हूँ मैं किसको ?
मैं ही क्यों न पहन लूँ इसको,
श्रम करके गूँथा है जिसको,
पर निज मुख से निज कर चुम्बन
कर किस भाँति अघाऊँ।
बड़े यत्न से माला गूँथी
किसे इसे पहनाऊँ ?"

माला के पहनने के लिए किसी प्रियतम की प्राप्ति होनी चाहिये। द्वैतभाव के बिना इस प्रियतम की खोज कैसे हो सकती है ?

निस्सन्देह अद्वैत में लीन हो जाना ही जीवन का उद्देश्य है; किन्तु ऐसी स्थिति के लिये अस्वाभाविक शीघ्रता न केवल अद्वैत से दूर ले जा फेंकती है, किन्तु द्वैत के आनन्द से भी वञ्चित कर देती है।

अन्त में प्रियतम से मिलकर एक तो हो ही जाना है; किन्तु इस अखण्ड आनन्द के पहले द्वैत भाव से उत्पन्न होने वाली उत्कण्ठा के अपूर्व रस का आस्वादन क्यों न किया जाय ? गुप्तजी की मानव व्यक्तित्व-रूपिणी उत्कण्ठिता नायिका दूती से कहती है:—

"धन्य हुई हूँ इस धरती पर,
निज जीवन-धन को भज कर मैं।
बस अब उनके अङ्ग लगूँगी
उनकी वीणा सी बज कर मैं।"

नायिका श्रृंगार करके बैठी हुई है; वह उन्हें सर्वस्व समर्पण कर देगी; प्रियतम को सर्वस्व का उपहार देने में भी कितना रस है ! क्या अद्वैत भाव इस प्रेमिका की उमङ्गों को कुचल देगा ?

नायिका प्रियतम से कहती है—मेरा और तुम्हारा सदा का सङ्ग है । तुम अनादि हो, मैं भी अनादि हूँ, तुम अनन्त हो, मैं भी अनन्त हूँ:—

"रोको मत, छेड़ो मत कोई मुझे राह में
चलता हूँ आज किसी चंचल की चाह में
काँटे लगने हैं, लगें उनको सराहिए,
कण्टक निकालने को कण्टक ही चाहिए,
घहरा रहे हैं घन चिन्ता नहीं इनकी
अवधि न बीत जाय हाय चार दिन की।
छाया है अँधेरा, रहे, लक्ष्य है समक्ष ही,
दीप्ति मुझे देगा अभिराम कृष्ण पक्ष ही।

× × ×

मौत जिये जा रही है, तो फिर क्या डर है ?
दूती वह प्रिय की है, दूर नहीं घर है।"

उक्त पंक्तियों में यात्री पुरुष न होकर स्त्री होती और वह 'चलता हूँ' न कह कर 'चलती हूँ' कहती तो कविता में अधिक सरसता आ जाती। अन्तिम पंक्ति में 'दूती' और प्रिय' के प्रयोग के कारण ही इन प्रयोगों की सार्थकता बढ़ जाती है । अस्तु,

गुप्तजी को यह छायावादी प्रवास रुचा नहीं; उन्होंने चेहरे पर से नकाब हटा कर स्पष्ट शब्दों में अपने राम का गुणगान किया—

"निर्बल का बल राम है।
हृदय! भय का क्या काम है।
[illegible] वही कि पतितपावन जो।
परम दया का धाम है।

इस भवसागर से उद्धारक
तारक जिसका नाम है।
हृदय, भय का क्या काम है।"

गुप्तजी के व्यक्तित्व का प्रवाह छायावाद की ओर नहीं है, यह उनकी निम्न-लिखित पंक्तियाँ ही घोषित करती हैः—

"कवित्व स्वच्छन्दतापूर्वक स्वर्ग के छायापथ पर आनन्द से गुनगुनाता हुआ विचरण करे, अथवा वह स्वर्गगङ्गा के निर्मल प्रवाह में निमग्न होकर अपने पृथ्वीतल के पापों का प्रक्षालन करे। लेखक [अर्थात् गुप्तजी] उसे आयत्त करने की चेष्टा नहीं करता। उसकी तुच्छ तुकबन्दी सीधे मार्ग से चलती हुई राष्ट्र किंवा जातिगंगा में ही एक डुबकी लगा कर 'हरगंगा' गा सके तो वह इतने में ही कृतकृत्य हो जायगा। कहीं उसमें कुछ बातों का उल्लेख भी हो जाय तो फिर कहना ही क्या है? × × × वह स्वर्गीय कवित्व की साधना का अधिकारी नहीं होता, तो कदाचित् यह लिखने न बैठता कि—

"छुरे काटने हैं जो नार।
होते हैं बहुधा सविकार।"

प्रत्युत स्वर्गलोक में, बधिर श्रवणों से किसी अनजान का नीरव गान अथवा मूक आह्वान सुना-अनसुना करके चिल्ला उठता—

"गूँज उठा तेरा अनजान।
स्वर्ग लोक में नीरव गान।"

हाय! लेखक कहीं जनसाधारण का ही कवि हो सकता।

वर्त्तमान हिन्दी-साहित्य में यदि कोई भी ऐसा है, जिसे हम जनसाधारण का कवि कह सकते हैं तो वह गुप्तजी ही हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। उनकी निम्न-लिखित पंक्तियों से राष्ट्र किंवा जातिगंगा में स्नान करने की उनकी लगन का पता चलता हैः—

"हमने 'अहिंसा परमो धर्मः' धारण करके अपनी दिग्विजय

से हाथ खींच लिये; परन्तु दूसरों ने हम पर आक्रमण करना न छोड़ा। हम किसी की हिंसा नहीं करना चाहते, परन्तु हमारी भी तो कोई हत्या न करे। तथापि हुआ यही। हमारी अतिरिक्त करुणा ने हमें दूसरों के समक्ष दुर्बल बना दिया। हमने हथियार रख कर उठने बैठने का स्थान धीरे से झाड़ देने के लिये एक प्रकार की मृदुल मार्जनी धारण कर ली, जिसमें कोई जीव नीचे न दब जाय; परन्तु दूसरों ने हथियार न रक्खे और स्वयं हमी दबा लिये गये। हमारी गो-रक्षा की अति ने विपक्षियों की सेना व सामने गायों को खड़ा देख कर शस्त्र-संधान करना स्वीकार न किया; परन्तु इससे न गायों की रक्षा हुई और न हमारी, जो उनके रक्षक थे। विधर्मियों ने गाँव के एक मात्र कुएँ में थूक दिया, बस गाँव ही अहिन्दू हो गया।"

इतना लिखने के बाद गुप्तजी कहते हैं:—

"ऐसी अवस्था में कवित्व हमें क्या उपदेश देगा? उपदेश देना उसका काम नहीं। न सही; परन्तु आपत्ति काल में मर्य्यादा का विचार नहीं। और क्या सचमुच कवित्व उपदेश नहीं देता?

× × ×

मन महाराज तो पथ्य की ओर दृष्टि भी नहीं डालना चाहते, लाख उपदेश दीजिए, जब तक पथ्य मधुर किंवा रुचिकर नहीं तब तक वे उसे छूने के नहीं। कवित्व ही उनके पथ्य को मधुर बना कर परोस सकता है।"

इन पंक्तियों से प्रगट है कि गुप्तजी छायावाद की सम्मोहिनी नगरी के प्रकृत नागरिक नहीं; वे तो उसके रूप लावण्य पर लुभाकर थोड़ी देर के लिए बिलम गये थे। इतना ही नहीं; देश के वर्त्तमान आदर्श और लोकमत के प्रति जिस 'मधुर उपेक्षा' की चर्चा ऊपर की जा चुकी है उसकी उन्होंने आलोचना की भी है:—

"महाभारतीय युद्ध के समय, कुरुक्षेत्र में अर्जुन को जो करुणा

और ममता उत्पन्न हुई थी वह भी एक स्वर्ग की भावना थी × × × × अर्जुन का मोह देखकर सौन्दर्यलोभी कवित्व उससे

"विषय बेला में तुझको ओह ?
कहने से उपजा यह व्यामोह ?"

कहने के बदले कहीं स्वयं मोह से ही न कह उठे कि

"कहाँ ओ कम्पित पुलकित मोह ?
अरे हट, किन्तु ठहर जा ओह ?
देख लूँ क्षण भर तेरा रूप ।
गद्गद रोम रोम रस कूप ।"

अर्जुन की वह ममता स्वर्गीय थी तो वह सहृदयता, मार्मिकता अथवा सौन्दर्योपासना भी स्वर्गीय है !"

गुप्तजी के इस कथन में यथार्थता है। हमारे कर्तव्य कर्म परिस्थिति के प्रति सापेक्ष होते हैं, एक देश और काल में जिस कार्य्य को कर्त्तव्य की संज्ञा मिलती है उसी को अन्य देश और काल में मोह का नाम प्राप्त हो सकता है। छायावादी कविता जिस परलोक से उतर कर आयी थी उसने नीरस पद-रचना-विशिष्ट देश-भक्ति मूलक तुकबंदियों के काल में एक संदेश प्रदान किया था, अनुरंजना से मिलने वाले रस का संचार किया था; किन्तु कठोर कर्मण्यता का आवाहन करनेवाले हमारे वर्त्तमान सामाजिक जीवन की बुभुक्षा तृप्त करने, प्यास मिटाने की शक्ति उसमें नहीं है; गाँव से शहर जाने पर बाजार में हम कभी-कभी चाकलेट मिठाई खा आते हैं और सोडावाटर पी लेते हैं; लेकिन यह हमारा प्रकृत जीवन नहीं, उससे न भूख जाती है, न प्यास मिटती है । कच्ची भूख में, या भूख न खुली रहने पर चाकलेट भी हमारा मनोरंजन कर सकती है; किन्तु अब हमें आहार चाहिये, वह आहार जो हमारे शरीर में नवीन पोषक रक्त का संचार कर देगा। यदि यह कार्य्य

छायावादी कविता ने न किया तो हमारे वर्त्तमान सामाजिक जीवन के प्रवाह से वह छिन्न-भिन्न हो जायगा, उसमें उससे भी अधिक कलुष का संचार हो जायगा जितना राधाकृष्णमूलक कविताओं में पैठ सका था।

गुप्तजी की उक्त आलोचना तो ठीक है, किन्तु स्वयं 'हिन्दू' नामक उस ग्रन्थ की जिनकी भूमिका में इसे स्थान मिला है, कविता ठीक रास्ते पर चल नहीं सकी है। छायावादी कविता की स्वर्णमयी लङ्कापुरी पर अगर किसी शैली के काव्य को विजय मिल सकती है तो वह एक तो गम्भीर अनुभूतिपरक ईश्वर-काव्य को और दूसरे गम्भीर अनुभूतिपरक राष्ट्र-जागरण की गर्जना करने वाले काव्य को—सरल भाषा में सर्वप्रिय तथा काव्य-संगीत के अनुकूल छन्दों में लिखे गये काव्य को। रङ्क की वासनालोलुपता हमेशा रङ्गीनी के नीचे दबी पड़ी रहेगी, यदि वह रंगीनी को परास्त करना चाहती है तो उसकी अपेक्षा करके वह ऐसा नहीं कर सकेगी, उसे रंगीनी को आत्मसात् करके आगे बढ़ना पड़ेगा और संतोष और सारल्य की गोद में विश्राम करना होगा। गुप्तजी ने जिस 'हिन्दू' नामक पुस्तक को लेकर छायावादी किले पर चढ़ाई की उसमें न ईश्वर की प्यास है, न राष्ट्रीय-जागरण की प्रखर वेदना है! ऐसी ही रचनाएँ वास्तव में छायावादी कविता की माँग को बनाये रहेंगी।

गुप्तजी ने 'हिन्दू' में प्रकाशित भूमिका को उसमें न सम्मिलित करके 'साकेत', 'यशोधरा' अथवा 'द्वापर' के साथ संयोजित किया होता तो यह कहीं अधिक अच्छा होता। 'छायावाद' में जो सुन्दर तत्त्व समाविष्ट है उसको उन्होंने इन ग्रन्थों में यथेष्ट मात्रा में अपना लिया है। इसकी चर्चा अन्यत्र की गई है, यहाँ इतना ही कथन पर्य्याप्त है कि 'छायावाद' को गुप्तजी के काव्य में अधिक कलात्मकता का सन्निवेश करने का श्रेय मिलना चाहिये। आधुनिक हिंदी-काव्य में कला का प्रवेश कराने में वही सफल हुआ है और जब प्रवाह उसे छोड़कर अन्यत्र चला जायगा तब भी हिन्दी-साहित्य में वह अपनी कीर्ति छोड़ जायगा और उसकी यह कीर्ति भी कम न समझी जानी चाहिये कि उसने

गुप्तजी जैसे उपयोगितावादी कवि को भी अपनी ओर खींच लिया और अगर अपना पूर्ण भक्त नहीं बनाया तो कम से कम किसी हद तक तो बना ही लिया।

गुप्तजी के तीन नाटक

गुप्तजी की नाट्यशैली की असफलता के सम्बन्ध में इशारा किया जा चुका है, उसमें क्या अभाव है, इस विषय में यहाँ कुछ कहना आवश्यक है।

अपने जीवन में हम असत्य के पुञ्ज में से सत्य की तलाश में लगे रहते हैं। कभी कभी ऐसा होता है कि हम एक असत्य के चंगुल में से निकल कर दूसरे असत्य के जबड़ों के भीतर पहुँच जाते हैं। ऐसी अवस्था में केवल सत्य ही, वह सत्य जो उभय असत्य से ऊँचा होता है, हमारी रक्षा कर सकता है। किन्तु यदि इस सत्य को ढूँढ़ निकालने में हमने सफलता न पायी, तो यह निश्चित है कि हम असत्य ही के आहार हो जायँगे।

असत्य का भयङ्कर रूप हमारा ग्रास करने के लिए मुँह फैलाकर हमारी ओर दौड़ता है, उससे हम इतने अभिभूत हो जाते हैं, भय के कारण इतने किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं कि प्रायः पास ही खड़े अपने उद्धारक सत्य की ओर आँख डालने में भी असमर्थ हो जाते हैं। किन्तु हमीं में कुछ ऐसे समर्थ-चेता होते हैं जो कल्याणकारी सत्य को पहचान लेते हैं और हमारे सामने उसका ऐसा रूप प्रस्तुत करते हैं जिसमें सफल उद्बोधन की अधिक से अधिक शक्ति रखती है। इन समर्थ चेताओं में नाटककार का एक प्रधान स्थान है। उसी की अभिव्यक्ति की कला को नाटकीय कला की संज्ञा दी जाती है।

कहानी, उपन्यास, खंडकाव्य, महाकाव्य, आदि जो कलाकार की

कला के व्यक्त होने के अनेक साधन हैं, उनमें नाटकीय कला का ऊँचा ही नहीं, प्रायः सबसे ऊँचा स्थान है। इसका कारण यह है कि जहाँ अन्य साधनों में मनुष्य अपनी साधारण स्थितियों में, विराम अथवा प्रखर प्रगति की मन्दता की अवस्थाओं में भी अंकित किया जाता है वहाँ नाटकीय कला मनुष्य की तीव्र क्रियाशीलता और प्रगति-तत्परता ही में विहार करती है।

नाटककार चाहे तो समाज के प्रचलित आदर्श और लोकमत से ऊँचे आदर्श और लोकमत की खोज करे, चाहे तो प्रचलित आदर्श और लोकमत ही को अंकित करने का प्रयत्न करें; किन्तु किसी भी अवस्था में वह निम्न आदर्श और निम्न लोकमत का अंकन करने की ओर प्रवृत्त न हो। यदि प्रचलित आदर्श और लोकमत ही को चित्रित करने का उसने निश्चय किया हो तो उसे उक्त आदर्श और लोकमत का सामाजिक जीवन में अनुभूति पाने से रोकने वाला अन्य समस्त प्रवृत्तियों का अध्ययन करना चाहिए और वह द्वन्द दिखलाना चाहिए जो अन्ततोगत्वा इन प्रवृत्तियों की निस्सारता सिद्ध करके प्रचलित आदर्श और लोकमत की श्रेष्ठता सिद्ध कर देगा।

यह बतलाया जा चुका है कि गुप्तजी प्रचलित आदर्श और लोकमत के ही अधीन रहकर कार्य्य करते रहे हैं। यह कथन उनके नाटकों के सम्बन्ध में भी सत्य है। अनघ, तिलोत्तमा और चन्द्रहास—इन तीन नाटकों की रचना उन्होंने की है। इन तीनों में जिस आदर्श और लोकमत के पक्ष में उन्होंने अपने आपको व्यक्त किया है, वह आधुनिक आदर्श और लोकमत ही है। किन्तु इनमें कसर यह है कि नाटककीय कला के अनुरूप इनमें द्वन्द्व नहीं दिखायी पड़ता। उदाहरण के लिए, अनघ के नायक मघ ने अपने आन्दोलन में जो सफलता प्राप्त कर ली, वही हमें अपने पिछले आन्दोलन में नहीं प्राप्त हो सकी। यदि मघ की परिस्थिति हमारी परिस्थिति

से अधिक भिन्न न होती तो सम्भवतः उसकी कार्यप्रणाली में हमें कवि से एक नवीन कर्म-शैली की सूचना भी प्राप्त होती। किन्तु मघ की परिस्थितियों को सरल बना कर नाटककार ने उसकी सफलता को भी सस्ती बना दिया। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने भी 'पथिक' में ऐसी ही सरल परिस्थितियों का निर्वाचन किया है। श्रीरामचन्द्र को तो रामायणकार ने सगुण ब्रह्म माना है। सगुण ब्रह्म का एक साधारण राक्षस के साथ युद्ध कैसा? किन्तु रामायणकार ने श्रीरामचन्द्र के पथ को सरल नहीं बनाया। सीता के उद्धार के लिए श्रीरामचन्द्र को चोटी का पसीना एड़ी तक बहाना पड़ा। महाभारत में भी पाण्डवों का पक्ष तो सत्य का पक्ष था; स्वयं श्रीकृष्ण भगवान उनके पृष्टपोषक थे, किन्तु अपनी सफलता के लिए पाण्डवों को प्राणपण से चेष्टा करनी पड़ी, बड़ी-बड़ीं दुर्दमनीय कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, ऐसी-ऐसी परिस्थितियाँ आयीं जब यह आशंका होने लगी कि कहीं असत्य ही सत्य को निगल न ले जाय। अत्यन्त प्रतिकूल परिस्थितियों में जब किसी आदर्श की विजय होती है—ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में जो समाज की समस्त प्रस्तुत कठिनाइयों से कहीं अधिक अदम्य होती है—तभी मानव-जीवन उसे हृदयङ्गम करने, अनुभव करने की चेष्टा करता है। राजा की महिषी के रूप में एक सहृदय रानी का निर्माण करके गुप्तजी ने अपनी कला के पथ में फूल तो बिछा लिये, किन्तु कला स्वयं ही अतृप्त रह गयी, क्योंकि वह फूलों पर नहीं, काँटों पर चलना पसन्द करती है। स्वयं मघ में बहुत सी सुन्दर विशेषताएँ है, वह पूर्ण तपस्वी है। सुरभि भी बड़ी ही अच्छी बालिका है। राजमहिषी की उदारता और लोक पीड़ा-कातरता को देखकर भावना होती है कि क्या ही अच्छा होता यदि भारत-भाग्य-विधाताओं को भी ऐसी ही देवियाँ मिली होती।

रानी अपने हृदय की इस विचित्र व्यथा को एक दिन राजा के सामने इस प्रकार प्रकट करती है:—

"उन लाखों लोगों के समीप,
दोषी सी हूँ मैं हे महीप।
जिनका रञ्जन है राज कर्म्म,
कर रूप वृत्ति पाकर सधर्म्म।
इस कारण यह ऐश्वर्य्य सर्व,
करता है उलटा गर्व खर्व।
मानों हम हैं इसके अपात्र,
यह है चोरी या लूट मात्र।
राज्ञी हूँ फिर भी हाय नाथ,
निज की कौड़ी तक नहीं हाथ।
लज्जा देती है मनस्ताप,
सुनती सी हूँ दूराभिशाप।
यह हरा-भरा मधुवन विशाल,
मानो लाखों का लाल रक्त।
पीकर भी भीतर शुष्क भूप,
है खड़ा झाड़ झंखाड़ रूप।
सुन सुन कर यहाँ पतंग गान,
होता है मुझको आप भान।
यह कोकिल-कल की कलित कूक,
पीड़ित हृदयों की हो न हूक।
मुझ पर प्रसून मिष सभी ओर,
हँसती है हरियाली कठोर।
या कलियों के मिष ये अनन्त,
दिखलाते हैं द्रुम दीन-दन्त!

रानी की इस सहृदयता का राजा पर उचित प्रभाव पड़ा, और जब भोजक ने अभियुक्त मत के विरुद्ध इस प्रकार दोषारोपण किया—

"देवि इन्होंने दिये गृहस्थों के घर धरने,
जिसमें जो ये कहें लगें वे सो सब करने।
अपराधी अब दण्ड नहीं पाने पाते हैं,
उन सब को ये बड़े प्रेम से अपनाते हैं;
स्वेच्छाचारी साम्यभाव पर ये मरते हैं।
शांति भंग कर आप शान्ति का दम भरते हैं।
कर मिलना भी कठिन हो रहा इनके मारे,
फिरते हैं स्वच्छन्द चोर, डाकू, हत्यारे!'

तब रानी की उदारतापूर्ण वृत्ति ने झूठ और अन्याय को पनपने का अवसर नहीं दिया; शीघ्र ही भाजक का दोषारोपण मिथ्या प्रमाणित हो गया और यह सिद्ध हो गया कि मघ ने उनके कथन के ठीक विपरीत कितने ही चोरों, डाकुओं और हत्यारों को उपयोगी कर्म्मचारियों के रूप में परिणत कर दिया था। इससे राजा ने प्रसन्न होकर न केवल मघ को मुक्त कर दिया बल्कि उसे एक प्रदेश का अधिकारी बनाने की इच्छा प्रगट की। महारानी ने सुरभि और मघ का विवाह कर दिया। ऐसा करते हुए उन्होंने मघ से कहा;—

"और तुम्हारी पुत्र-वधू यह सुरभि हुई है।
जो थी अमृता लता वही अब छुई मुई है।
मघ अपनी त्रुटि-पूर्त्ति इसे समझो सुख पाओ।"

सुरभि के हृदय-फूल में सुरभि अवश्य ही है, किन्तु दयामयी तथा प्रजा-दुख-कातरा महारानी की सृष्टि करके नाटककार ने उसे बहुत दबा दिया है; यहाँ तक कि मघ की पत्नी कहलाने, उसकी माता की चिन्ता का भार अपने ऊपर लेने तथा उसके कार्य्यों में एक योग्य स्त्री की तरह सहयोग करने के अतिरिक्त उसके जीवन में और कोई महत्वपूर्ण कार्य्य दिखायी ही नहीं पड़ता। इस दृष्टि से भी उसकी कुछ न कुछ उपयोगिता माननी ही पड़ेगी, किन्तु स्वयं नाटक की

प्रगति में वह कोई विशेष सहायक भाग नहीं लेती। उसके अभाव में सम्भव है, मघ की माता को कुछ असुविधा होती, मघ के कामों में भी शायद उतनी सरलता न आ पाती; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि नाटक का कोई भी काम न रुकता; अधिक से अधिक यही परिवर्त्तन होता कि शायद मघ की माँ पुत्र को देखने के लिए ग्राम-भोजक के यहाँ चली जाती। सुरभि के अभाव में भी, महारानी के उद्योग से, मघ का प्राण-दण्ड रुक सकता था। ऐसी स्थिति में नाटक की नायिका का जीवन-प्रसून इतने कमजोर धागे में गूँथना कुछ बहुत अच्छा नहीं समझ पड़ता।

महात्मा गाँधी के सत्याग्रह आन्दोलन ने कई अंशों में आधुनिक भारतीय साहित्य-सृष्टि को प्रभावित किया है; हिन्दी भी इस सत्यप्रभाव से बची नहीं है; पं० रामनरेश त्रिपाठी का 'पथिक' और गुप्तजी का 'अनघ' ऐसी ही सृष्टियाँ हैं। महात्मा गाँधी का आदर्श सामने रख पथिक का निर्माण किया गया है; और उन्हीं के व्यक्तित्व के तत्वों से 'अनघ' का नायक 'मघ' भी अनुप्राणित किया गया है। किन्तु कल्पना के अभाव ने दोनों ही कलाकारों की वस्तु-रचना का प्राण-हरण कर लिया है। छोटे से छोटे राज्य भी कुचक्रियों के अड्डे बने रहते हैं, और उनका संचालन प्रायः भीषण से भीषण और हिंसक से हिंसक विचारों वाले व्यक्तियों द्वारा होता है। ऐसी अवस्था में कथानक के प्रवाह को, कम से कम कठिनाइयाँ रख कर, प्रायः सरल और उन्मुक्त बना देने में कलाकार का उतना कौशल प्रगट होने का अवसर नहीं रह जाता जितनी विपरीत परिस्थिति में संभव है।

गुप्तजी ने अपने अन्य पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों की तरह इस ग्रन्थ में भी हमारे समाज की समस्याओं को हल करने की ओर ध्यान दिया है। देश-भक्तों से प्रायः कहा जाता है कि तुम किसी उपद्रव-शून्य स्थान में जाकर बसो और वहीं जनता का कल्याण करो। ग्राम-भोजक की स्त्री भी मघ से यही कहती है।

"विपुल है वसुधा का विस्तार,
चले जाओ अन्यत्र उदार!
जहाँ पर करे न राज्य विरोध,
न ठाने कोई वैर-विरोध।
वहाँ जाकर पालो निज धर्म्म,
करो लोकोपकारमय कर्म्म।"

देश-भक्ति का पक्ष लेकर नाटककार ने मघ के द्वारा कहलाया है:—

"अपेक्षा है मेरी इस ठौर,
कहो फिर जाऊँ मैं किस ठौर!
फेर लूँ जन्म भूमि से नेत्र।
जहाँ है मेरा कर्म्म-क्षेत्र।
लगा कर मैं विदेश पर कान।
करूँ अनसुना स्वदेशाह्वान?"

देश-भक्त से पूछा जाता है:—

"तुम्हें भी है क्या देश-विदेश?"

देश-भक्त उत्तर देता है:—

"आपका है यह न्याय-निदेश?
किन्तु है मेरा देश विपन्न,
विकृत बहु दोषों से आछन्न।
इसी से उस पर इतना लक्ष्य,
रुग्ण जन ही है पहले रक्ष्य।"

नाटककार ने उक्त उत्तर दिलाकर संसार भर में समता का भाव स्थापित करने के लिए लालायित देश-भक्त की स्वदेश विषयक प्रीति का कारण बता दिया है। उन्होंने इतना ही नहीं किया है, बल्कि देश-भक्ति को एक बहुत ऊँचे आधार पर अवलम्बित करके उसे विशेष गौरव प्रदान कर दिया है, उनका कथन है कि राजा प्रजा के बहुमत

की सृष्टि है, यदि वह बहुमत का विरोधी होता है तो प्रजा को नहीं, राजा को देश से अलग हो जाना चाहिए:—

"सुरभि, राज्य की नीति जिसे भावे नहीं।
राज्य छोड़ वह दूर चला जावे कहीं।
अथवा यदि वह वहीं जान कर भी रहे।
तो जो कुछ आ पड़े धैर्य्यपूर्वक सहे।"

इसका उत्तर प्रजा-हितैषी नाटककार ने इस प्रकार दिया है:—

प्रमुख महाशय, जाय प्रजा ही क्यों कहीं?
ऐसा नृप ही जाय राज्य से क्यों नहीं?
स्वयं प्रजा के सदाचार जाने न जो,
अथवा उसके धर्मकर्म माने न जो।"

कवि के स्पृश्यास्पृश्य-सम्बन्धी विचार, जिनका परिचय पाठकों को पूर्ववर्त्ती रचनाओं से मिल चुका है, इस नाटक में भी इस प्रकार व्यक्त हुए हैं:—

"इसका भी निर्णय हो जाय,
नहीं अछूत मनुज क्या हाय?
अपमानित अवनत वे दीन,
क्या पशुओं से भी हैं हीन?
मरें भले ही वे बेहाल,
तो भी उनकी न हो सँभाल।

× × ×

करें अशुचिता सब की दूर,
उनसे घृणा करे सो क्रूर।
जिनके बल पर खड़ा समाज,
रहती है शुचिता की लाज,
उनका त्राण न करना, खेद!
है अपना ही मूलोच्छेद।"

गीता की विचार-धारा की तरंगें इस ग्रन्थ में भी क्रीड़ा करती दृष्टिगोचर होती हैं:—

“मेरा प्रयत्न पूरा,
चाहे रहे अधूरा;
पर मैं उसे करूँगा,
सब विघ्न-भय तरूँगा।
फल हो न हाथ मेरे,
कर्त्तव्य साथ मेरे,
वैफल्य का वृथा भय
है मर्म्म-बीज अक्षय

× × ×

माँ पत्थर का हृदय करो, कातर न हो;
जो कुछ दे भगवान्, धैर्य्यपूर्वक सहो।
जब हों कर्म्म सकाम फलाफल हैं तभी;
डिगते हैं क्या धीर मृत्यु से भी कभी?”

गुप्तजी का प्रबन्ध-काव्य

[१]

‘रङ्ग में भंग’ नामक छोटी-सी रचना के प्रकाशन से गुप्तजी के ग्रन्थ-निर्माण-कार्य्य का श्रीगणेश सन् १९०९ में हुआ। मैं कह आया हूँ कि लगभग सन् १९०६ ई० से गुप्तजी की रचनाएँ ‘सरस्वती’ में स्थान पाने लगीं और उन्हें पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के बलशाली व्यक्तित्व का सहारा मिला। ‘रंग में भंग’ की भूमिका में द्विवेदीजी ने लिखा है:—

"इस देश के, विशेषकर राजपूताने के इतिहास में ऐसी अनन्त वीरोचित, गाढ़ देशभक्ति-दर्शक और गम्भीर गौरवास्पद घटनाएँ हुईं जो चिरस्मरणीय-योग्य हैं। उनको भूलना, उनसे शिक्षा न लेना, उनके महत्व को लेख, पुस्तक और कविता-द्वारा न बढ़ाना दुःख की बात है—दुर्भाग्य की बात है।

"जिस घटना के आधार पर यह कविता लिखी गयी है वह एक ऐतिहासिक घटना है, कोरी कवि-कल्पना नहीं। वह जितनी कारुणिक है, उतनी ही उपदेशपूर्ण भी है, इसी से उसके महत्व की महिमा बहुत अधिक है। यह तो कविता-गत वस्तु-वर्णन की बात हुई; रही स्वयं कविता, सो उसके विषय में कुछ कहने का अधिकार नहीं; इसलिए कि बाबू मैथिलीशरण गुप्त की रचना को हम प्यार करते हैं—उसे स्नेहार्द्र दृष्टि से देखते हैं।"

उक्त अवतरण के द्वितीय अनुच्छेद के प्रथम वाक्य पर पाठक ध्यान दें। कवि-कल्पना स्वयं ही एक मनोमोहक वस्तु है और उसका रसास्वादन भी जीवन का एक बहुत बड़ा आनन्द है। किन्तु जब एक ऐतिहासिक तथ्य-वर्णन काल्पनिक सौन्दर्य की सृष्टि से कम मनोरम न हो तो उसके आनन्द का क्या कहना! फिर तो उसकी स्थानीय स्थिति से उसमें एक विचित्र रोचकता का प्रादुर्भाव हो जाता है। उदाहरण के लिए, रामायण की आधी रोचकता का कारण यह है कि उसके पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, जिनमें थोड़ी-बहुत रंगीनी कर दी गयी है। अस्तु। गुप्तजी ने ऐतिहासिक महत्वपूर्ण घटनाओं, अर्द्ध-ऐतिहासिक आख्यानों तथा देश की वर्त्तमान परिस्थितियों को अपने काव्य का विषय बनाने का समारम्भ 'रङ्ग में भङ्ग' के प्रणयन के साथ ही किया। प्रबन्ध काव्य लिखने की उनकी प्रवृत्ति का उदय भी इसी रचना से होता है।

'रंग में भंग' में एक विवाह की शोकान्त कथा का वर्णन है; बूँदी के राजा वरसिंह के भाई गेनोली-नरेश लालसिंह की कन्या का विवाह चित्तौड़ के सीसोदिया 'खेतल' भूप के साथ निश्चित हुआ। इसी बीच में चित्तौड़ में पृथ्वी के गर्भ से एक मूर्ति निकली जो—

"एक कर नीचा नवाये एक ऊपर को किये।
एक कर सम्मुख बढ़ाये, एक ग्रीवा पर दिये।
चौभुजी वह मूर्त्ति मानों कह रही थी यों अभी।
हो खड़े, ऊँचे चढ़ो, आगे बढ़ो, देखो सभी।"

इस पर राजकवि बारू जी ने यह उक्ति की :—

"एक ऊँचा, एक नीचा, एक कर सम्मुख किये,
एक ग्रीवा पर धरें वह कह रही शोभा लिये—
स्वर्ग में, पाताल में, नृप आप-सा दानी नहीं,
शीश मैं अपना कटाऊँ जो मिले कोई कहीं।"

यह कवि की एक साधारण उक्ति थी। किन्तु जब इसका समाचार गेनोली के अधिपति लालसिंह को मिला, तब उन्होंने एक प्रकार के अपमान का अनुभव किया। विवाह-कार्य्य सम्पन्न हो जाने के बाद जब दुलहिन की विदाई का समय आया, तब लालसिंह के हृदय का अपमान, बारू जी को सामने देखकर, क्रोध के रूप में परिणत हो गया और उन्होंने कहा:—

"मूर्त्ति जो चित्तौड़ में थी मेदिनी-तल में पड़ी,
सुन कथा उसकी हमें होती कुतूहलता बड़ी।
और जो उसके विषय में गीति तुमने थी गढ़ी।
प्रकट है उससे तुम्हारी काव्य-शक्ति बढ़ी चढ़ी।
हर्ष है, तुमसे सुकवि हैं मान्य राना के यहाँ;
यह तुम्हारी योग्यता होती नहीं स्वीकृत कहाँ?
किन्तु फिर भी खेद से कहना हमें पड़ता यही—
काम अपने योग्य वह तुमने कदापि किया नहीं।

विज्ञ होकर भी अहो ? तुमने भला यह क्या किया ?
चाटुकारी में वृथा गौरव समस्त गँवा दिया।
दुरुपयोग न योग्य है करना कभी यों शक्ति का।
चाटुकारों में न होता लेश भी प्रभु-भक्ति का।
स्वर्ग में, पाताल में नृप ! आप-सा दानी नहीं,
क्या कलङ्कित इस कथन से की गयी वाणी नहीं।"

लालसिंह बारू जी से वास्तव में इसलिए नहीं नाराज थे कि उन्होंने चाटुकारी की थी; क्योंकि कहा नहीं जा सकता कि यदि वैसी ही चाटुकारी उनकी की जाती, तब भी वे अप्रसन्न ही होते। सच बात यह है कि बारूजी ने अपना निशाना उचित से ऊँचा कर दिया था और लालसिंह उपेक्षा में आत्म-गौरव-हानि समझकर पीड़ा से तिलमिला रहे थे। लालसिंह स्वयं ही एक उत्सर्गशील राजा थे और उनकी स्थिति एक क्षत्रिय की स्वाभाविक स्थिति थी। इस अपमान के अनुभव और तिलमिलाहट में ही लालसिंह के चरित्र की उच्चता निहित है। आवेश में आकर उन्होंने सिर तक दे देने की बात कह दी और उसी आवेश में यहाँ तक कह डाला—

"सत्य ही क्या, दूसरा दानी न राना सा कहीं !
शीश भी मुझसे कहो तो दान में दे दूँ यहीं।
यदि इसी पर तुम न माँगो तो तुम्हें धिक्कार है।
माँगने पर मैं न दूँ तो धिक् मुझे सौ बार है।
मूर्ति तो पाषाण की है क्या कटे उसका गला।
है मृतक सी जो स्वयं क्या मारना उसका भला।
किन्तु झूठी बात थी तुमने कही दरबार में,
तैर जाओ सो तुम्हीं निज खड्ग की खर धार में।"

बेचारे राजकवि ने लज्जा की पीड़ा सहन करने में असमर्थ होकर अपने खड्ग से अपना सिर काट डाला।

किन्तु बात यहीं कैसे समाप्त हो सकती थी ? वर-पक्ष के लोगों ने अपने राजकवि की इस आत्म-हत्या के कारण-स्वरूप लालसिंह से युद्ध ठान लिया। लालसिंह के बड़े भाई ने शान्ति स्थापित करने की चेष्टा की परन्तु उससे कुछ न हुआ। स्वयं जामाता राना खेतल लड़ने के लिए तैयार हुए, और उनका ऐसा करना सर्वथा उचित भी था। युद्ध में उनका स्वर्गारोहण भी हो गया। विधवा ने सती होकर पति का अनुगमन किया।

लालसिंह और राना खेतल के अतिरिक्त एक अन्य देदीप्यमान चरित्र इस काव्य के उत्तरार्द्ध में अङ्कित किया गया है। गेनोली के शोकान्त काण्ड का समाचार जब चित्तौड़ में पहुँचा तो राना ने चित्तौड़ के सिंहासन पर बैठ कर प्रण किया कि जब तक मैं स्वयं बूँदी का दुर्ग न तोड़ लूँगा तब तक यदि मैं अन्न-जल ग्रहण करूँ तो प्रकृत क्षत्रिय नहीं। इस प्रतिज्ञा के करने में राना ने अनुचित जल्दबाजी के कारण अदूरदर्शिता कर दी थी। इसलिये उनके हितैषियों ने समझाया कि बूँदी का एक कल्पित किला बनवाकर तथा उसे तोड़कर अन्न-जल ग्रहण कर लीजिए; क्योंकि भोजन के बिना प्राण-रक्षा ही न हो सकेगी तो फिर बूँदी का किला कैसे टूटेगा। यह बात राना की समझ में भी आ गई। तदनुसार एक कृत्रिम बूँदी-दुर्ग की रचना की गई और उसे तोड़ने के लिए राना आये। इसी समय राना के एक अनुचर हाड़ाकुम्भ के कारण व्यवधान उपस्थित हो गया।

हाड़ाकुम्भ बूँदी का निवासी था। वह आखेट से आ रहा था, जब अचानक इस परिस्थित का ज्ञान पाकर—

'हो गया गम्भीर मुख, सम्पूर्ण आतुरता गयी,
भृकुटि-कुंचित भाल पर प्रकटी प्रभा तेजोमयी।

हाड़ाकुम्भ के सामने एक विचित्र धर्म्म-संकट उपस्थित हो गया। एक ओर तो बूँदी का निवासी होने के कारण वह अपनी मातृभूमि

का अपमान सहन नहीं कर सकता था, दूसरी ओर राना का अनुचर होते हुए भी उनके साथ विरोध अनिवार्य्य हो रहा था। जो हो, मातृ-भूमि की मान-रक्षा को अधिक महत्वपूर्ण मानकर वह राना जो युद्ध-दान देने के लिए तैयार हो गया:—

"त्याग पादत्राण, रख मारे हुए मृग को वहीं,
(सुध रही उस वीर को उस काल अपनी भी नहीं)
वन्दना उस दुर्ग की करने लगा वह भाव से,
शीश पर उसने वहाँ की रज चढ़ाई चाव से,
शीघ्र रक्त-प्रवाह उसकी देह में होने लगा,
बीज विद्युद्वेग से वीरत्व का बोने लगा,
मातृ भूमि-स्नेह-जल निश्चल हृदय धोने लगा।
मान मन को मत्त करके मृत्यु भय खोने लगा।
यदपि सर्व शरीर उसका जल रहा था त्वेष से,
किन्तु मौन न रह सका वह भक्ति के उन्मेष से।"

राना को दुर्ग के नाश के लिये निकट आते देखकर उसने कहा:—

"स्वर्ग से भी श्रेष्ठ जननी जन्मभूमि कही गयी,
सेवनीया है सभी की वह महा महिमामयी।
फिर अनादर क्या उसी का मैं खड़ा देखा करूँ
भीरु हूँ क्या मैं अहो जो मृत्यु से मन में डरूँ
तोड़ने दूँ क्या इसे नकली किला मैं मान के,
पूजते हैं भक्त क्या प्रभुमूर्ति को जड़ जान के।
भ्रान्त जन उसको भले ही जड़ कहें अज्ञान से,
देखते भगवान को धीमान उसमें ध्यान से।
है न कुछ चित्तौर यह बूँदी इसे अब मानिए,
मातृभूमि मेरी पूत पवित्र जनीया जानिए।

कौन मेरे देखते फिर नष्ट कर सकता इसे;
मृत्यु माता को जगत में सहन हो सकती किसे।
योग्य क्या सीसोदियों को इस तरह प्रण पालना ?
है भला क्या सत्य का संहार यों कर डालना ?
सरल इससे तो यही थी साध लेनी साधना,
तोड़ लेते चित्त ही में दुर्ग बूँदी का बना !"

हाड़ाकुम्भ ने वीरतापूर्वक युद्ध करके मातृभूमि की गौरव-रक्षा के लिए अपने प्राण समर्पित कर दिये। इस प्रकार यह छोटी सी पुस्तक समाप्त होती है।

'रंग में भंग' में एक सरल कहानी सरलता के साथ वर्णित की गयी है; किन्तु उसमें केन्द्रीभूत प्रभावशालिता की कमी है। वास्तव में इस कहानी का अन्त वहीं कर देना चाहिए था, जहाँ वधू सती हो गयी; उसके सती के दृश्य को अधिक से अधिक करुणाजनक बनाने का प्रयत्न किया जा सकता था; क्योंकि 'रंग में भंग' का कोई भी सम्बन्ध हाड़ाकुम्भ के वीरोचित उत्सर्ग से नहीं है। यह तो एक स्वतंत्र कहनी है और किसी अन्य काव्य का विषय हो सकती है। सच पूछिए तो बूँदी के उस नकली किले को तोड़ने का वह प्रयत्न, चित्तौड़ के राजा के लिए, गौरव-जनक नहीं है, साथ ही उससे पुस्तक की विधवा नायिका के वैधव्य-परिताप में कोई गहराई नहीं आती। इस दृष्टि से इस रचना को बहुत सफल नहीं कह सकते; यद्यपि ऐसी महत्वपूर्ण शिक्षाप्रद घटना को काव्य का परिधान प्रदान करने के लिए गुप्तजी की सराहना करना ही पड़ेगी। 'रंग में भंग' की कहानी ८१ संख्या के पद्य में ही समाप्त हो गयी, यह बात स्वयं गुप्तजी ने ८२ संख्या के निम्न लिखित पद्य में स्वीकार की है:—

"यदपि पूरा हो चुका यह चरित्र एक प्रकार से;
लाभ कुछ होता नहीं है व्यर्थ के विस्तार से।

किन्तु जो घटना घटी है और इस सम्बन्ध में,
पूर्णता उसके बिना आती न ठीक निबन्ध में।"

चौथी पंक्ति में जिस पूर्णता की ओर संकेत किया गया है, उसकी 'रंग में भंग' की कहानी बिलकुल ही अपेक्षा नहीं करती।

फिर भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि जिस समय 'रंग में भंग' का प्रकाशन हुआ उस समय यह हिन्दी साहित्य में एक बिलकुल ही नई चीज थी।

जयद्रथ बध

प्रबन्ध-काव्य लिखने की ओर गुप्तजी की रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई; यद्यपि 'सरस्वती' के लिए वे नियमित रूप से स्फुट काव्य भी लिखने में लगे रहे। 'जयद्रथ-वध' 'नामक उनका प्रबन्ध-काव्य सात सर्गों में लिखा गया एक करुणा-जनक खण्ड-काव्य है। इस काव्य में कौरव-पक्षी महारथियों द्वारा अभिमन्यु के मारे जाने क अनन्तर पुत्र शोक-पीड़ित अर्जुन की जयद्रथ को मारने की प्रतिज्ञा तथा उसकी पूर्ति की कथा वर्णित है।

काव्य की रचना आनन्द के लिए की .जाती है। ऐसी अवस्था में किसी का बध तभी काव्य का वर्णनीय विषय हो सकता है जब उस के द्वारा बहुत अधिक अधर्म्म और अनाचार हो रहा हो। जयद्रथ अन्यायपूर्ण पथावलम्बी था; उसने अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु को धर्मयुद्ध करके नहीं, अधर्म्मयुद्ध करके मारा था। ऐसी स्थिति में जब अन्याय करके आरम्भ किये गये महाभारत-युद्ध में दुर्योधन के पक्ष के जयद्रथ ने इस अन्याय को अपनी उच्छृङ्खलता द्वारा और भी बढ़ाया तब मनुष्य की अन्तरात्मा व्याकुल होकर कह उठी है— इस अन्यायी का नाश हो। मनुष्य सुकर्म्मों द्वारा जीवित और कुकर्म्मों

द्वारा आप ही आप मृत होता है; फिर भी यदि वह स्थूल रूप में हमारे सामने उपस्थित है तो एक न एक दिन उसके उस रूप का भी नाश हो जायगा। मानव-हृदय का यह नाद—इस अन्यायी का नाश हो—तब तक शान्त नहीं होता, जब तक वस्तुतः वह नाश सम्पन्न नहीं हो जाता। नाश के अनन्तर काव्य उस नाश का वर्णन करके सत्य की जय का गान करता है।

युद्ध में जयद्रथ का पक्ष अन्यायपूर्ण है, इसका परिचय उस संवाद से भी मिलता है जो दुर्य्योधन और द्रोणाचार्य्य के बीच में उस समय हुआ जब दुर्य्योधन ने उन पर सन्देह करके इस प्रकार दोषारोपण कियाः—

"पहले वचन देकर समय पर पालते हैं जो नहीं।
वे हैं प्रतिज्ञाघातकारी निन्दनीय सभी कहीं॥
मैं जानता जो पांडवों पर प्रीति ऐसी आपकी।
आती नहीं तो यह कभी वेला निकट सन्ताप की॥

दुर्य्योधन के उत्तर में द्रोणाचार्य्य कहते हैंः—

"मैंने तुम्हारे हित स्वयं ही क्या उठा रक्खा कहो।
अभिमन्यु के वध के सदृश मुझसे हुआ है अब अहो।

× × ×

जो लोग अनुचित काम कर जय चाहते परिणाम में।
है योग्य उनकी सी तुम्हारी यह दशा संग्राम में।
यह रण उपस्थित कर स्वयं अब दोष देते हो मुझे।
कह जानते हैं बस कुटिल जन वचन ही विष के बुझे।
दुष्कर्म्म तो दुर्बुद्धि-जनहठ युक्त करते आप हैं।
पर दोष देते और को होते प्रगट जब पाप हैं।'

स्वयं द्रोणाचार्य्य स्वीकार कर रहे हैं कि पाण्डवों का पक्ष सत्य का पक्ष है, और इसी कारण यद्यपि वे ईमानदारी के साथ उनसे युद्ध

करते हैं तथापि उनका मन उनके गुणों पर मुग्ध है। कहा जाता है कि सत्य की सदा जय होती है। किन्तु इसी युद्ध में जब अभिमन्यु प्रयाण करता है तब उसकी नवविवाहिता पत्नी उत्तरा को अपशकुन क्यों होते हैं ? उत्तरा सशंक और कातर होकर कहती हैः—

क्षत्राणियों के अर्थ भी सबसे बड़ा गौरव यही—
सज्जित करें पति-पुत्र को रण के लिए जो आप ही।
जो वीर पति के कीर्ति-पथ में विघ्न-बाधा डालतीं—
होकर सती भी वह कहाँ कर्तव्य अपना पालतीं ?
अपशकुन आज परन्तु मुझको हो रहे, सच जानिये,
मत जाइये सम्प्रति समर में, प्रार्थना यह मानिए।
जाने न दूंगी आज मैं प्रियतम तुम्हें संग्राम में,
उठती बुरी है भावनाएँ हाय ! मम हृद्धाम में।
है आज कैसा दिन न जाने, देव-गण अनुकूल हों,
रक्षा करें प्रभु मार्ग में जो शूल हों वे फूल हों।
कुछ राज-पाट न चाहिये, पाऊँ न क्यों मैं त्रास ही;
हे उत्तरा के धन ! रहो तुम उत्तरा के पास ही।"

सत्य का पथ है, धर्म्मयुद्ध करना क्षत्रियों का धर्म्म है। ऐसे युद्ध से कोई भी आर्य-वीरांगना अपने पति को विमुख नहीं कर सकती और उत्तरा भी जहाँ एक ओर व्याकुल होकर कहती है कि मैं आपको युद्ध में नहीं जाने दूँगी वहाँ यह भी कह पड़ती है कि भगवान मार्ग में आपकी रक्षा करें, उसमें जो सूल मिलें वे फूल की तरह कोमल हो जायँ। इस हृदय-संघर्ष में कितनी पीड़ा है।

इसके उत्तर में अभिमन्यु कहता है —

"पापी जनों को दण्ड देना चाहिये समुचित सदा।
वर वीर क्षत्रिय वंश का कर्तव्य है यह सर्वदा।

× × ×

देखो भला भगवान ही जब हैं हमारे पक्ष में।
जीवित रहेगा कौन फिर आकर हमारे लक्ष्य में।"

पाठक उक्त अवतरण की पंक्तियों पर ध्यान दें। अभिमन्यु का विश्वास है कि जब स्वयं भगवान ही हमारे पक्ष में हैं तब विजय तो सुनिश्चित है। इसी विश्वास पर दृढ़ रह कर वह क्षात्र-धर्म्म के पालन के लिए अग्रसर हुआ। किन्तु बाद की घटना ने जो स्वरूप ग्रहण किया उससे स्पष्ट हो गया कि सत्य की विजय विलम्ब से होती है, जिसका प्रधान कारण यह है कि असत्य के भौतिक साधन द्रोणाचार्य्य ऐसे महावीरों को अपने वश में किये रहते हैं। विलम्ब के अतिरिक्त सत्य की विजय बलिदान-सापेक्ष होती है और इस महायज्ञ में अभिमन्यु ऐसे सुन्दर, वीर, सुकुमार नवयुवक को उत्तरा ऐसी पत्नी के मस्तक में वैधव्य की रेखा अंकित कर स्वर्गारोहण करना पड़ा।

उत्तरा विलाप करती हुई कहती है:—

"जो अंगरागाङ्कित रुचिर सित सेज पर थी सोहती।
शोभा अपार निहार जिसकी मैं मुदित हो मोहती।
तव मूर्ति क्षत-विक्षत वही निश्चेष्ट अब भू पर पड़ी।
बैठी तथा मैं देखती हूँ, हाय री छाती कड़ी!
हे जीवितेश उठो उठो, यह नींद कैसी घोर है।
है क्या तुम्हारे योग्य यह तो भूमि सेज कठोर है।
रख शीश मेरे अंग में जो लेटते थे प्रीति से।
यह लेटना अति भिन्न है उस लेटने की रीति से।"

यह स्थल बड़ा ही करुण है। अत्यन्त कारुणिक होकर इसने अर्जुन के चरित-विकास में विशेष रूप से भाग लिया है। अपने, पत्नी, तथा उत्तरा के शोक से व्याकुल होकर अर्जुन जयद्रथ को सूर्य्यास्त के पूर्व ही मारने या स्वयं चिता पर जल जाने की प्रतिज्ञा

कर बैठता है। प्रतिज्ञा बहुत कड़ी थी, किन्तु वह कोरे दम्भ और 'रंग में भंग' के राना की प्रतिज्ञा की तरह मिथ्या अभिमान से नहीं उत्पन्न हुई थी; अर्जुन के हृदय में पीड़ा थी—वह पीड़ा जो सत्य पक्ष के कँकरीले पथ पर चलनेवाले प्रिय पुत्र के अन्यायपूर्वक मारे जाने के कारण उसके हृदय में उत्पन्न हुई थी। ऐसी अवस्था में भगवान् कब तक अपने भक्त का साथ न देते। फिर भी परीक्षा लेने के उद्देश्य से उन्होंने अर्जुन से पूछाः—

"अत्यन्त रोषावेग में तुमने किया है प्रण कड़ा।
अब यत्न क्या इसका सखे, यह कार्य्य है दुष्कर बड़ा।"

अर्जुन का अभिमान तो दुःख के प्रवाह में बह कर निःशेष हो चुका था। उसने उत्तर दियाः—

"निश्चय मरेगा कल जयद्रथ प्राप्त होगी जय मुझे।
हे देव मेरे यत्न तुम हो, मत दिखाओं भय मुझे।"

अर्जुन ने भगवान् पर अपने आपको सोलहों आने आश्रित कर दिया, फिर तो भगवान् भी अपने भक्त की रक्षा में तत्पर हो गये। उन्होंने अर्जुन का हृदय-संताप कम किया, उसे शिव से अस्त्र दिलाया, और फिर स्वयं ही उसके रथ से सारथी हो गये। जयद्रथ-वध सम्पन्न हो जाने पर अर्जुन कहता हैः—

"किसकी महत्ता थी कि जिसने आज प्रण की पूर्त्ति की।
हिल जाय तो पत्ता कहीं सत्ता बिना इस मूर्त्ति की।
चलता सुदर्शन यदि न तो दिन ढल गया होता अभी।
अर्जुन चितानल में कभी का जल गया होता अभी।
होते तुम्हारे कार्य सारे गूढ़ भेदों से भरे।
हृदयस्त तुम जो कुछ कराते मैं वही करता हरे।"

इन पंक्तियों में भी गीता की विचार-धारा की छाप है। सच बात यह है कि साकेत को छोड़ कर 'जयद्रथ-वध' ही एक ऐसा

काव्य है जिसमें गुप्तजी ने गीता के दार्शनिक तत्वों को कला की सम्पत्ति बनाने में सफलता प्राप्त की है।

'साकेत' के पूर्ववर्त्ती अन्य काव्य

'रंग में भंग' और 'जयद्रथ-वध' के द्वारा चलाये गये प्रबन्ध काव्य के सिलसिले को गुप्तजी ने 'विकट भट', 'गुरुकुल' और 'किसान' 'शकुन्तला', 'त्रिपथगा' 'शक्ति', तथा, 'पंचवटी', आदि की रचना करके जारी रक्खा। इनमें से कतिपय ग्रन्थों पर एक दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है, क्योंकि इससे 'साकेत' की विचार-धारा को हृदयंगम करने में हमें सहायता मिलेगी।

'हिन्दू' की भूमिका में गुप्तजी ने लिखा है:—

"कवित्व फिर भी निष्काम है। सम्भवतः वह स्वयं एक सुफल है, इसी से उसे किसी फल की अपेक्षा नहीं। निस्सन्देह बड़ी ऊँची भावना है। भगवान से प्रार्थना है कि वह हम लोगों को भी इतना ऊँचा कर दे कि हम भी उसका अनुभव कर सकें। कदाचित् इसी भावना ने कवित्व को स्वर्गीय होने में सहायता दी है। परमार्थ के पीछे उसने स्वार्थ का सर्वथा परित्याग कर दिया है। इसलिए वह न तो देश से आबद्ध है, न काल से, सार्वदेशिक और सार्वकालिक हो गया है। लेखक उसके ऊपर अपने आप को निछावर कर सकता है। परन्तु वह आकाश में है और यह पृथ्वी पर। ऐसी दशा में उसे भक्ति भाव से प्रणाम करके ही सन्तोष करना पड़ेगा।"

स्फुट काव्यों की रचना करके भी गुप्तजी ने अपने उक्त उद्देश्य को सिद्ध करने की चेष्टा की है, यह पाठक देख चुके हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में उन्हें विशेष सफलता प्रबन्ध काव्य ही में हुई है।

'विकट भट' एक छोटी सी, किन्तु बड़ी ही ओजस्विनी रचना है। एक दिन जोधपुर के महाराज ने अपने एक प्रतिष्ठित सरदार से बार-बार पूछा कि अगर तुम रूठ जाओ जो क्या करो। सरदार ने कई बार टाला, किन्तु अन्त में ऊब कर, खीज कर उसने कहा:—

"पृथ्वीनाथ, मैं जो रूठ जाऊँ" कहा वीर ने—
"जोधपुर की तो फिर बात ही क्या, वह तो
रहता है मेरी कटारी की पर्तली में ही,
मैं यों 'नवकोटि मारवाड़' को उलट दूं',
कहते हुए यों ढाल सामने जो रक्खी थी,
बायें हाथ से उन्होंने उलटी पटक दी!
सन्नाटा सभा में हुआ, सब चुपचाप थे;
सिर को हिलाते हुए सन्न रहे राजा भी!"

सरदार देवसिंह को अपने इस वीरतापूर्ण उत्तर के लिए अगले ही दिन बलिदान होना पड़ा। उनके पुत्र को भी शीघ्र ही स्वर्ग-यात्रा करनी पड़ी। अन्त में रह गये देवीसिंह का एक बारह वर्ष का पौत्र सवाई सिंह और उसकी विधवा माता। सवाईसिंह के लिए भी जोधपुर से हुक्म आया कि दरबार में हाजिर हो। बालक माता से बोला:—

"बोला बीर बालक कि जननी मैं जाऊँगा।
किन्तु इससे नहीं, कि यदि मैं न जाऊँगा
तो भी मैं बचूँगा नहीं, किन्तु इससे कि मैं
देखूँगा कृतघ्न और क्रूर उस राजा के
सींग पूँछ है या नहीं; क्योंकि पशुओं से भी
नीच तथा मूढ़ महा मानता हूँ मैं उसे।"

कुल की प्रतिष्ठा और आन पर मरने वाली वीरमाता आंसुओं से भीग कर बोली:—

''वत्स, जाने में भी मुझे क्षेम नहीं दीखता।
ससुर गये हैं और स्वामी गये साथ ही,
मेरे लाल, तू चला, कैसे धरूँ धैर्य्य में ?
रोने तक का भी अवकाश मुझे है नहीं;
तो भी आनबान बिना जीना मरना ही है।
तुझको भी प्राणहीन देख सकती हूँ मैं,
किन्तु मानहानि देखा जायगा न मुझसे।
सहना पड़ेगा सो सहूँगी, किन्तु देखना,
कहना वही जो कहा तेरे पितामह ने,
भूल मत जाना जिस बात पर वे मरे।"
अच्छा, कह, तेरी कटारी की पर्तली में भी
जोधपुर है या नहीं ? × ×"
वीर पुत्र सवाई सिंह ने उत्तर दिया:—
"इसका जवाब उसी घातक को दूंगा मैं;
तू क्यों पूछती है प्रसू, क्या इस शरीर में,
शोणित क्रमागत नहीं है उन्हीं दादा का ?
किन्तु एक प्रार्थना मैं करता हूँ तुमसे,
अन्ततः माँ, मेरा वह उत्तर सुने बिना
छोड़ना न नश्वर शरीर यह अपना।
अपने अभागे इस पुत्र के विषय में
संशय लिये ही चली जाना तू न लाल के
पीछे, जिसमें कि उन्हें दे न सके तोष तू !"
पुत्र के विदा करने के बाद:—
"करुणा से कंठ भर आया ठकुरानी का।
जाकर अँधेरी एक कोठरी में वेग से,
पृथ्वी में लोट वह रोई ढाढ़ मार के,
व्योम की भी छातीपर होने लगी लीक-सी!"

सवाईसिंह ने जिस समय और जिस निर्भयता के साथ दरबार में प्रवेश किया उसका कवि ने बहुत सुन्दर वर्णन किया है:—

"निर्भय मृगेन्द्र नया करता प्रवेश है—
बन में ज्यों, डाले बिना दृष्टि किसी ओर त्यों,
भोर के भभूके-सा, प्रविष्ट हुआ साहसी
बलवीर, मन्द-मन्द धीर गति से धरा
मानो धँसी जा रही थी, बदन में गंभीर था,
उठता शरीर मानों अङ्गों में न आता था,
वक्षस्थल देख के कपाट खुले जाते थे,
मरने मारने ही को मानो कटि थी कसी,
शोभित सुखड्ग, उसमें था खरे पानी का,
परतली पड़ी थी उपवीत-तुल्य कन्धे में,
उसमें कटार खोंसी, जिसकी समानता,
करने को भौंहें भव्य भाल पर थीं तनीं।
छू रहा था बायाँ हाथ बढ़कर जानु को,
दायें हाथ में थी सींग, पीठ पर ढाल थी;
तोड़े के स्वरूप में था सोना पड़ा पैरों में;
आकृति ही देती थी परिचय प्रकृति का!
चौंक पड़ी सारी सभा देख वीर बाल को,"

जोधपुर महाराज ने न केवल देवीसिंह के परिवार का नाश किया था, किन्तु एक और वीर सरदार का भी संहार कर डाला था। मन की मौज में आकर यह मूर्खतापूर्ण और क्रूर काम उन्होंने कर डाला था। किन्तु अब वे बेहद पछता रहे थे। क्योंकि आक्रमणकारी अब उनके सिर पर चढ़े आ रहे थे। इसी कारण सवाईसिंह के प्रति उनका भाव बदल गया और उन्होंने दूसरे ही अभिप्राय से पूछा:—

"बालक, सुनो, क्यों तुम्हें मैंने बुला भेजा है—
जोधपुर रहता था परतली में जिसकी

"देवीसिंह वाली सो कटारी कहो मुझसे,
अब भी तुम्हारे पास है या नहीं ? × ×".

सवाईसिंह ने निर्भयता के साथ कहा।—

× × कटारी ? धरा काँपी सदा जिससे !
बिजली की बेटी वह ? भौंह महाकाल की ?
शत्रु के चबाने को कराल डाढ़ यम की ?
चम्पावत ठाकुरों की 'पत' वह लोक में ?
पूछते हैं आप क्या उसी की बात ? × ×"

सम्मति के अर्थ में राजा का मस्तक हिलता देखकर बालक ने फिर कहा !—

"दादा ने कटारी वह मेरे पिता के लिए
छोड़ी, और मेरे पिता सौंप गये मुझको।
पर्तली के साथ वह मेरे इस पार्श्व में
अब भी है पृथ्वीनाथ, एक जोधपुर क्या ?
कितने ही दुर्ग पड़े रहते हैं सर्वदा
क्षात्र-कीर्ति कोषवाली पर्तली में उसकी !
सच्ची बात कहने से आप रूठ जावेंगे;
किन्तु जब पूछते हैं कैसे कहूँ झूठ मैं ?
होता जो न जोधपुर पर्तली में उसकी
कहिये तो कैसे वह प्राप्त होता आपको ?"

महाराज ने सिंहासन से उठकर इस वीर बालक को गले से लगा लिया और स्नेहपूर्वक उसे अपना सरदार बनाया।

वीरों के कीर्ति गान से वीरता की प्रतिष्ठा और वीरों की सृष्टि होती है। ऐसी उत्कारिणी रचनाओं के लिए निस्सन्देह हमें गुप्त जी की लेखनी का आभार मानना चाहिए। कला की दृष्टि से इस रचना का महत्व "भारत-भारती" 'हिन्दू" आदि से अधिक है।

"विकट भट" ही की तरह 'गुरुकुल' भी एक लोकोपकारक काव्य है। इसमें गुरु तेगबहादुर, गुरु गोविन्दसिंह, बन्दा बैरागी आदि की अमर यश-गाथा का वर्णन किया गया है। गुरु तेगबहादुर के अनुपम त्याग के अनन्तर गुरु गोविन्दसिंह ने विदेशी और विधर्मी शासन के प्रति विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। उपयुक्त वीर पुरुष की तलाश में भी वे रहा करते थे। सौभाग्य से बन्दा बैरागी से उनकी भेंट हो गयी। गुरु गोविन्द और बन्दा की पारस्परिक बातचीत में कवि ने कुछ बहुत महत्वपूर्ण बातों का समावेश किया है, वही इस काव्य का सार है।

गुरु ने बन्दा से कहा:—

"यह शरीर-सम्पत्ति और यह
तेज किन्तु उस पर यह वेश।
इहलौकिक कर्त्तव्य वीर! क्या
हुए तुम्हारे सब निःशेष।
भाई किधर जा रहे हो तुम
अपना ओक-लोक सब छोड़।
अपने दीन-हीन दुःखी हम
बन्धु बान्धवों से मुँह मोड़।
वृद्ध अशक्तों से क्या होगा
यहाँ तुम्हीं जैसों का काम।
लौटो भव-विभवों में बैठा
तुम्हें पुकार रहा है राम।
भव के किस प्रहार से कातर
उससे विमुख हुए तुम तात।
क्यों आयी यह उदासीनता
मुझे बताओ उसकी बात।"

बन्दा का व्यक्तित्व एक बहुत ऊँचा व्यक्तित्व था। वे तो साधु हो गये थे; साधारणतया उन्हें इन झगड़ों में पड़ने की कोई आवश्यकता

नहीं थी। फिर भी गुरु ने मुसलमानों के अत्याचारों का जो वर्णन किया उससे प्रभावित होकर उन्होंने उत्तर दिया:—

"गुरो ! तुम्हारा बन्दा हूँ मैं
इतना ही मेरा इतिहास,
शान्त हुआ वीर व्रत मेरा
लेकर एक करुणा निश्वास।
मारे सिंह, बराह, भालु बहु
मेरा जीवन था आखेट;
किन्तु तीन मरते शिशु पाये
चीर एक हरिणी का पेट।
मेरे शर से मरते मरते
डाली उसने मुझ पर दृष्टि।
साली मेरे रोम रोम में
नीरव विष विषाद की वृष्टि।
भागा भव को पीठ दिखा कर
होकर भी क्षत्रिय सन्तान,
फिर भी लज्जित नहीं आज मैं
पाया मैंने लक्ष्य महान।
किधर लौटने को कहते हो
अब मुझको हे ज्ञान-निधान।
क्या यह पन्थ नहीं है जिसमें
करता हूँ मैं स्वगति विधान ?"

बन्दा वीर थे, हिंसक भी थे, किन्तु फिर भी उनका हृदय सुकुमार था और हरिणी की मर्म्मभेदिनी दृष्टि ने उन्हें निश्चेष्ट, आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने की ओर प्रेरित किया। जब गुरुगोविन्दसिंह ने उनका ध्यान उपस्थित समस्याओं की ओर आकृष्ट किया तो उनमें कर्मण्यता का संचार हो गया और कार्मक्षेत्र के आह्वान की महत्ता

इन्होंने स्वीकार की। फिर भी वे दबी जुबान में पूछते ही हैं कि क्या मैं वर्त्तमान पथावलम्बी होकर भी अपनी गति का विधान नहीं कर रहा हूँ। गुरु गोविन्द सिंह ने बन्दा के इस प्रश्न का जो उत्तर दिया है वह न केवल अकर्मण्य, त्यागाभास-पीड़ित लोगों के लिए काम का है, किन्तु काव्य के कला-पक्ष वालों के लिए भी मनन करने योग्य है:—

"इसे अपन्थ कहूँ मैं कैसे ?"
कहाँ त्याग-सा तप या यज्ञ ?
किन्तु समय के पूर्व सुफल भी
नहीं तोड़ते कभी रसज्ञ।
त्याग त्याग करते हैं हम सब
क्या है किन्तु हमारे पास,
छिना सभी तो धाम-धरा-धन,
त्याग नहीं यह त्यागाभास!
'रपट पड़े कीं हर गंगा में
मिट सकता है क्या उपहास ?
घर में तो वे भी स्वतन्त्र हैं
जो हैं सदा पराये दास!
अकबर लाल किले में बैठे,
बन बन भटकें व्रती प्रताप;
नाम जपें हम अलग विजन में
यह विराग है या अभिशाप ?
गीता-पाठी होकर अब तो
समझे होगे तुम सविमर्ष—
अर्जुन-सम करुणाभिभूत हो
छोड़ भगे हो भव-संघर्ष।
गर्भवती उस हरिणी का बध
खेदजनक था निस्सन्देह,

किन्तु तुम्हारे क्या दोषी थे
परित्यक्त वे धन-जन-गेह ?"

कवि ने बन्दा के मुख से जो निम्नलिखित बातें कहलायी हैं वे हमारे आज के जीवन में भी अपनी उपयोगिता रखती है:—

सच्चा हिन्दू होकर ही मैं
यह कहने के लिए समर्थ—
तुमसा पापी हिन्दू है तो
मुसलमान हूँ तेरे अर्थ।'
मेरा राम रमा है मुझमे,
मैं चाहे मणि हूँ या काच
जो मनुष्यता के नाशक हैं
मैं हूँ उनके लिए पिशाच।
न्यायासन पर पक्षपात मैं
क्योंकर कर सकता हूँ बोल।
देखें मेरा निर्मम शासन
उद्धत अपनी आँखें खोल।
दायीं हैं उनके भाई यदि
मरें दोषियों में निर्दोष;
कुछ सह सकता नहीं शत्रु का
प्रतिसिंसहक सेना का रोष।
दूर करूँगा पशुबल से ही
मैं उस नर पशुता का पाप;
काँटे के काँटा निकाल कर
निकलूँगा काँटे-सा आप।
हिन्दू मुसलमान कोई हो,
जो सच्चा है वही मनुष्य;

देव और दानव दोनों ही
बन जाता है यही मनुष्य।"

बंदा ने हिन्दुओं की, सिखों की बड़ी सेवा की; किन्तु हिन्दुओं और सिखों, दोनों के दुर्भाग्य से आपस में फूट पड़ गयी और जिन बंदा को मुसल्मान बादशाह सिर तोड़ परिश्रम कर के भी प्राप्त न कर सका था उसे उसने बन्धु-द्रोहियों की सहायता से गिरफ्तार कर लिया।

'किसान' नामक काव्य का कथानक सर्वथा काल्पनिक है। उसकी चरित्र-सृष्टि में कोई जटिलता नहीं है पर उसमें हृदय को स्पर्श करने की क्षमता है। किसान की कल्पना के भीतर वर्त्तमान भारतीय किसानों की करुणाजनक अवस्था का सत्य विद्यमान है। पुस्तक के साधारण पृष्ठ पर ही हम पढ़ते हैं:—

"टिगरिस तट पर युद्ध-स्थल में
वीरोचित गति को पाकर
अन्तिम वाणी से पल-पल में
निज शोणित से लिखवा कर,
हे भारत! मरने के पहले
वह तेरा किसान सैनिक,
तुझे दिये जाता है पहले
आत्म-चरित हीं चिर दैनिक।

किसान का बाल्यकाल आनन्द में बीता था; निश्चिन्तता के उन दिनों का स्मरण करके वह कहता है:—

"मुझसे ही मेरे साथी थे, सब मिलकर खेला करते,
हरी घास पर कभी लेटते, कभी दंड पेला करते।
मन निर्मल था, तन पर जो कुछ आ पड़ता झेला करते,
गुञ्जारित करते कानन को नव कि हर्ष हेला करते।
ऊपर नील वितान तना था, नीचे था मैदान हरा;
शून्य-मार्ग से विमल वायु का आना था उल्लास भरा।

कभी दौड़ने लग जाते हम रह जाते फिर मुग्ध खड़े,
उड़ने की इच्छा होती थी उड़ते देख विहङ्ग बड़े
बन्दर सम पेड़ों पर चढ़ते, डालें कभी हिलाते थे,
पके पके फल तोड़ परस्पर खाते और खिलाते थे।
शब्द-विशेषों से पशुओं को चलते समय बुलाते थे,
कान उठा कर घर चलने को वे भी दौड़े आते थे,
पत्तों पर मोती-से हिमकण प्रातःकाल चमकते थे,
संध्या के ऊपर तारागण कैसे दिव्य दमकते थे।
आते जाते समय हमारा मानस हंस मोद पाता,
देख भरा भण्डार प्रकृति का ग्लानि और श्रम मिट जाता?
झुके पयोद पकड़ने को हम कभी पहाड़ों पर चढ़ते,
कभी तैरते हुए होड़ से पानी में आगे बढ़ते।
मानों स्वयं प्रकृति ही फिरती हमें गोद में लिए हुए,
खगता, मृगता और मनुजता तीनों के गुण दिये हुए।
मोर नाचते थे उमङ्ग से, मेघ मृदङ्ग बजाते थे,
कोयल के सहयोगी होकर चञ्चल चातक गाते थे।
रस बरसाती हुई घटा भी नीचे उतरी आती थी,
प्रकृति-नटी निज पट पलपल में प्रकट पलटती जाती थी।

युवक किसान का स्वास्थ्य भी अच्छा था। एक दिन जब अचानक भेड़िये के आक्रमण से भयभीत एक बालिका चिल्लाई तब वह अपना डंडा लेकर उसकी सहायता को दौड़ पड़ा —

"छड़ी न थी बाबू लोगों की, मेरा मोटा डण्डा था;
और उन्हीं के श्रीशब्दों में मैं भी कुछ मुस्तण्डा था।
पोले का लोहा हिंसक के दृढ़ मस्तक में पैठ गया,
रही छलाँग अधूरी, तत्क्षण वह नीचे ही बैठ गया?"

रक्षा पाकर बालिका-हृदय कृतज्ञता के भाव से पूर्ण हो गया;

"बोल न सकी किन्तु कुछ भी वह भोले भाले मुखवाली,
केवल मेरे ऊपर उसने एक अपूर्व दृष्टि डाली!
पाया प्रत्युपकार हृदय ने, देखा मैंने उसे जहाँ,
मेरे लिए विषाद भाव था कृतज्ञता सहित वहाँ।"

आगे चलकर यही बालिका किसान युवक के दुःख-सुख की संगिनी हो गयी। कालान्तर में ऋण-ग्रस्त पिता का देहान्त हो गया और पति-पत्नी को साहू, महाजन और जमींदार तीनों ही ने अपना ग्रास बनाकर यातनाएँ देना शुरू कर दिया। इन लोगों के हाथों इस दम्पति को कुली प्रथा का शिकार होना पड़ा। वहाँ एक नृशंस गोरे ने, पत्नी की गर्भिणी की अवस्था में भी, उस पर आक्रमण करके काल के गाल में पहुँचा दिया।

अन्त में किसान का जिस प्रकार अन्त हुआ वह पाठकों के सामने पहले ही आ चुका है – अर्थात् विदेशी युद्धस्थल में टिगरिस नदी के तट पर ब्रिटिश स्वार्थों की सेवा में।

भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से 'किसान' एक लोकोपकारक काव्य है। रहा दोष, सो उसमें भी वही दोष है जो गुप्तजी के अनेक देश-भक्तिपूर्ण ग्रंथों में पाया जाता है—सामग्री के लिए समाचार-पत्रों और नेताओं के आन्दोलन पर आश्रित रहना। उदाहरण के लिए, यह आवश्यक नहीं था कि किसान का अन्त टिगरिस नदी के तट पर ब्रिटिश युद्ध-स्थल में कराया जाता; किन्तु गुप्तजी लाचार थे; जब रंगरूटों की भरती हो रही थी तब उनका किसान लड़ाई में क्यों न सम्मिलित होता? कल्पना का अभाव अनेक स्थलों में गुप्तजी की कला के ह्रास का कारण हो गया है।

'पंचवटी' में लक्ष्मण नायक हैं और उन्हीं के चरित्र-विकास के लिए कवि ने रामचन्द्र, सीता, सूर्पणखा आदि के कथनोपकथनों की योजना की है। वे एक आदर्श के भक्त हैं और उसी के कारण रामचन्द्र तथा सीता के भी भक्त हैं। रामचन्द्र और सीता के लोक-

प्रियता की उन्होंने जो प्रशंसा की है, उसी में उस आदर्श की भी झलक मिल जाती है जिसे वे प्यार करते हैं:—

"जितने कष्ट कण्टकों में हैं
जिनका जीवन-सुमन खिला,
गौरव गन्ध उन्हें उतना ही
यत्र, तत्र, सर्वत्र मिला।"

इन पंक्तियों को पढ़कर पाठक 'अनघ' नाटक के मघ का स्मरण कर लें। देश-भक्त कवि ने देश के वर्त्तमान क्लेश के निवारण के लिए सिद्ध पुरुष को नहीं, प्रायः साधक और तपस्वी को ही प्रधानता प्रदान की है। उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ लक्ष्मण को योगी रूप में हमारे सामने करती हैं:—

"पंचवटी की छाया में मैं
सुन्दर पर्ण-कुटी बना,
उसके सम्मुख स्वच्छ शिला पर
धीर, वीर, निर्भीक मना
जाग रहा यह कौन धनुर्धर
जब कि भुवन भर सोता है?
भोगी कुसमायुध योगी-सा
बना दृष्टि-गत होता है।"

इसी समय, जब सारा संसार सो रहा था, लक्ष्मण ने एक परम सुन्दरी बाला को सामने खड़ी देखा। यह लक्ष्मण के व्यक्तित्व के प्रति आकर्षण का अनुभव करती हुई उनके प्रेम की प्रार्थिनी होकर आयी थी। निशा-काल में उन्हें तपस्या में निरत देख कर उसने कौतूहल पूर्वक पूछा:—

"प्रेम-पिपासु किसी कान्ता के
तपस्कूप यदि खनते हो,

तो सचमुच ही तुम भोले हो,
क्यों मन को यों हनते हो ?
अरे, कौन है, वार न देगी
जो इस यौवन-धन पर प्राण।
खोओ इसे न यों ही हा हा !
करो यत्न से इसका त्राण।
किसी हेतु संसार भार-सा
देता हो यदि तुमको ग्लानि,
तो अब मेरे साथ उसे तुम
एक और अवसर दो दानि !"

लक्ष्मण ने रमणी के इस कथन में प्रेम का नहीं, किन्तु मोह का आवेश पाया। इसीलिए उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा—

"हा नारी ! किस भ्रम में है तू,
प्रेम नहीं यह तो है मोह;
आत्मा का विश्वास नहीं यह
है तेरे मन का विद्रोह।
विष से भरी वासना है यह
सुधा-पूर्ण वह प्रीति नहीं।
रीति नहीं, अनरीति और यह
अति अनीत है, नीति नहीं॥
आत्मवञ्चना करती है तू
किस प्रतीत के धोखे से ?
झाँक न झंझा के झोंके में
झुक कर खुले झरोखे से !
शान्ति नहीं देगी तुझको यह
मृगतृष्णा करती है क्रान्ति,

सावधान हो मैं पर नर हूँ,
छोड़ भावना की यह भ्रान्ति ।।"

लक्ष्मण के चरित्र की उच्चता को हृदयंगम करने के लिए उनके सम्बन्ध में सीता जी के मत को भी देखना चाहिए:—

सीता बोली—"नाथ, निहारो
यह अवसर अनमोल नया,
देख तुम्हारे प्राणानुज का—
तप सुरेन्द्र भी डोल गया।
माना उनके निकट नहीं है
इन्द्रासन की कुछ गिनती,
किन्तु अप्सरा की भी क्यों ये
सुनते नहीं नम्र विनती ?"

सीता ने ऊपर परिहास में भी जो कुछ कहा है, उसमें गम्भीरता निहित है और लक्ष्मण के चरित्र के सम्बन्ध में वह एक मूल्यवान् प्रमाण-पत्र है।

इस प्रकार लक्ष्मण के चरित्र में साधना और महत्ता पर्य्याप्त परिमाण में मौजूद है।

कवि ने सीता जी के चरित्र में निर्मल, निर्दोष परिहास का समावेश करके उसमें मानव-सुलभ स्वाभाविकता भरने की चेष्टा की है। उनके परिहास का सिलसिला चला चलता है। वे लक्ष्मण से कहती हैं:—

"याचक को निराश करने में
हो सकती है लाचारी।
किन्तु नहीं आई है आश्रय
लेने को यह सुकुमारी।
देने ही आई है तुमको
निज सर्वस्व बिना संकोच,

देने में कार्पण्य तुम्हें हो
तो लेने में है क्या सोच ॥"

फिर भी उसी प्रकार मुसकराती हुई कहती हैं:—

"अजी, खिन्न तुम न हो, हमारे
ये देवर हैं ऐसे ही।
घर में ब्याही बहू छोड़ कर
यहाँ भाग आये हैं ये,
इस वय में क्या कहूँ, कहाँ का
यह विराग लाये हैं ये!
पर करना होगा न तुम्हें कुछ
सभी काम कर लूँगी मैं,
परिवेषण तक मृदुल करों से
तुम्हें न करने दूंगी मैं।
हाँ, पालित पशु-पक्षी मेरे
तङ्ग करें यदि तुम्हें कभी,
उन्हें क्षमा करना होगा तो,
कह रखती हूँ इसे अभी!"

सीता जी ने उक्त आगन्तुक रमणी से विवाह कर लेने के सम्बन्ध में लक्ष्मण को बहुत सी शिक्षा दी थी। अब जब रमणी ने रामचन्द्र जी से ही विवाह का प्रस्ताव कर दिया तब तो वे स्वयं ही परीक्षा में पड़ गयीं, जिसमें उत्तीर्ण होने के लिए इस समय वे आत्म-विश्वास-पूर्वक यत्न कर रही थीं। उन्हें इस झंझट में देख कर लक्ष्मण ने उचित ही कहा:—

"किन्तु तुम्हारी इच्छा है तो
मैं भी इन्हें मनाऊँगी,
रहो यहाँ। तुम अहो! तुम्हारा
बर मैं इन्हें बनाऊँगी।

पर तुम हो ऐश्वर्य-शालिनी
हम दरिद्र बनवासी हैं,
स्वामी-दास स्वयं हैं हम निज,
स्वयं स्वामिनी-दासी हैं।"

सीता जी कहती हैं कि हमारे निर्धन होने पर भी तुम्हें कोई कष्ट नहीं होने पावेगा; मैं सब काम कर लूँगी, तुम्हें कुछ न करना होगा। हाँ, अगर मेरे प्रिय पशु और पक्षी तुम्हें कोई क्लेश दें तो उसके लिए मुझे क्षमा करना।

"त्रिपथगा" में गुप्त जी के तीन छोटे छोटे काव्य संकलित हैं— (१) वन-वैभव; (२) वक-संहार; और (३) सैरन्ध्री। इन काव्यों का आधार महाभारत की कथाएँ हैं, और वर्त्तमान विभाग में शकुन्तला की तरह ये भी जयद्रथ-बध के सिलसिले को जारी रखते हैं।

'वन-वैभव' में युधिष्ठिर के चरित्र की महत्ता देखने को मिलती है। जब गन्धर्वों ने कौरवों को परास्त करके बन्दी बना लिया तब कौरव-सचिवों की सहायता-याचना करने पर उन्होंने भीम अर्जुन आदि को उदार भाव धारण करने ही की शिक्षा दी। उन्होंने कहा:—

"करें यदि अन्य मनुज दुष्कर्म
तजें तो हम क्यों अपना धर्म्म?
धैर्य्य ही धर्म्म परीक्षा है,
वही वीरों की दीक्षा है।

× × ×

राम ने राज्य विभव छोड़ा,
उन्हें था वन में दुख थोड़ा?
भरत ने भी निज मुख मोड़ा,
धर्म-धन ही सब ने जोड़ा।

सहेंगे दुख हम भी धर्मार्थ,
पुण्य ही तो है परम पदार्थ!

+ + ×

धर्म्म क्या है इतना असमर्थ?
कपट जो करे प्रगति के अर्थ?
अर्थ ही तब तो हुआ अनर्थ
पुण्य का होना ही है व्यर्थ?"
शोक में ही तब तो सुख हो,
हमें फिर क्यों दुख में दुख हो?"

जिन गन्धर्वों को आशा थी कि उनके कार्य से पांडव प्रसन्न होंगे उनके प्रति युधिष्ठिर के क्या भाव हैं, देखिए:—

"जहाँ तक है आपस की आँच,—
वहाँ तक वे सौ हैं हम पाँच।
किन्तु यदि करे दूसरा जाँच,
गिने तो हमें एक सौ पाँच।
कौन हैं वे गन्धर्व गँवार
करें जो आकर यह व्यवहार?"

युधिष्ठिर का कहना है कि यदि कौरवों को दण्ड देना है तो हम दें लेंगे; किन्तु यदि वे संकट में हैं और तब भी उनकी सहायता को नहीं दौड़ते तो यह वीरता नहीं है:—

"वीरता इसे नहीं कहते
कि हम से पाँच पाँच रहते,
हमारे भाई यों बहते,
और हम रहें इसे सहते।
दण्ड उनको देने के अर्थ
नहीं हैं क्या हम स्वयं समर्थ?"

अग्रज की आज्ञा से अर्जुन ने जाकर गन्धर्व चित्ररथ से युद्ध किया और अपने कौरव-भ्राताओं को मुक्त किया।

बक-संहार में कुन्ती की कर्त्तव्य-पालन-सम्बन्धी दृढ़ता और वत्सलता के संघर्ष का सुन्दर चित्र अङ्कित किया गया है। बनवास के समय जिस ब्राह्मण के यहाँ कुन्ती पुत्रों समेत निवास कर रही थी उसकी बक राक्षस के यहाँ आहार रूप में उपस्थित होने की बारी आयी तब पति, पत्नी, पुत्री और पुत्र में विवाद छिड़ गया कि कौन जाय। यह विवाद अत्यन्त करुण था और उसे देखकर कुन्ती का जी भर आया। उन्होंने उदारतापूर्वक कहा, तुम कोई न जाओ, मेरे पाँच पुत्र हैं, मैं उनमें से एक को भेज दूँगी। ब्राह्मण और ब्राह्मणी को यह स्वीकार नहीं था; किन्तु कुन्ती ने हठ किया और उनको भी मनाना ही पड़ा! यह कर्त्तव्य-पालन कर चुकने के बाद कर्त्तव्य और वात्सल्य के बीच जो एक हलका-सा स्वाभाविक द्वंद कुन्ती के हृदय में खड़ा हुआ, और जिस पर उन्होंने शीघ्र ही विजय प्राप्त कर ली, उसका वर्णन कवि के शब्दों में देखिए:—

"कर्त्तव्य कुन्ती कर चुकी,
वह विप्र-विपदा हर चुकी;
वात्सल्य-वश अब हो उठी विचलित वही।
जो थी शिला सी निश्चला,
अब रुँध गया उसका गला,
वह देर तक जल-मग्न सी लेटी रही।
वह लीन थी भगवन्त में,
हलका हुआ जी अंत में,
हाँ बढ़ गयी अत्यन्त ही गम्भीरता।
जब वीर पुत्रों से मिली
तब फिर तनिक कांपी हिली।

पर अन्य क्षण मानो प्रकट थी धीरता।"

× × ×

पुत्र युधिष्ठिर के पूछने पर वे कहती हैं:—

यह दैव का अन्याय है;
पर वत्स कौन उपाय है?
पूछो न तुम इस हृदय की कुछ भी दशा।
रण में मरण तक के लिए,
पति-पुत्र को आगे किये,
देती विदा हैं गर्व कर हम कर्कशा।"

यशोधरा के अध्ययन के समय उक्त पंक्तियों को हमें स्मरण रखना होगा। नारी-हृदय विचित्र है; ममता के वश होकर वह पुत्र के लिए अपना भी संहार कर सकती है; किन्तु आदर्श की अनुगामिनी होकर वह पुत्र का भी बलिदान कर डालती है।

कुन्ती के इस त्याग से केवल एक ब्राह्मण कुल का ही उपकार नहीं हुआ; भीम ने उस राक्षस का ही वध कर डाला, जिससे अगणित कुटुम्बों का भय सदा के लिए मिट गया।

सैरन्ध्री में कवि ने द्रौपदी का उज्ज्वल चित्र अंकित किया है। उसके चरित्र के सम्बन्ध में सुदेष्णा, कीचक की बहन, कहती है:—

"ऐसी ही दृढ़ जटिल चरित्रा है वह नारी,
दुखिया है, पर कौन कहे उसको बेचारी।
जब तब उसको देख भीति होती है मन में,
तो भी उस पर परम प्रीति होती है मन में।
अपना आदर मानो दया
कर के वह स्वीकारती,
पर दया करो तो वह स्वयं
घृणा-भाव है धारती!"

सुदेष्णा ही फिर कहती है:—

"सुन्दरता यदि विघे, वासना उपजाती है,
तो कुल-ललना हाय ! उसे फिर क्यों पाती है ?
काम-रीति को प्रीति नाम नर देते हैं बस,
कीट-तृप्ति के लिए लूटते हैं प्रसून रस !
यदि पुरुष जनों का प्रेम है
पावन नेम निबाहता,
तो कीचक मुझसा क्यों नहीं,
सैरन्ध्री को चाहता ?"

उक्त पंक्तियों से जान पड़ता है कि सुदेष्णा को द्रौपदी के प्रति पावन प्रेम था। किन्तु यदि उसके हृदय में इस पावन प्रेम का निवास होता तो वह कष्ट सहन करना स्वीकार कर लेती और कीचक की अनुचित वासना-पूर्त्ति में सहायक होने को तैयार न होती। इस दृष्टि से सुदेष्णा का चरित्र विशृंखलित हो गया है।

द्रौपदी के चरित्र में भी कोई विशेषता नहीं आ पाई है। उसने भीम द्वारा जिस प्रकार उसका वध कराया, उसमें वंचना की कुछ झलक आ जाती है। यह सही है कि कीचक ने उसका बेहद-अपमान किया था, किन्तु उसे तो अपने सौजन्य से च्युत न होना चाहिए था। ऐसे स्थलों में कलाकार मूल कथानक में कुछ परिवर्त्तन भी कर सकता है।

साकेत

महच्चरित्र की कल्पना—लक्ष्मण

'विशालभारत' में 'साकेत' के एक समालोचक ने लिखा है:— "तुलसीदास जी की रामायण के बाद रामचरित को इतने विशद

रूप में शायद ही किसी हिन्दी कवि ने गाया हो। साकेत का प्रकाशन वास्तव में हिन्दी साहित्य की महत्वपूर्ण घटना है।"

निस्सन्देह हिन्दी साहित्य में 'साकेत' कई दृष्टियों से एक अभूतपूर्व वस्तु है। किन्तु उसमें राम-चरित्र का गान उतने अंशों में नहीं किया गया है जितने अंशों में लक्ष्मण और उर्मिला का। यह विषय तुलसीदास जी के 'रामचरित-मानस' में प्रायः बिलकुल ही छूट गया था। लक्ष्मण के चरित्र को विशेष रूप से सामने लाकर तथा उर्म्मिला का चित्र हमारे सम्मुख अधिक स्पष्ट कर के गुप्तजी ने औचित्यपूर्वक रामायण की कथा को नवीन रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। तुलसीदास जी ने 'रामचरित-मानस' में राम के चरित्र को विशेष प्रकार में लाकर लक्ष्मण को सर्वथा गौण क्यों रखा और गुप्तजी ने 'साकेत' में राम के चरित्र को साधन-स्वरूप बनाकर लक्ष्मण को विशेष महत्व क्यों दिया, इसके कारण की कल्पना की जा सकती है। इस कारण के मूल में उभय कवियों का व्यक्तित्व वर्त्तमान है; एक ने सिद्ध होकर सिद्धि-धाम मर्य्यादा पुरुषोत्तम को अपनी कथा का नायक बनाया और दूसरे ने साधक होकर साधक ही की ओर अधिक प्रवृत्ति दिखाई। गुप्तजी के 'जयद्रथ-वध' का नायक अर्जुन साधक है, 'अनघ' का मघ साधक है, 'पंचवटी' का लक्ष्मण साधक है और इस 'साकेत' का लक्ष्मण भी 'पंचवटी' के लक्ष्मण से अभिन्न ही है।

प्रत्येक महाकाव्य में एक महती घटना होनी चाहिये, और वह घटना किसी महान् व्यक्तित्व का अवलम्ब लेकर ही संगठित हो सकती है। श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर का कहना है:—

"मन में जब एक महत् व्यक्ति का उदय होता है, सहसा जब एक महापुरुष कवि के कल्पना-राज्य पर अधिकार आ जमाता है, मनुष्य चरित्र का उदार महत्व मनश्चक्षुओं के सामने अधिष्ठित होता है, तब उसके उन्नत भावों से उद्दीप्त होकर उस परम पुरुष की प्रतिमा

प्रतिष्ठित करने के लिए कवि भाषा का मन्दिर निर्म्माण करते हैं। उस मन्दिर की भित्ति पृथ्वी के गम्भीर अन्तर्देश में रहती है और उसका शिखर मेघों को भेद कर आकाश में उड़ता है॥ उस मन्दिर में जो प्रतिमा प्रतिष्ठित होती है उसके देव-भाव से मुग्ध और उसकी पुण्य किरणों से अभिभूत होकर नाना दिग्देशों से आ आकर लोग उसे प्रणाम करते हैं। इसी को कहते हैं महाकाव्य।"

श्री रवीन्द्रनाथ के मतानुसार "एक महत् चरित्र महाकाव्य के विस्तीर्ण राज्य के मध्य भाग में पर्वत की भाँति ऊँचा हो उठता है, जिसके शुभ्र तुषार ललाट पर सूर्य की किरणें प्रतिफलित होती हैं, जिसमें कहीं कवित्व का श्यामल कानन, कहीं अनुर्वर पाषाणस्तूप दिखाई देते हैं, जिसके अन्तर्गूढ़ आग्नेय आन्दोलन के कारण सारे महाकाव्य में भूमिकम्प उपस्थित हो जाता है।" ‘साकेत के नायक लक्ष्मण को इसी कसौटी पर कस कर हमें देखना चाहिये कि उनके चरित्र में कितनी महत्ता है और उनके द्वारा संघटित कार्य्य कितना गौरवपूर्ण है।

पिछले पृष्ठों में कवि द्वारा अंकित लक्ष्मण का एक चित्र हम देख चुके हैं। किन्तु उस चित्र में अधिकांश में मधुरता थी। ‘साकेत’ में हमें उनकी मधुरता और उग्रता दोनों ही के दर्शन होते हैं। इस काव्य के हमें लक्ष्मण की तेजस्विता का प्रथम परिचय उस समय प्राप्त होता है जब उन्होंने कैकेयी से श्रीरामचन्द्र के राज्याभिषेक के सम्बन्ध में उसके कारण विघ्न पड़ता देखकर पूछा कि माँ बात क्या है? इस सरल प्रश्न के उत्तर में कैकेयी को अनर्गल बातें कहते देखकर वे अपने को सँभाल न सके और क्रोधपूर्वक बोले—

‘अरे मातृत्व तू अब भी जताती!
ठसक किसको भरत की है बताती?
भरत को मार डालूँ और तुझको;
नरक में भी न रक्खूँ ठौर तुझको।

युधाजित् आततायी को न छोड़ूँ,
बहन के साथ भाई को न छोड़ूँ।
बुला ले सब सहायक शीघ्र अपने।
कि जिनके देखती हो व्यर्थ सपने?
सभी सौमित्रि का बल आज देखें,
कुचक्री चक्र का फल आज देखें
भरत को सानती है आप में क्यों?
पड़ेंगे सूर्य्यवंशी पाप में क्यों?
हुए वे साधु तेरे पुत्र ऐसे—
कि होता कीच से है कंज जैसे।
भरत होकर यहाँ क्या आज करते,
स्वयं हीं लाज से वे डूब मरते।
तुझे सुत-भक्षिणी साँपिन समझते,
निशा को मुँह छिपाते दिन समझते।
भला वे कौन हैं जो राज्य लेवें।
पिता भी कौन हैं जो राज्य देवें।
प्रजा के अर्थ है साम्राज्य सारा।
मुकुट है ज्येष्ठ ही पाता हमारा।"

लक्ष्मण की इस वाणी में तेजस्विता कूट कूट कर भरी है। आदर्श की रक्षा के लिए वे पिता के समाने भी ताल ठोंक कर खड़े हो सकते हैं। उनका उग्र दर्शन हमें एक बार तब होता है जब उन्हें शंका होती है कि भरत युद्ध करने के उद्देश्य से आ रहे हैं। इस शंका ने उन्हें किस प्रकार विचलित और अस्थिर कर दिया, यह सीताजी से कहे गये उनके निम्नलिखित-शब्दों में देखियेः—

"भाभी भय का उपचार चाप यह मेरा,
दुगुना गुणमय आकृष्ट आप यह मेरा।

कोटक्रम-सम्मुख कौन टिकेगा इसके—
आई परास्तता कर्म भोग में जिसके।
सुनता हूँ, आये भरत दल-बल से,
बन और गगन है विकल चमू कलकल से
विनयी होकर भी करें न आज अनय वे,
विस्मय क्या है, क्या नहीं स्वमातृतनय वे
पर कुशल है कि असमर्थ नहीं हैं हम भी,
जैसे को तैसे, एक बार हो यम भी।
हे आर्य, आप गम्भीर हुए क्यों ऐसे—
निज रक्षा में भी तर्क उठा हो जैसे?
आये होंगे यदि भरत कुमति-वश बन में,
तो मैंने यह संकल्प किया है मन में—
उनको इस शर का लक्ष चुनूँगा क्षण में
प्रतिषेध आपका मैं न सुनूँगा रण में।"

यह महावीर पुरुष क्रोध के उद्दीप्त हो जाने पर किसका संहार नहीं कर सकता? संसार में केवल एक पुरुष है—उसे पुरुष कहिये अथवा पुरुष के वेष में जीवन का एक आदर्श कहिये—जिसके सामने वह उसी प्रकार नत है जिस प्रकार भयङ्कर सर्प मदारी के समाने होता है। वे हैं श्रीरामचंद्र जिनकी सेवा को ही लक्ष्मण ने अपने जीवन का कार्य्य बना लिया है। सीता की तिलमिला देने वाली बातों के उत्तर में लक्ष्मण ने कितने प्रखर शब्दों में अपनी आत्मशक्ति का परिचय दिया है:—

"मैं कैसा क्षत्रिय हूँ इसको तुम क्या जानेगी देवी
रहा दास ही और रहूँगा सदा तुम्हारा पद-सेवी।
उठा पिता के भी विरुद्ध मैं किन्तु आर्य-भार्य्या हो तुम,
इससे तुम्हें क्षमा करता हूँ अबला हो, आर्या हो तुम।"

इन्हीं सीता देवी का हरण हो जाने पर लक्ष्मण ने अग्रज को अत्यन्त ओजस्विनी और आत्मविश्वासपूर्ण वाणी में आश्वासन दिया:—

"पच सकती है रश्मि-राशि क्या महाग्रास के तम से भी ?
आर्य उगलवा लूँगा अपनी आर्या को मैं यम से भी।"

ये प्रभावशाली और महत्वपूर्ण उद्‌गार हैं। इनमें जो महत्ता भरी हुई है उसकी पराकाष्ठा हमें तब देखने को मिलती है जब मेघनाद की शक्ति के आघात से चंगे होने पर लक्ष्मण को अपनी प्रियतमा उर्मिला की याद तो नहीं आती, किन्तु आर्य पुरुषत्व और प्रतिष्ठा पर आक्रमण करने वाली सीता जी की कैद की ओर अनिवार्य रूप से उनका ध्यान चला जाता है। क्या वे यह नहीं जानते थे कि उनकी विरहिणी के लिए—

"अवधि-शिला का उर पर था गुरु भार।
तिल तिल काट रही थी दृगजल धार।"

अक्षरशः चरितार्थ हो रहा होगा। फिर भी इस ओर ध्यान देना उन्होंने अत्यन्त दैन्य और कार्पण्य से युक्त समझा। उन्हें अयोध्या जाने की उतावली नहीं थी; उन्हें तो चिन्ता इस बात की थी कि सीता को कैद करने वाला तस्कर-शत्रु अभी तक जीवित है; संज्ञा-लाभ करते ही उनके मुख से जो प्रथम शब्द निकलते हैं, वे हैं:—

"धन्य इन्द्रजित ! किन्तु सँभल बारी अब मेरी।"

श्री रामचंद्र उन्हें थोड़ा विश्राम करने के लिए कहते हैं:—

"लक्ष्मण ! लक्ष्मण !! हाय न चंचल हो पल-पल में।
क्षण भर तुम विश्राम करो इस अङ्कस्थल में।"

किन्तु लक्ष्मण उत्तर देते हैं:—

"हाय नाथ ! विश्राम ? शत्रु अब भी है जीता,
कारागृह में पड़ी हमारी देवी सीता !

जब तक रहा अचेत अवश था आप पड़ा मैं,
अब अचेत हूँ और स्वस्थ सन्नद्ध खड़ा मैं।
बीत गयी यदि अवधि भरत की क्या गति होगी,
धरे तुम्हारा ध्यान एक युग के जो योगी।
माताएँ निज अङ्क दृष्टि भरने को बैठी,
पुर-कन्याएँ कुसुम-वृष्टि करने को बैठीं।
आर्य अयोध्या जायँ युद्ध करने मैं जाऊँ,
पहले पहुँचे आप और मैं पीछे आऊँ,
यदि बैरी को मार न कुल-लक्ष्मी को लाऊँ,
तो मेरा यह शाप मुझे, मैं सुगति न पाऊँ।"

ये गौरवपूर्ण उद्गार लक्ष्मण के उस विराट् महामानव चरित्र की ओर संकेत करते हैं, जो महाकाव्य के नायक पद को शोभा प्रदान कर सकता है। एक व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक अपनी हृदय-देवी को भुलाकर एक आदर्श के अनुगमन में इतना तल्लीन होता है कि क्रमशः उसे ही अपने जीवन का गान बना लेता है, मनुष्य की कल्पना को स्पर्श करने वाली इससे अधिक प्रभावशालिनी और क्या बात हो सकती है? महाकाव्य ऐसे महान् व्यक्ति का गौरव गान न करेगा तो और किसे अपनी अक्षय श्रद्धा प्रदान करेगा?

किन्तु जहाँ कवि ने वीरवर लक्ष्मण को महत्ता प्रदान करने की उचित चेष्टा की है, वहाँ उनके प्रकृत क्रोधी स्वभाव की रक्षा भी उसे करनी ही पड़ी है; उनके चिर परिचित मूल स्वरूप में साधारण से अधिक पार्थक्य कर देने से एक दूसरे ही पात्र की सृष्टि हो जाती, और शायद कवि को वह सौदा बहुत महँगा पड़ता, पाठकों से बहुत कुछ खरा खोटा सुनना पड़ता। किन्तु वास्तव में साकेत के कथानक की कल्पना के मूल ही में त्रुटि हो गयी है, कवि ने इस बात को भुला दिया है कि एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं; एक जंगल में दो शेर नहीं रह सकते; एक महाकाव्य में

दो महच्चरित्रों की प्रतिस्थापना नहीं हो सकती। साकेतकार ने लक्ष्मण को 'साकेत' का नायक तो बनाया है किन्तु साथ ही पग-पग पर उन्हें रामचन्द्र जी का आश्रित भी बना दिया है। लक्ष्मण का त्याग तो ऊँचा है, किन्तु उनका क्रोध महाकाव्य के उपयुक्त संदेह लेकर सामने उपस्थिति नहीं होता; ऐसी तुनुकमिजाजी, ऐसी झुँझलाहट जो बात बात में बौखलाहट पैदा कर दे, किस काम की? इसे जाने दीजिए, लक्ष्मण के क्रोधी स्वभाव के साथ भी हम समझौता कर लेते, किन्तु यह उस अवस्था ही में सम्भव हो सकता था जब लक्ष्मण ही की सत्ता महाकाव्थ में सर्वत्र दिखाई पड़ती। 'रामचरित मानस' में रामचन्द्र जी की सत्ता आरम्भ से लेकर अन्त तक देखने में आती है। लक्ष्मण उनके सहायक मात्र हैं, पाठक के सामने एक विराट मानव चित्र प्रस्तुत कर दिया गया है। उसमें से वह जीवन की समस्त समस्याओं के समाधान के लिए उपयुक्त सामग्री का संचय कर सकता है। किन्तु 'साकेत' में यह बात सम्भव नहीं बनायी गयी। हमारे सामने लक्ष्मण के चरित्र से कहीं अधिक ऊँचा रामचन्द्र जी का चरित्र रख दिया गया है; ऐसी अवस्था में हमें जो कुछ सीखना होगा, रामचन्द्र जी ही के चरित्र से सीखेंगे। फिर लक्ष्मण की क्या उपयोगिता रह गयी? क्या रामचन्द्र जी के चरित्र-विकास में सहायक के रूप में? किन्तु उस अवस्था में लक्ष्मण इस महाकाव्य के नायक किस प्रकार हो सकेंगे। जो हो, साकेतकार ने किया यही है, उन्होंने रामचन्द्र जी के विकास ही के लिए लक्ष्मण का भी उपयोग कर डाला हैं। महात्मा गाँधी को लिखे गये अपने पत्र में वे लिखते हैं:—

"लक्ष्मण में सैनिक भाव की प्रबलता रहते हुए भी वह लौकिकता यथेष्ट मात्रा में होने से मेरी उनके साथ सरलता से निभ जाती है।"

× × ×

"सख्य भाव की उपासना में दीक्षित होते हुये भी मानस के राम के समीप मुझे बहुत सावधान रहना पड़ता है। उनकी मित्रता मानों राजा की मित्रता है। जो हाथी पर चढ़ाते-चढ़ाते शूली पर भी चढ़ा सकती है। इसलिए मुझे उनसे डर लगा रहता है। वह अभ्यस्त भय 'साकेत' में भी नहीं छूटा और मुझे उन्हें प्रभु कहते ही बना है।"

गुप्तजी पर अपने 'प्रभु' का जो आतंक सदा से रहा है, उसने उन्हें 'साकेत' में भी भयभीत बनाये रक्खा तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। राजा के सामने विनीत भाव रखना तो ठीक ही है, किन्तु उसका अधिकार केवल कर लेने भर का है, उसे देकर राजभक्त प्रजा सुख की नींद सो सकती है। राजभक्ति का यही प्रकृत स्वभाव है, यह नहीं कि किसी अन्य के अधिकारों को बलपूर्वक छीन कर राजा के हस्तगत कर देना। 'साकेत' में गुप्तजी ने यही किया है। उन्होंने लक्ष्मण के अधिकारों का बलिदान कर दिया हैं। गुप्तजी ने ऐसा करने में कलाकार की बुद्धिमत्ता का परिचय नहीं दिया है, यह नहीं, शायद लौकिक बुद्धिमत्ता का भी परिचय नहीं दिया है; क्योंकि डरना तो चाहिये वास्तव में लक्ष्मण जैसे फौजी आदमी से, न कि श्रीरामचन्द्र जैसे एक गम्भीर, शांत चित्त राजा से। महाराज दशरथ ने साकेत का राजा बनाते बनाते रामचन्द्र जी को बनवासी बना दिया, और 'साकेत' महाकाव्य के प्रणेता ने लक्ष्मण को इस महाकाव्य-प्रदेश का राजा बनाते बनाते उन्हें बनवासी बना दिया। यह विचित्रता कितनी मनोरंजक है।

साकेत का कथा-संगठन

दशरथ

यद्यपि 'साकेत' के नायक लक्ष्मण हैं, तथापि, रामचन्द्र और सीता का उसमें महत्वपूर्ण स्थान है। 'रामचरित-मानस' में तुलसीदास ने

रामचन्द्र को ब्रह्म और सीता को माया, रामचन्द्र को पुरुष और सीता को प्रकृति रूप में ग्रहण करके अपने काव्य को अग्रसर किया है। उनके सामने देश और समाज के उत्थान की केवल एक हलकी सी समस्या नहीं थी; वे मानवात्मा के चरम विकास के प्रश्न को हल करना चाहते थे। इसी प्रधान प्रश्न को सामने रखकर उन्होंने इस कौशल से लेखनी चलायी है कि उनके ज्ञान-प्रदीप का प्रकाश अन्धकार-मग्न समाज-भवन के दूर दूर के कोनों में भी पहुँच जाता है। 'साकेत' में यह बात नहीं है। वह पूर्ण मुक्ति के प्रश्न को लेकर नहीं चलता। स्वयं 'साकेत' के श्रीरामचन्द्र का कहना है कि मैं भूतल पर स्वर्ग का सन्देह लेकर नहीं आया, बल्कि भूतल ही को स्वर्ग बनाने के लिये आया हूँ। भूतल पर अपूर्व मुक्ति ही की संभावना हो सकती है। किन्तु 'राम चरित-मानस' व्यक्ति की साधना के रूप में पूर्ण युक्ति ही की समस्या को हल करने की कोशिश करता है, हाँ अपूर्व मुक्ति की सभी अवस्थाएँ आप ही आप उसमें तरंगित होती चलती हैं।

तुलसीदास जी की दृष्टि मानव-जीवन के प्रत्यक्ष स्वरूप ही पर पड़ कर नहीं रह जाती थी; आध्यात्मिक साधना की प्रखरता से युक्त होने के कारण वे मनुष्य के जीवन की उस अनन्तता को हृदयंगम कर चुके थे जो विभिन्न योनियों और अवस्थाओं में जीवात्मा के आवागमन को स्थापित करता है। इहलोक से परे का जीवन उनके लिए कल्पना का जीवन नहीं था; उसे वे अपने अनुभव द्वारा आत्मसात् कर चुके थे। इस कारण किसी मनुष्य के वर्त्तमान जीवन के कर्म विशेष को देखकर वे उस कर्म्म को सम्भव बनाने वाले उन शत-शत स्रोत की थाह पा जाते थे जो साधारण व्यक्ति की दृष्टि ही में नहीं आते। उदाहरण के लिए, मंथरा के चरित्र को ले लीजिये। साधारण दृष्टि उसे प्रायः लौकिक दृष्टि ही से देखेगी, स्वामिनी से पुरस्कार मिलने की आशा पर, अथवा रामचन्द्र और कौशिल्या के उत्थान के प्रति किसी व्यक्तिगत विद्वेष की भावना पर ही वह उस टेढ़ी बुद्धि और

टेढ़े शरीर वाली दासी के उस कार्य्य को अवलम्बित समझेगी, जिसने श्रीरामचन्द्र के राज्याभिशेक को असम्भव बना दिया। किन्तु जहाँ एक लालटेन किसी कमरे में ही रोशनी फैला कर रह जाती है वहाँ रेलगाड़ी की सर्चलाइट मीलों तक अपना प्रकाश फेंक सकती है। मन्थरा के जिस कार्य्य ने रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद जैसे राक्षसों का बध होना सम्भव बनाकर ऋषियों और मुनियों को निश्चिन्त कर दिया तथा पूजा-पाठ और यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति को सहज सुविधापूर्ण बनाया, जिस मनोवृत्ति ने इतने व्यक्तियों की जीवन-धारा को मथ डाला. वह एकान्त, असम्बद्ध नहीं हो सकती थी। इसीलिए तुलसीदास जी ने मंथरा की बुद्धि को विकृति करने में देवताओं, विशेष करके सरस्वतो की प्रयत्नशीलता को साधन-स्वरूप बनाया है। इसी कारण श्रीरामचन्द्र के प्रति दशरथ के मोह को भी उन्होंने पूर्व जन्म के एक शाप से संबद्ध किया है। जीवन की इसी अपरिमित कल्पना और अनुभूति ने 'राम-चरितमानस' में अंकित मानव-जीवन में अदृष्ट, अज्ञात शक्तियों के हस्तक्षेप को स्वाभाविक बनाया है। आधुनिक प्रत्यक्षवाद अपनी परिमित दृष्टि को दोष न देकर इस हस्तक्षेप को असम्बद्ध घोषित कर रहा है।

उक्त प्रत्यक्षवाद ने साकेत की रचना पर यथेष्ट प्रभाव डाला है। उसमें मंथरा की बुद्धि को विकृत करने के लिए सरस्वती का आवाहन नहीं किया जाता, और न दशरथ के अंतिम शोक का सम्बन्ध पूर्व जन्म की उक्त घटना से जोड़ने का विशेष यत्न किया जाता है। इस प्रकार आधुनिक विचार-धारा हो सन्तुष्ट करने की 'साकेत' ने चेष्टा की है।

रामायण की कथा में दशरथ का मोह एक प्रधान स्थल है। यह स्मरण रहे कि दशरथ वीरों में एक वीर थे, ऐसे वीर कि जिनकी सहायता की अपेक्षा इन्द्र भी किया करता था। ऐसे पुरुष में भी यह त्याग-भाव न उत्पन्न हो सका कि वह प्रसन्नतापूर्वक श्रीरामचन्द्र को बन-

प्रयाण करने दे। तुलसीदासजी ने दशरथ की वीरता की ओर संकेत करते हुये लिखा है:—

"सूरपति बसै बाहुबल जाके।
नरपति रहहिं सकल रुख ताके।"

स्वयं दशरथ ने अपनी शक्ति का परिचय देते हुए कहा है:—

"कहु केहि रंकहिं करउँ नरेसू।
कहु केहि नृपहिं निकारहुँ देसू।
सकउँ तोर अरि अमरउ मारी।
कहा कीट बपुरे नर नारी।

वास्तव में दशरथ की वीरता में कहीं भी सन्देह करने की गुञ्जाइश नहीं है। फिर ऐसे पुरुष को न केवल तुलसीदास ने बल्कि आदि कवि ने भी मोहग्रस्त रूप में क्यों अंकित किया?

गुप्तजी 'साकेत' के सम्बन्ध में महात्मा गांधीजी की सम्पत्ति पूछी थी। महात्माजी ने 'साकेत' के दो पात्रों के अतिशय रुदन के सम्बन्ध में आपत्ति की। वे हैं उर्मिला और दशरथ। उर्मिला की चर्चा अन्यत्र आवेगी। यहाँ दशरथ के सम्बन्ध में महात्मा जी के शब्द उधृत किये जाते हैं:—

एक और चीज भी कह दूँ। दशरथादि का रुदन तुलसीदास के मानस में पढ़ने से आघात नहीं पहुँचा था: तुलसीदास से दूसरा कुछ नहीं हो सकता था। परन्तु इस युग के पुस्तक में ऐसा रुदन नहीं भाता है। उसमें वीरता को हानि पहुँचती है और इधर भक्ति को भी। जो ऐहिक भोग को क्षणिक मानने वाले हैं उनको मृत्यु का और वियोग का असह्य कष्ट हो ही नहीं सकता है। क्षणिक मोह भले आ जावे। परन्तु हम उनके करुणाजनक रुदन की आशा कैसे रखें?"

इसके उत्तर में गुप्तजी का कथन निम्नलिखित है:—

"दशरथ के विषय में हम लोगों की एक धारणा कुछ निश्चित सी हो गई है। अन्धमुनि के शाप के कारण कहिए या राम के वियोग के कारण उन्हें मोह-जन्य कष्ट भोगना ही पड़ा और अन्त में अपना शरीर भी छोड़ देना पड़ा। पुत्र राम के न सही, चराचरनायक राम के वियोग में उनका विलाप साधारणतः क्षम्य ही नहीं, श्लाघनीय भी माना जाता है। × × उनके रुदन में राम विषयक मोह के साथ अपनी पत्नी का अनर्थ और कुल का विच्छेद भी सम्मिलित है। इसलिए रामायण में भी वह रुदन कम नहीं है। परन्तु, आपका यह वाक्य बहुत ही मार्मिक है कि इस युग के पुस्तक में ऐसा रुदन नहीं भाता।"

'इस युग के पुस्तक' में महात्माजी का यही अभिप्रायः समझ पड़ता है कि 'साकेत' का एक महत्वपूर्ण स्थल उसके एक महत्वपूर्ण चरित्र के इस रूप में उपस्थित नहीं करता कि वह वर्तमान भारतीय समाज के त्यागोन्मुख आदर्श और लोकमत के नेतृत्व प्रदान करे, अथवा उसका प्रतिनिधित्व ही कर सके। तुलसीदास के समकालीन समाज का आदर्श और लोकमत निस्सन्देह इतना प्रगतिशील नहीं था, उसमें व्यक्तियों की साधना भले ही अत्यन्त ऊँची कोटि की रही हो। ऐसी अवस्था में 'तुलसीदास से दूसरा कुछ नहीं हो सकता था'—महात्मा गाँधी के इस कथन से हम यही आशय निकाल सकते हैं कि उनके युग के आदर्श और लोकमत ने न तो अपेक्षा की और न तुलसीदास ने स्वतः उक्त स्थल में संशोधन की आवश्यकता समझी। 'दशरथादि का रुदन मानस में पढ़ने से आघात नहीं पहुँचा था'—इसका संकेत इसी ओर जान पड़ता है। 'साकेत' में सम्भवतः महात्माजी सत्यसेवी और अनासक्तिपूर्ण दशरथ का दर्शन करना चाहते थे. जो श्रीरामचन्द्र जी को हर्षपूर्वक विदा कर सकें, जो अपने प्राणप्रिय पुत्र को संसार के उपकार के लिए बलिदान कर सकें। कारण यह कि

हमारे समाज का वर्त्तमान आदर्श और लोकमत सत्यद्रष्टा से, कवि से प्राप्त उक्त घटना के ऐसे ही संशोधित स्वरूप में तृप्ति पा सकता है।

महात्मा गाँधी वर्त्तमान युग-सत्य के ऋषि हैं; वर्त्तमान समाज ने उन्हीं से अपने वर्त्तमान आदर्श और लोकमत को ग्रहण किया है। अतएव वे तो वर्त्तमान युग के सत्य की कसौटी पर साकेत को कसेंगे ही। किन्तु एक महाकाव्य को केवल युग विशेष के सत्य की कसौटी पर कसना ठीक नहीं है। युग-कला की दृष्टि भी—वह कला जो चिरन्तन सत्य, युगहीन, सर्वकालीन सत्य की अभिव्यक्ति करती है, उस पर विचार होना चाहिए। कला की ऐसी कसौटी को ध्यान में रखने पर रचना-विशेष का स्थल-विशेष आदर्श और लोकमत को हानि पहुँचाने की क्षमता रखने पर भी तब तक वास्तव में हानिकर नहीं रह जाता जब तक चिरन्तन, युगहीन सत्य की अभिव्यक्ति में उसकी कोई नियोजना हो सकती है। ऐसी स्थिति में हमें यह देखने की आवश्यकता है कि दशरथ के मोह का स्थल अपने सम्पूर्ण दैन्य को, शोचनीयता और दयनीयता को अपने अंग में लपेट कर रामायण काव्य में व्यक्त महासत्य से अलग कट कर खड़ा है या जाह्नवी की धारा में मिल कर पवित्रता लाभ करने वाले, अपने जीवन का परम उपयोग पा जाने वाले नाले की तरह उचित ही नहीं, पुनीत भी हो गया है। विचारणीय यह है कि 'साकेत' में दशरथ-मोह की जो असंशोधित योजना की गयी है, उसका कितना औचित्य है और कितना उपयोग है?

महात्मा जी को उत्तर देते हुए गुप्तजी ने यह बहुत ठीक लिखा है कि उनके [दशरथ के] रुदन में राम-विषयक मोह के साथ अपनी पत्नी का अनर्थ और अपने कुल का विच्छेद भी सम्मिलित है। अपनी ओर से मैं केवल एक शब्द 'अनुताप' और जोड़ कर इस उत्तर को पूर्ण बना देने की आशा रखता हूँ। वास्तव में यह स्थल दशरथ-मोह का उतने अंशों में नहीं है जितने अंशों में दशरथ-अनुताप का

है। रामचन्द्र के वियोग का एक और समय उपस्थित हो चुका था, जब विश्वामित्र लक्ष्मण समेत उनकी माँग कर अपने यज्ञ के विघ्नों के निवारणार्थ ले गये थे। उस समय दशरथ ने ऐसी व्याकुलता का प्रदर्शन नहीं किया था। एक बार अवश्य ही उन्होंने विश्वामित्र से कहा:—

"चौथेपन पायउँ सुत चारी।
विप्र कहेउ नहिं वचन विचारी।
माँगहु भूमि धेनु धन कोषा।
सरबस देहुँ आजु तजि रोषा।
देह प्राण ते प्रिय कछु नाहीं।
सोउ मुनि देउँ निमिष यक माहीं।
सब सुत मोहिं प्राण की नाईं।
राम देत नहिं बनै गुसाईं।
कहँ निशिचर अति घोर कठोरा।
कहँ सुन्दर सुत परम किशोरा।"

यह सब कहने पर भी उन्होंने किशोर रामचन्द्रजी को विश्वामित्र के साथ जाने ही दिया। ऐसी अवस्था में यह नहीं कह सकते कि दशरथ में वीरता अथवा त्याग का अभाव था। ऐसा ही प्रसंग पुनः उपस्थित होने पर दशरथ के लिए राम का वियोग सहन करना असम्भव नहीं था। ऐसी अवस्था में हम यह नहीं कह सकते कि कैकेयी का यह प्रसंग छिड़ने पर दशरथ की सम्पूर्ण व्याकुलता का कारण उनका राम के प्रति मोह मात्र है। व्याकुलता तो है, और वह बहुत अधिक है, किन्तु उसे उत्पन्न करने का श्रेय एक मात्र मोह को नहीं मिल सकता। सच बात यह है कि मुनियों के कष्ट को दूर करने के लिए दशरथ को अब भेजने में तो पहले की अपेक्षा भी कम आपत्ति होती; क्योंकि, अब तो उन्हें रामचन्द्र के अतुल पराक्रम का पूर्ण प्रमाण भी मिल गया था। किन्तु उस कठोर परिस्थिति ने, जिसमें निरपराध रामचन्द्र

को निर्वासित होकर जाने के लिए विवश होना पड़ रहा था, उनके वज्र ऐसे हृदय को भी विदीर्ण कर दिया। और वह कठोर परिस्थिति क्यों उत्पन्न हुई ? उनके लिए कौन उत्तरदायी था ? क्या मन्थरा ? नहीं; मन्थरा क्या कर सकती थी, यदि कैकेयी ही में उदारता होती तो क्या सारी जिम्मेदारी कैकेयी ही पर थी ? यह भी नहीं; कैकेयी ही क्या कर सकती थी, यदि दशरथ की कामुकता ने विषय-भोग की तृप्ति के लिए उन्हें उसका गुलाम न बना दिया होता ? अन्ततोगत्वा यह सारी जिम्मेदारी दशरथ की विषय-वासना ही पर जाती है। समझदार राजा को अपनी नासमझी उस समय अच्छी तरह समझ में आ गयी होगी जब उन्होंने अपने प्रेम की पात्री की अत्यन्त निष्ठुर और स्वार्थ-पतित रूप में देखा होगा। उन्होंने कितनी चिकनी-चुपड़ी बातें कहीं:—

'जानसि मोर सुभाव बरोरू।
मन तव आनन चंद्र चकोरू।
प्रिया प्राण सुत सर्वस मोरे।
परिजन प्रजा सकत बस तोरे।
जो कुछ कहौं कपट करि तोही।
भामिनि राम शपथ शत मोहीं।"

—रामचरितमानस

किन्तु इन सब का कैकेयी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। जिसे दशरथ प्राणों से अधिक चाहते थे उसको इस विकराल, प्राण-शोषक रूप में देखकर उनको संसार से, अपनी काम-लिप्सा से, अपने आपसे कितनी घृणा हुई होगी, यह सहृदय पाठकों के मनन करने की बात है।

इस परिस्थिति में, जो ऊपर बतलायी गयी है; दशरथ के शरीरांत का कारण श्रीरामचन्द्र का वियोग मात्र नहीं है; इस घटना के संघठित होने का प्रधान उत्तरदायित्व उनकी आत्मग्लानि को है—वह आत्मग्लानि जो सर्वथा स्वाभाविक थी और तीव्र कल्पना तथा अनुभूति का सम्पर्क पाकर घातक बन बैठी। मैं नहीं समझता कि दशरथ की

परिस्थिति में पड़कर दूसरा कोई भी सत्यसेवी दशरथ ही की तरह दुखी क्यों न होता? उन्हीं की तरह रो-रो कर क्यों न मर जाता? इन दशरथ की मृत्यु से वीरता को हानि नहीं पहुँच सकती और न भक्ति को ठेस लग सकती है। जितना ही स्वाभाविक उनके हृदय में अनुताप का उत्पन्न होना था, उतना ही स्वाभाविक यह था कि उसके परिणाम-स्वरूप वे प्रायश्चित करते। प्रायश्चित ही के रूप में उन्होंने बारम्बार प्रयत्न किया कि रामचन्द्र वन को न जायँ; सीता का बन के लिए तैयार हो जाना तो उन्हें और भी खला; सीता भी रह जातीं या लौट आतीं तो वे अपने हृदय से समझौता करके जीवन की रक्षा कर लेते, किन्तु दोनों में से एक भी न आये। ऐसी अवस्था में दशरथ ऐसे स्वाभिमानी सम्राट के लिए मर जाने ही में वीर-भाव की रक्षा थी। जीवित रहकर वे अपने आपको मिटा देते; मर कर उन्होंने अपने जीवन को बढ़ा लिया।

महात्मा जी के वाक्य से प्रभावित हो गुप्तजी ने उन्हें लिखे गये अपने पत्र में लिखा है:—

"बापू, आप तो समझौते के लिए सदा प्रस्तुत रहा करते हैं। सम्भव हो तो मेरी भी एक बात मान लीजिये। आप उर्मिला के विषाद को साकेत में स्थान रहने दीजिये और मैं दशरथ के जितने आँसू पोंछ सकूँ, साकेत के अगले संस्करण तक पोंछने का प्रयत्न करूँ।'

दशरथ के सम्बन्ध में उक्त व्यापक कथन के अनन्तर हमें 'साकेत' में अंकित उनके स्वरूप पर भी एक दृष्टिपात कर लेना चाहिये। यदि संभव हो तो हमें यह पता लगाना चाहिये कि 'साकेत' के दशरथ के क्लेश में कितना वियोग-जन्य कष्ट है और कितनी मात्रा अन्य भावों की है। तभी महात्मा जी की आलोचना तथा गुप्तजी के उक्त वादे के मर्म तक हम पहुँच सकेंगे।

स्वाभिमानी और सत्यसेवी दशरथ कैकेयी की, उसके वर माँगने के पहले, अपनी सत्य-भक्ति का विश्वास दिलाने के लिए कहते हैं:—

"दिलाऊँ मैं कैसे विश्वास !
परीक्षा कर देखो कमलाक्षि !
सुनो तुम भी सुरगण, चिरसाक्षि !
सत्य से ही स्थिर है संसार।
सत्य ही सब धर्म्मों का सार।
राज्य ही नहीं; प्राण-परिवार।
सत्य पर ;सकता हूँ सब वार।"

कैकेयी के वर माँगने के अन्तर दशरथ में अनुताप का भाव जाग्रत हो जाता है:—

"देव, सपना है कि प्रतीत ?
यही है नर-नारी की प्रीति ?
किसी को न दें कभी वर देव;
वचन देना छोड़ें नर देव।
दान में दुरुपयोग का वास।
किया जावे जिसका विश्वास ?
जिसे चिन्तामणि माला जान।
हृदय पर दिया प्रधान-स्थान।
अन्त में लेकर यों, विष—दन्त।
नागिनी निकली वह हा हन्त ?"

दशरथ धर्म्म-संकट में पड़ गये। एक ओर तो वे वचन-बद्ध हो गये, दूसरी ओर उनसे जो वर माँगे गये उन्होंने ही विषय-वासना के भयंकर परिणाम को उनके सामने रख दिया। वे कामी तो थे ही, कामी न होते तो कैकेयी के वश में इतने अधिक न हो जाते। किन्तु कभी स्वप्न में भी उन्होंने न सोचा होगा कि अपनी काम-वासना के लिए उन्हें इतनी महँगी कीमत देनी पड़ती। अपने जीवन के प्रसाद का फल प्राणप्रिय पुत्र को भोगने के लिये विवश देखकर उनके कलेजे पर साँप लोट गया होगा। फिर, इसमें रामचन्द्र के साथ साथ

लक्ष्मण और विदेह नन्दिनी के जाने की करुण परिस्थिति भी जोड़ लीजिये । उन्होंने लक्ष्मण की नव-विवाहिता-पत्नी उर्म्मिला के दुर्भाग्यपूर्ण भविष्य का चित्र भी अपने सामने खींच लिया होगा । दो पुत्रों और दो पुत्र-वधुओं के जीवन को बिना किसी अपराध के ही, कष्टमय बनाने के बाद भी दशरथ को अनुताप न होता तो यह आश्चर्य्य ही की बात होती । उन्होंने यह बात हृदयंगम कर ली कि अपने प्राणप्रिय पुत्र के सम्मुख वे न केवल प्रेम के अपराधी हैं, बल्कि उसके उचित स्वत्व के हरण के भी अपराधी हैं । त्यागमूर्त्ति रामचन्द्र को अधिकारों के भोग की कामना कहाँ ? उन्होंने तो सोचा ही होगा कि सस्ते छूटे; किन्तु लक्ष्मण को यह अन्याय सहन नहीं हुआ और उन्होंने गरज कर रामचन्द्र के प्रति किये गये अन्याय के विरोध में आवाज उठायी । इस समय बेचारे दशरथ क्या कर सकते थे ? सत्य की शपथ ने उनके हाथ-पाँव बाँध दिये थे, मर्य्यादा का अतिक्रमण वे कर नहीं सकते थे । हाँ एक बात उनके वश की थी; जीवन में सभी पापों का प्रायश्चित्त होता है; दशरथ भी अपने पाप का प्रायश्चित कर सकते थे । प्रेम के अपराध के लिए आत्मग्लानि की वह ज्वाला, जो शायद जीवन को भी स्वाहा कर दे, और स्वत्व-हरण के अपराध के लिए लक्ष्मण का, प्रजा का कैदी होना ही इस प्रायश्चित का स्वरूप हो सकता था । प्रायश्चित के प्रथम अंश की पूर्त्ति तो वे आप ही कर सकते थे; किन्तु द्वितीय अंश की पूर्त्ति के लिए उन्होंने लक्ष्मण का आवाहन करके उचित ही किया:—

> "मुझे बंदी बना कर वीरता से ।
> करो अभिषेक-साधन धीरता से ।
> स्वयं निःस्वार्थ हो तुम नीति रक्खो
> न होगा दोष कुछ कुलरीति रक्खो ।

प्रेम का अपराध भी उन्होंने स्वीकार कर लिया:—

"कहो, फिर वत्स पहले जो कहा था।
वही गर्जन मुझे सुख दे रहा था।
नहीं हूँ मैं पिता, सचमुच तुम्हारा।
(यही है क्या पिता की प्रीति-धारा ?)"

इसी तरह दशरथ रामचन्द्रजी से भी कह सकते थे कि यद्यपि मैं तुम्हें बन गमन का आदेश दे रहा हूँ, तथापि तुम उसे मानने के लिए वाध्य नहीं हो, क्योंकि मैं तुम्हारे अधिकार के हरण का अधिकारी नहीं हूँ। वे रामचन्द्र जी से स्पष्ट रूप से कह सकते थे कि दो पुत्रों और दो पुत्र-वधुओं के जीवन को कष्टमय बनाकर मैंने उनके प्रति प्रेम का जो अपराध किया है उसका प्रायश्चित मेरी मृत्यु ही से होगा। किन्तु यदि तुम चाहते हो कि मुझे यह कठोर प्रायश्चित न करना पड़े तो मेरी वन गमन की आज्ञा हो जाने पर भी, त्याग-भाव को त्याग कर, अधिकार भावना को गले लगा कर अपना राज्य प्राप्त करो। 'साकेत' के दशरथ ठीक जगह पर आते आते भी रह गये। ऐसा कहने में उनकी आत्मशक्ति का परिचय मिलता। किन्तु इसके स्थान में उन्होंने जो कुछ कहा उससे वे सचमुच बहुत दुर्बल प्रतीत होते हैं:—

"सुनो हे राम! तुम भी धैर्य धारो।
पिता को मृत्यु के मुख से उबारो।
न मानो आज तुम आदेश मेरा।
प्रबल उससे नहीं क्या क्लेश मेरा।"

दशरथ की इस वाणी से कुछ कातरता की ध्वनि सी आती है, जैसे मृत्यु के मुख में जाते हुए उन्हें बहुत अधिक भय लग रहा है और उससे उद्धार पाने के लिए वे बड़े अधीर हैं। वे रामचन्द्र जी से यह तो कहते हैं कि मेरा आदेश मत मानो, किन्तु अपने ही स्वार्थ के भाव से प्रेरित होकर वे ऐसा करने के लिए कहते हैं; किसी ऊँची कर्त्तव्य-भावना से उत्तेजित हो कर नहीं। दशरथ स्वयं तो न आदर्श

पिता हो सके और न आदर्श राजा और फिर भी रामचन्द्र को उपदेश देते हैं कि तुम अपने धर्म्म का पालन करो, इसलिए कि उनका क्लेश उनके आदेश से अधिक प्रबल है। यही स्थल है, जिसमें दशरथ की वीरता का ह्रास हुआ है, आत्मा की अमरता में जिन्हें श्रद्धा है, उन्हें यहाँ आघात पहुँचाने वाली सामग्री उपस्थित है। दशरथ ऐसे महावीर पुरुष की यह दयनीय स्थिति ठीक नहीं है। कायर भी मरता है, वीर भी मरता है; कायर रो रो कर मरता है, वीर मृत्यु को गले लगाने के लिए दौड़ता है। 'साकेत' के दशरथ की मृत्यु वीर मृत्यु नहीं है, वे कायरों की तरह रो-रो कर मरे हैं।

ऊपर जो कुछ कथन किया गया है उससे हम देख सकते हैं कि गुप्तजी ने दशरथ के चरित्र-चित्रण में यथेष्ट परिश्रम नहीं किया। दशरथ के पुत्र-वियोग को सामने लाकर वर्त्तमान भारत के प्रचलित आदर्श और लोकमत की तृप्ति करने का एक बहुत अच्छा अवसर उनके हाथ में था, किन्तु उन्होंने उसका ठीक उपयोग नहीं किया। शुद्ध कला की दृष्टि से भी दशरथ का यह चित्रण ठीक नहीं; क्योंकि दशरथ की यह दुर्बलता भी 'साकेत' की काव्य-कला के विकास के लिए कोई उपकरण नहीं उपस्थित करती; वह मूल प्रवाह से छिन्न-भिन्न हो कर एक गँदले गढ़े की तरह मलिन और अरुचिकर हो जाती है।

उर्मिला

मंथरा के कुचक्र के कारण श्रीरामचन्द्र का राज्याभिषेक होते होते जिस प्रकार रुक गया; उसका कठोर और कटु परिणाम मिलना तो चाहिये था वास्तव में श्रीरामचन्द्र ही को, किन्तु जैसा ऊँचा उनका व्यक्तित्व था उसके कारण यह अप्रिय आघात उनकी गोद में फूल ही की तरह गिरा। वे सीताजी को अपने साथ ले जाने के

लिए तैयार ही हो गये, फिर उनके लिए भी चिन्ता की कोई बात नहीं रह गयी। लक्ष्मण जी रामचन्द्र जी को अपने मान्य अदर्श की मूर्त्ति के रूप में देखते थे। उन्होंने पिता के सामने जो क्रोधोद्‌गार प्रगट किये थे उनमें रामचन्द्र जी के अधिकार की गर्जनापूर्ण घोषणा की थी; लेकिन यदि रामचन्द्र उसी अधिकार के भोग में रत हो जाते तो भी लक्ष्मण की श्रद्धा उन पर वैसी ही बनी रह जाती या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता किन्तु जब रामचन्द्र अपने कर्त्तव्य पर आरूढ़ हुए तब लक्ष्मण उनका साथ क्यों न दें? इस प्रकार साधना का स्वागत करने वाले लक्ष्मण के लिए भी कोई आवाँछनीय परिणाम नहीं उपस्थित हुआ। इस सोचनीय परिस्थिति के कारण सब से अधिक संकट में पड़ गयी बेचारी लक्ष्मण की नववधू उर्मिला जो न तो पति की साधना में बाधा डाल सकती थी और न उनसे आग्रह कर सकती थी कि मुझे भी साथ ले चलो। इस परिस्थिति से उत्पन्न होने वाला उर्मिला का विषाद ही वह रीढ़ हड्डी है जिस पर 'साकेत' का शरीर टिका हुआ है। इस विषाद में कितना खारा पानी है, कितना मोती है, इसका पता लगाकर इस सम्पूर्ण 'साकेत' काव्य का मूल्य आँक सकते हैं।

महात्मा गाँधी ने 'साकेत' पर सम्मति देते हुए उर्मिला के सम्बन्ध में भी कुछ लिखा है। उसे पाठक नीचे देखें:—

"उर्मिला का विषाद अगरचे भाषा की दृष्टि से सुन्दर है, परन्तु 'साकेत' में उसको शायद ही स्थान हो सकता। तुलसीदास जी ने उर्मिला के बारे में बहुत कुछ नहीं कहा है, यह दोष माना गया है। मैंने इस अभाव को दोष-दृष्टि से नहीं देखा। मुझको उसमें कवि की कला प्रतीत हुई है। मानस की रचना ऐसी है कि उर्मिला जैसे योग्य पात्र का उल्लेख अध्याहार में रखा गया है; उसी में काव्य का और उन पात्रों का महत्व है। उर्मिला इत्यादि के गुणों का वर्णन

सीता के गुणविशेष बताने के लिए ही आ सकता। परन्तु उर्मिला के गुण सीता से कम थे ही नहीं। जैसी सीता वैसी ही उसकी भगिनियाँ। मानस एक अनुपम धर्म्मग्रन्थ है। प्रत्येक पृष्ठ में और प्रत्येक वाक्य में सीता सीताराम का ही जप जपाया है। 'साकेत' में भी मैं वही चीज़ देखना चाहता था, इसमें कुछ भंग उपरोक्त कारण के लिए हुआ।"

'रामचरित मानस' और साकेत की कथा है तो प्रायः एक ही; किन्तु पात्र विशेष को अधिक प्रकाश में लाने की इच्छा ने दोनों के गृहीत पथों में विभिन्नता उत्पन्न कर दी है। 'रामचरित मानस' में तुलसीदास ने रामचन्द्र के चरित्र-विकास को सर्वोपरि प्रधानता दी है; अन्य सभी पात्र गौण हो गये हैं। 'साकेत के प्रणेता ने उर्मिला की पीड़ा को अधिक महत्व देना चाहा, और इस कारण रामचन्द्र की अपेक्षा लक्ष्मण को अधिक प्रकाश में लाने का उद्योग किया है। कवि की इसी इच्छा के कारण हम काव्य की सारी घटनाओं को 'साकेत' ही में बैठे हनूमान जी के मुख से सुन लेते हैं। यही नहीं, इस कथा-संगठन की बदौलत उर्मिला के शौर्य्य और धैर्य्य का संकेत करनेवाला एक चित्र भी हमारे सामने आ जाता है। आरम्भ में कवि ने उर्मिला और लक्ष्मण का पारस्परिक हास-परिहास का आनन्द-मय मिलन का एक दृश्य उपस्थित करने के बाद इस प्रणयी युगम के आमोद-प्रमोद विकास की बाधाओं का उल्लेख करना शुरू किया है। विघ्न भी ऐसा उपस्थित हो गया कि उसने लक्ष्मण का वन जाना अनिवार्य कर दिया, और वन जाना भी एक दो दिन के लिए, सप्ताह दो सप्ताह के लिए नहीं, पूरे चौदह वर्ष के लिए। इस अभागिनी नवयुवती के लिए यह पूरी अग्नि-परीक्षा थी। भरत की प्रतिकूलता के कारण जब कैकेयी को अपना मत बदलना पड़ा और जब वह अपने संशोधित भावों को लेकर भरत के साथ वन में राम से मिलने के लिए गयी तब उर्मिला के हृदय में कुछ आशा का संचार हो गया था; किंतु

रामचन्द्र के के आदर्शवाद ने परिस्थिति में कोई परिवर्त्तन उपस्थित नहीं होने दिया, और दुःखिनी उर्मिला को निराश होकर लौटना पड़ा। तब से लेकर उस दिन तक जब उसने समाचार पाया कि उसके पति लड़ाई में शक्ति के आघात से संज्ञाहीना ही नहीं मरणासन्न हो गये हैं, उसने अपना सम्पूर्ण वियोग-काल कातर करुणाजनक रोदन ही में व्यतीत किया। पति की इस चिन्ताजनक स्थिति ने उसे किंकर्त्तव्य विमूढ़ नहीं बनाया; वह सेना के आगे-आगे लंकापुरी की ओर चलने को सन्नद्ध हो गयी। इस समय उसकी अपूर्व शोभा हो गयी थी:—

"आ शत्रुघ्न समीप रुकी लक्ष्मण की रानी।
प्रकट हुई ज्यों कार्तिकेय के निकट भवानी।
जटा जाल से बाल बिलम्बित छूट पड़े थे।
आनन पर सौ अरुण घटा में फूट पड़े थे।
माथे का सिन्दूर सजग अंगार-सदृश था।
प्रथमातप सा पुण्य गात्र यद्यपि वह कृश था।
बायाँ कर शत्रुघ्न-पृष्ठ पर कण्ठ निकट था।
दाएँ कर में स्थूल किरण-सा शूल विकट था।"

शत्रुघ्न ने सेना को आदेश दिया:—

"अब क्या है बस, वीर, बाण से छूटो, छूटो।
सोने की उस शत्रु पुरी लङ्का को लूटो।"

इसी समय उर्मिला उनके आदेश का खंडन कर देती है:—

"गरज उठी वह नहीं, नहीं पापी का सोना।
यहाँ न लाना; भले सिन्धु में वहीं डुबोना।
धीरो, धन को आज ध्यान में भी मत लाओ,
जाते हो तो मान हेतु ही तुम सब जाओ।
है निज पार्थिव सिद्धि रूपिणी सीता रानी,
और दिव्य फल-रूप राम राजा बलदानी।

करे न कौणप गन्ध कलंकित मंद पवन को,
लगे न कोई कुटिल कीट अपने उपवन को।
विन्ध्य-हिमालय भाल भला झुक जाय न धीरो,
चन्द्र-सूर्य-कुल कीर्ति कला रुक जाय न वीरो।
चढ़ कर उतर न जाय सुनो कुल-मौक्तिक मानी,
गंगा यमुना-सिंधु और सरयू का पानी।
बढ़ कर इसी प्रसिद्ध पुरातन पुण्यस्थल से,
किये दिग्विजय बार-बार तुमने निज बल से।
किसका कुल है आर्य बना अपने कार्यों से,
पढ़ा न किसने पाठ अवनि-तल में आर्य्यों से।
पावें तुमसे आज शत्रु भी ऐसी शिक्षा,
जिसका अर्थ हो दण्ड और इति दया तितिक्षा।
देखो, निकली पूर्व दिशा से अपनी ऊषा,
यही हमारी प्रकृत पताका भव की भूषा।
ठहरो, यह मैं चलूँ कीर्त्ति सी आगे-आगे,
भोगें अपने विषम कर्म्म-फल अधम अभागे।"

उर्मिला का यह अत्यन्त तेजस्वी रूप है, जिसे गुप्तजी ने अंकित किया है। इसके बाद एक अन्य दृश्य में हम उसे शृंगार और आडम्बर से विरक्त-सी होकर पति से अपने प्रकृत रूप में मिलते देखते हैं।

स्वयं रामचन्द्र जी ने उर्मिला के तप की प्रशंसा करते हुए कहा है:—

"तू ने तो सहधर्म्मचारिणी के भी ऊपर
धर्म्मस्थापन किया भाग्यशालिनी इस भू पर।"

एक ओर तो मर्य्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी उर्मिला को इस तरह की सर्टीफिकेट देते हैं; दूसरी ओर युग के महापुरुष महात्मा गाँधी का यह कहना है कि उर्मिला के विषाद को 'साकेत' में शायद ही

स्थान हो सकता। इस मतभेद के औचित्य अथवा अनौचित्य पर विचार करने के लिये हम उर्मिला के चरित्र के भीतर अधिक गहराई तक प्रवेश करना चाहिये।

गाँधी जी को उत्तर देते हुए गुप्तजी लिखते हैं:—

"मैंने एक कथा में सुना है कि स्वर्ग में भी एक विषाद रहता है। स्वर्गीय प्राणी भी हम नीचे पड़े हुओं को देखकर दुःख से हाय-हाय करते हैं, यही तो हम लोगों के लिए सहारा है। इतने पर भी इस विषाद को यदि दुर्बलता माना जाय तो इस युग में, स्मरण रखिए, सब से दुर्बल आप ही निकलेंगे।

"और, क्षमा कीजिए, आप के राम की भी कुशल नहीं। साकेत के पात्रों ने मानो हठ कर लिया है कि इन्हें रुला कर ही छोड़ेंगे। हम रोते रहें और ये हँसते रहें, यह हो नहीं सकता। अस्तु, भरत ने राम को रुला कर ही छोड़ा और धोखा देकर नहीं, डंके की चोट। इसे स्वयं राम ने स्वीकार किया है—

"रे भाई तू ने रुला दिया मुझको भी,
शंका थी तुझसे यही अपूर्व अलोभी।"

यह ठीक है: गुप्तजी ने उर्मिला के विषाद की परीक्षा करने के लिए एक कसौटी भी दे दी। गाँधी का विषाद अनाशक्ति के जिस तत्व से निर्मित है रामचन्द्रजी का विषाद सत्य और परोपकार भावना की जिस धुरी पर अवलम्बित है, उसी पर यदि उर्मिला का विषाद भी आश्रित हो तो हम क्यों न उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखेंगे, क्यों न उसे वन्दनीय समझ कर उसके चरणों पर अपना शिर नत कर देंगे?

अपने उत्तर के सिलसिले में गुप्तजी ने लिखा है:—

"उर्मिला का रोना स्वार्थ को लेकर नहीं चलता:—

"मैं अपने लिए अधीर नहीं।
स्वार्थी यह लोचन नीर, नहीं!

क्या से क्या हाय ? हो गया यह ।
रस में विष कौन बो गया यह ?
जो यों निज प्राप्य छोड़ देंगे।
अप्राप्य अजुग उनके लेंगे ?
माँ ने न तनिक समझा बूझा ।
यह उन्हें अचानक क्या सूझा ?"

उर्मिला स्वार्थी हो या स्वार्थ-भाव शून्य हो, किन्तु उसके भाव को प्रमाणित करने के लिए स्वयं उसी का कथन उद्धृत करके गुप्तजी ने ठीक नहीं किया है। जब हमें उर्मिला की परीक्षा करनी है; तो उसके सम्बन्ध में स्वयं उसी का, अथवा उसकी प्रशंसा में ऐसे लोगों की सम्मति का, जो उसके एहसान से लदे हुए हैं; क्या मूल्य हो सकता है । माना कि वह बड़ी ही सुकुमार-हृदया है, पर—दुःख-कातरा है, फिर भी जिस घटना से स्वयं उसको दारुण विरह-वेदना भोगनी पड़ी उसी के प्रति वह सर्वथा निस्वार्थ: सर्वथा उदासीन कैसे रह सकती है ? यदि उर्मिला ने लक्ष्मण के वियोग में इतनी आहें न भरी होती, इतने आँसू न बनाये होते, जितने नवम सर्ग में दिखलाये गये हैं तो हम यह भी मान लेते कि वास्तव में वह केवल कुल के विच्छेद की आशंका से विचलित है और कैकेयी के शोचनीय कार्य की जो कुछ आलोचना कर रही है वह सर्वथा निस्वार्थ है। किन्तु जब मतभेद यहीं शुरू हो जाता है तो हम पहले यही समझने का उद्योग करें कि उर्मिला के हृदय में स्वार्थ का मर्म्मस्थल कहाँ है, और किन बातों में वह निस्वार्थ भाव रखती है। जब हम यह विश्लेषण कर सकेंगे कि उर्मिला के आँसुओं के इतने हिस्से में उसका स्वार्थ निहित है और इतने हिस्से में पर पीड़ानुभूति है तभी हम उनकी ठीक-ठीक कीमत आँक सकेंगे किन्तु नब्ज देखकर प्रेम की थाह लगाने वाले यन्त्र की तरह आँसुओं का विश्लेषण करके स्वार्थमय और निस्स्वार्थ भाव

का पता लगाने वाले किसी यन्त्र की अमरीका तक ने ईजाद नहीं की है। ऐसी अवस्था में हमारा यह कार्य्य दुष्कर ही है; किन्तु प्रयत्न तो करना ही होगा।

प्रत्येक व्यक्ति में कल्पना और अनुभूति की भिन्न-भिन्न मात्रायें होती हैं, यह बतलाया जा चुका है। कल्पना तो वह इस बात की भी कर सकता है कि मैं सम्पूर्ण विश्व में सब से बड़ा सम्राट् हो जाऊँ, किन्तु उसकी वास्तविक स्थिति का निश्चय उसकी अनुभूति ही से होता है। उदाहरण के लिए रामचरित-मानस में दशरथ उद्दीप्त कल्पना के आधार पर कहते हैं:—

"रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्राण जाई बरु बचन न जाई।
नहिं असत्य सम पातक पुंजा।
गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा।
सत्य मूल सब सुकृत सुहाये।
वेद पुराण विदित मुनि गाये।
× × ×
थाती राखि न माँगेउ काऊ।
बिसरि गयउ मम भोर सुभाऊ।
झूठहुँ दोष हमहिं जनि देहू।
दुइ के चारि माँगि किन लेहू।"

किन्तु उनकी इस उड़ान में बाधा डालकर अनुभूति उन्हें नीचे प्रकृत स्थान पर खींच लाती है। कैकेयी के दोनों वर, जिनकी माँग उसने उपस्थित की है, स्पष्ट हैं। लेकिन दशरथ उनकी ओर से आँख मूँद कर ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि रामचन्द्र वन को न जाँय:—

"विधिहिं मनाउ राउ मन माहीं।
जेहि रघुनाथ न कानन जाहीं।

सुमिरि महेशहिं कहहिं निहोरी।
बिनती सुनहु सदाशिव मोरी।
आशुतोष तुम औढर दानी।
आरति हरहु दीन जन जानी।
तुम प्रेरक सब के हृदय, सो मति रामहिं देहु।
बचन मोर तजि रहहिं घर परहरि शील सनेहु।
अयश होउ बरु सुयश नसाऊ।
नरक परौं बरु सुरपुर जाऊ।
सब दुख दुसह सहावहु मोहीं।
लोचन ओट राम जनि होहीं।

दशरथ का यह वचन-भंग मानसिक आन्दोलन ही तक परिमित रहा हो, सो बात भी नहीं, उन्होंने अपने मंत्री से स्पष्ट रूप में कहाः—

"सुठि सुकुमार कुमार दोउ, जनकसुता सुकुमारि।
रथ चढ़ाइ दिखराइ बन फिरेहु गये दिन चारि।"

कहाँ वर-याचना के पहले का आश्वासन और कहाँ उसकी पूर्त्ति का संकीर्ण रूप!

इसी प्रकार यदि हम उर्मिला की कल्पना और अनुभूति का पता लगा सकें तो हमारे उद्दिष्ट कार्य्य में सरलता हो जायगी। किन्तु इस ओर प्रवृत्त होने के पहले हम थोड़ा-सा उसकी कौटुम्बिक परिस्थिति पर विचार कर लें।

उर्मिला उस कुटुम्ब की एक सहृदय वधू है जो अपना प्रतिष्ठा में अद्वितीय था। रघुवंशी राजाओं के मुँह से जब एक बात निकल गयी तो उसको अनादृत करना वे नहीं जानते थे। दशरथ कोई साधारण सम्राट नहीं थे, काम पड़ने पर स्वयं इन्द्र उनसे सहायता के प्रार्थी होते थे। इसके अतिरिक्त उर्मिला मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र की अनुज-वधू और लक्ष्मण जैसे पराक्रमी और त्यागी योधा की पत्नी थी। यों भी वह जनक ऐसे ज्ञानी राजा की कन्या और सीता की छोटी बहन

थी। ऐसी अवस्था में यह आशा की जाती है कि उसका जीवन महान् होगा।

महाराज दशरथ सत्य सिन्धु थे, उनके अगर कोई ऐब था तो केवल यह कि विषय भोग में लिप्त रहते थे। इसी दुर्बलता के कारण छोटी रानी कैकेयी पर उनका अनुराग आसक्ति की सीमा तक पहुँच गया था। कैकेयी ने उनकी इस स्थिति से लाभ उठाने का निश्चय किया और सत्य के आदर्श की चंग पर चढ़ा कर महाराज से ऐसी वर-याचना की जिसने उनकी कमर तोड़ दी। जैसे ही वे कैकेयी में असक्त थे वैसे ही रामचन्द्र पर भी अनुरक्त थे। एक ओर रामचन्द्र के प्रति अनुराग और दूसरी ओर सत्यादर्श-पालन, इन दोनों के बीच में जो द्वन्द उपस्थित हुआ उसने दशरथ को कितना निर्बल बना दिया, यह पाठक देख चुके हैं। राम के वियोग के कारण ही वे नहीं मरे, बल्कि जैसा कि बतलाया जा चुका है, उनके मरने का कारण वह आत्मग्लानि से पूर्ण परिस्थिति है, जिसमें रामचन्द्र को निर्वासित होना पड़ा। ऐसी स्थिति में उर्मिला से भी बहुत उच्च चरित्र की आशा की जा सकती है। गुप्तजी को भी उर्मिला के उच्च चरित्र पर श्रद्धा है, तभी तो साकेत के नवम सर्ग में हम उसे कामदेव को इस प्रकार फटकारते हुए देखते हैं:—

"नहीं भोगिनी यह मैं कोई जो तुम जाल पसारो।
बल हो तो सिन्दूर-बिन्दू यह, यह हरनेत्र निहारो।
रूप-दर्प कन्दर्प! तुम्हें तो मेरे पति पर वारो।
लो यह मेरी चरण-धूलि उस रति के सिर पर धारो"

उर्मिला से कामदेव का इस प्रकार फटकार पाना सर्वथा उचित है। चाहिये तो यह था कि उस योगिनी वियोगिनी के पास वह जाता ही नहीं। किन्तु उसकी निम्नगामिनी प्रवृत्तियाँ ऐसी ही हैं; शायद मनस्वी व्यक्तियों से अपमानित होना भी उसने अपने जीवन का एक उद्देश्य बना लिया है। जो हो, रघुकुल के सामने एक विशेष

परिस्थिति प्रस्तुत थी और उस परिस्थिति में अपराधी के रूप में एक ओर साधुमना भरत थे और दूसरी ओर इस शोचनीय काण्ड के कारण सबसे अधिक हानि सहन करने वाली, सबसे अधिक पीड़ा पाने वाली उर्मिला थी। भरत ने अपनी माता के अन्यायपूर्ण कार्य के लिए जितना अनुताप प्रकट किया, जितना प्रायश्चित किया वह इतना तो कम से कम था ही की उनके बदले में उर्मिला उनको क्षमा कर दे। और चरमतम त्याग की, कठिन साधना की अपेक्षा करने वाली उक्त विशेष परिस्थिति इस क्षमा का जो स्वरूप निर्धारित करेगी वह प्रफुल्लता का, प्राप्त वेदना से न केवल अप्रभावित, बल्कि आनन्द-मग्न होने की अवस्था का ही हो सकता है। कैकेयी के अनौचित्य से उर्मिला और भरत एक दूसरे से बहुत दूर हो गये थे; उस स्थिति की कल्पना कीजिए जब भरत अपने प्राप्त अधिकारों के उपभोग में रत होते और उर्मिला अपने प्रियतम के वियोग में आहें भरती होती। उर्मिला और भरत के बीच की यह दूरी उक्त क्षमा के द्वारा ही दूर की जा सकती थी। तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में उर्मिला का जो अध्याहार किया गया है. उसमें इसी क्षमा तत्व का समावेश किया गया है! तुलसीदास जी की उर्मिला ने मौन रह कर उस आत्म-त्याग का परिचय दिया है, जिसका अवलम्ब प्राप्त करके ही वह दशरथ, रामचन्द्र, लक्ष्मण, भरत आदि की श्रेणी में सिर ऊँचा करके बैठ सकती थी। जिस समय घटना विशेष द्वारा संगठित गर्त्त की पूर्ति जीवन के एक नवीन त्यागमय आदर्श की कल्पना और अनुभूति के रूप में होती है, उस समय घटना द्वारा खींची गयी परिधि के भीतर आने वाले व्यक्तियों को नव प्रतिष्ठित आदर्श की कल्पना के समक्ष कल्पना; और अनुभूति के समक्ष अनुभूति करनी पड़ती है। उर्मिला के सामने भी यही समस्या उपस्थित थी और अपने ढंग पर तुलसीदास ने उसकी मौनता में ही उसका समाधान प्रस्तुत किया है। उर्मिला के हृदय में यदि

आदर्श की कठोर और कसी हुई अनुभूति होगी तो हमें उसकी आँखों में प्रिय-वियोग-कष्ट-जन्य अश्रुधारा का दर्शन नहीं मिल सकेगा। उसकी आँखों में यदि आँसू दिखायी भी पड़ेंगे तो उक्त परिस्थिति में उनका उद्गम-स्थल प्रियतम के वियोग में न होकर किसी अन्य प्रदेश में होगा। इस बात को हमें अच्छी तरह से हृदयंगम कर लेने की आवश्यकता है; क्योंकि इसको ठीक-ठीक समझे बिना हम 'साकेत' की उर्मिला के अश्रुओं का ठीक ठीक विश्लेषण नहीं कर सकेंगे।

थोड़ी देर के लिए कल्पना कर लीजिए कि कैकेयी वर-याचना सम्बन्धी घटना घटी ही नहीं। उस समय यदि लक्ष्मण का वियोग उर्मिला के सम्मुख उपस्थित हुआ होता और उनकी आँखों ने मोतियों की माला पिरोयी होती, तो इस माला को हम सहृदयता से गले का हार समझते। किन्तु नवीन, कठोर आदर्श के उपस्थित होने पर इस परिस्थिति में परिवर्त्तन हो जाता है। त्याग और आदर्श का यह तकाजा था कि उर्मिला अपने व्यक्तिगत विषाद को पी ले जाय और भरत के हृदय में तनिक से भी संकोच, तनिक भी लज्जा का भाव न उत्पन्न होने दे। उर्मिला में अपने आदर्श के प्रति तन्मयता का भाव नहीं है, यदि उसकी आदर्श-विषयक अनुभूति आदर्श-विषयक कल्पना से बहुत पीछे है तो भी कोई विशेश हर्ज नहीं है। ऐसा तो प्रायः होता ही है किन्तु उसे निस्संकोच रूप से अपनी दुर्बलता को स्वीकार कर लेना चाहिए, कठोर आदर्श के उपस्थित रहते हुए उसका रुदन, यदि वह प्रियतम के वियोग पर केन्द्रीभूत है; दुर्बलता मानी जायगी। उक्त आदर्श के प्रति आकर्षण की प्रबलता तथा उक्त दुर्बलता द्वारा उपस्थित की जाने वाली दुर्दमनीय बाधा के संघर्ष-पथ से ही उर्मिला का विकास अग्रसर होना चाहिए। यदि 'साकेत' की उर्मिला के आँसू व्यक्तिगत विषाद के द्योतक हैं, तो विचारणीय यह है कि उर्मिला ने अपने रुदन में आदर्श प्रीति की

अनुभूति को महत्व प्रदान किया है, अथवा अपनी दुर्बलता की अनुभूति को। किन्तु, इस सम्बन्ध में भी हम तभी किसी निश्चय पर पहुँच सकते हैं, जब यह समझ लें कि उक्त आदर्श-प्रीति-विषयक अनुभूति किस रूप में अपने आप को व्यक्त करेगी। उक्त अनुभूति की चर्चा करने के पहले हम उक्त आदर्श-प्रीति-विषयक कल्पना की ओर एक दृष्टिपात कर लें। अपनी उद्दीप्त कल्पना को व्यक्त करने के अनेक अवसर उर्मिला के हाथ में आये। इन अवसरों पर उसके निम्नलिखित उद्गार उल्लेख-योग्य हैं—

(१) "यदि स्वामि-संगिनी रह न सकी।
तो क्यों इतना भी कह न सकी।
× × ×
है प्रेम स्वयं कर्त्तव्य बड़ा।
जो खींच रहा है तुम्हें खड़ा।
यह भ्रातृ-स्नेह न ऊना हो।
लोगों के लिए नमूना हो।
× × ×
आने का दिन है दूर सही।
पर है, बस अब अवलम्ब यही।
आराध्य युग्म के सोने पर।
निस्तब्ध निशा के होने पर।
तुम याद करोगे मुझे कभी।
तो बस फिर मैं पा चुकी सभी।"

निम्नलिखित पंक्तियों में भी कल्पना का यही स्तर हमको प्राप्त होता है :—

"कहा उर्मिला ने—हे मन !
तू प्रिय पथ का विघ्न न बन।

आज स्वार्थ है त्याग भरा !
हो अनुराग विराग भरा !
तू विकार से पूर्ण न हो।
शोक-भार से चूर्ण न हो।
भ्रातृ-स्नेह-सुधा बरसे।
भू पर स्वर्ग भाव सरसे !

इसी कल्पना को हृदयंगम करने की, अनुभूति के रूप में परिणत करने की चेष्टा उर्मिला करती है। परन्तु, अपने प्रस्तुत रूप में यह कल्पना अधूरी है, वास्तव में इसे थोड़ा और प्रखर होना चाहिए था। भ्रातृ-स्नेह-सुधा की वृष्टि केवल रामचन्द्र ही तक परिमित न रहनी चाहिए थी; उसकी दो एक बूँद अभागे भरत को भी मिलनी चाहिए थी। इन दो बूँदों के दान का भार तो स्वयं उसी पर था। बड़े भाई की सेवा कर के लक्ष्मण ने तो जंगल में भी मंगल कर दिया; किन्तु अयोध्या के राज-भवन में सुख-संचार का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व तो उसी पर था। इस दृष्टि से उर्मिला की कल्पना अधूरी ही रह गयी है, सम्भवतः उसके डगमग पैरों ने इतने ऊँचे चढ़ने की बात ही उसके ध्यान में नहीं आने दी। जो हो, कल्पना का तो यही उद्देश्य है कि वह अनेकत्व में एकत्व का दर्शन करावे; जटिल परिस्थितियों से उत्पन्न समस्या का संतोषजनक समाधान उपस्थित करे, गढ़े में नई मिट्टी भर के उसे भूमि के साथ समथल कर दे। कैकेयी-सम्बन्धी घटना से अयोध्या के राजकुटुम्ब के सम्मुख जो कठिन प्रश्न खड़ा हो गया, उसका समाधान उतने ही त्याग से नहीं हो सकता था जितने त्याग को उर्मिला ने अपनाने का निश्चय किया ! जैसी कठिन तपस्या लक्ष्मण जंगल में कर रहे थे, उससे कम तपस्या उसे अयोध्या के राज-भवन में नहीं करनी थी। आँखों से आँसू बहाना तो दूर, आहें भरना तो अलग; उसे तो प्रति पल सावधान रहना चाहिए था कि कहीं भरत की दृष्टि में वह तनिक से विषाद की छाया से

भी विचलित न हो जाय। आखिर कैकेयी का भी उसे खयाल करना चाहिए था—वह कैकेयी जिसने अनुताप की अग्नि परीक्षा में अपने आपको विशुद्ध कर लिया था। अपनी असहनीय क्षति का, निर्दोष होने पर भी सबसे अधिक कष्टभागिनी होने का सबको, अपने अश्रुओं और आहों के द्वारा स्मरण कराते रहने में उर्मिला का गौरव नहीं था। उसके हृदय की विशालता इसी में थी कि आग की ज्वाला को अपने में रख कर भी प्रकट रूप में वह मुसकराया करती। सो यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत अवसर के संतोष के योग्य उद्दीप्त कल्पना कवि ने उर्मिला को प्रदान नहीं की।

यदि साकेत की उर्मिला को अपेक्षित कल्पना मिली होती तो या तो उसके चरित्र को रामचरितमानस की उर्मिला की तरह प्रसुप्त ही पड़े रहने या उसकी आहों और आँसुओं की प्रगति को व्यक्तिगत विषाद की दिशा में न होकर किसी और ही दिशा में प्रवाहित होने की प्रेरणा मिलती। जिस अधूरी कल्पना की चर्चा ऊपर की गयी है, उसकी ओर अग्रसर होने के लिए उर्मिला प्रयत्न करती है, किन्तु हृदय की स्वाभाविक दुर्बलता उसे आगे न बढ़ने देकर अपनी ओर खींचती है। यदि कवि की प्रवृत्ति होती तो हम इस दुर्बलता के स्थान में भी शक्ति का दर्शन कर सकते थे, उसके लिए कल्पना के स्तर का उठा न पाना विशेष बाधक भी न होता। और इस शक्ति के दर्शन में हमें उर्मिला के अधरों पर वह प्रफुल्लता और मुसकान मिल जाती जो अयोध्या के राज-भवन के लिए औषधि का सा काम करती। उस अवस्था में उर्मिला स्वयं ही एक समस्या न हो जाती, बल्कि समस्या को हल करने वाली बन सकती। संक्षेप में कहने का आशय यह है कि कवि ने उर्मिला को जितनी कल्पना प्रदान की उतने में भी उस अवस्था में काम चल सकता था जब कि उसने उसकी अनुभूति को और भी गहरा बनाया होता।

ऊपर कहा गया है कि उर्मिला की मानसिक दुर्बलता उसे

कल्पना द्वारा इंगित किए स्थान की दिशा में प्रगतिशील न होने देकर पीछे की ओर खींच लेती है। आचार-शास्त्र की दृष्टि से उचित तो यही है कि जो मन में हो वही वचन और वाणी में भी अवतीर्ण हो, इसीसे उर्मिला के मन में संकल्पित अथवा वाणी में व्यक्त जो अंश प्रत्यक्ष कार्य्य के रूप में परिणत नहीं हो सका है, उसे मैंने उसकी कल्पना के प्रदेशान्तर्गत माना है। जिन कतिपय पंक्तियों में उर्मिला की इस कल्पना का आभास मिलता है वे पाठकों के सामने प्रस्तुत की जा चुकी हैं; अब वे नीचे लिखी थोड़ी सी उन पंक्तियों को भी देखें जिनमें उर्मिला की इस मानसिक दुर्बलता का आभास मिलता है:—

१—"मन को यों मत जीतो,
बैठी है यह यहाँ मानिनी, सुध लो इसकी भी तो!
इतना तपो न तपो तुम प्यारे,
जले आग सी जिसके मारे।
देखो, ग्रीष्म भीष्म तनु धारे,
जन को भी मत चीतो!
मन को यों मत जीतो!"

२—"हे ऋतुवर्य्य, क्षमा कर मुझको, देख दैन्य यह मेरा,
करता रह प्रति वर्ष यहाँ तू फिर-फिर अपना फेरा।
सी-सी करती हुई पार्श्व में पाकर जब तक मुझको,
अपना उपकारी कहते थे मेरे प्रियतम तुझको।"

३—"हे, मानस के मोती, ढलक चले तुम कहाँ बिना कुछ जाने!
प्रिय हैं दूर गहन में, पथ में है कौन जो तुम्हें पहचाने?"

४—"रोती हैं और दूनी निरख कर मुझे दीन सी तीन सासें,
होते हैं देवर श्री हत, बहनें छोड़ती हैं उसासें।
आली, तू ही बता दे, इस विजन बिना मैं कहाँ आज जाऊँ?
दीना, हीना, अधीना ठहर कर जहाँ शान्ति दूँ और पाऊँ?"

५—"मेरी ही पृथ्वी की पानी
ले लेकर यह अन्तरिक्ष सखि, आज बना है दानी।
"मेरी ही धरती का धूम;
बना आज आली, घन धूम।
गरज रहा गज-सा झुक भूम,
ढाल रहा मद मानी।"

उर्मिला की अनुभूति का चरम विकास तभी होता जब कि वह उसे अपनी कल्पना के साथ समतल करती। किन्तु मनुष्य एक दुर्बल प्राणी है। आदर्श के प्रति आकर्षित होते हुए भी उसे अपनी प्रकृति भूमि, अपने व्यक्तित्व के निवास की निश्चित भूमि का त्याग करने में कष्ट का अनुभव होता है। उर्मिला भी ऐसी ही है; उसकी कल्पना तो उसे त्याग की ओर पाँव बढ़ाने के लिए ललचाती है, किन्तु अपनी पूर्व स्थिति से उसे इतना मोह है कि आँसू बहाये बिना वह उसे छोड़कर आगे बढ़ नहीं सकती। यदि केवल सत्य का एकतन्त्र राज्य हो, और मनुष्य के अपने आचरण की अभिव्यक्ति को कल्पना द्वारा निर्दिष्ट आदर्श के अनुरूप न कर सकने की अवस्था में एकमात्र दण्ड राज्य से बहिष्कार अथवा प्राणदंड घोषित कर दिया जाय, तब तो बेचारी उर्मिला के लिए कोई चारा नहीं है। किन्तु, वास्तव में इतनी निराशापूर्ण परिस्थिति नहीं है; महाराज सत्यदेव के आदेश को मृदुल और व्यावहारिक बनाने के लिये वत्सलभावमयी महारानी कला देवी का पदार्पण होता है। कला देवी का कहना है कि दुर्बलता अनुचित नहीं; लेकिन एक शर्त यह है कि एक ही कदम सही, दो ही कदम सही, किन्तु प्रगति आगे की ओर, सत्य की ओर, कल्पना द्वारा निर्दिष्ट आदर्श की ओर होनी ही चाहिए। कलादेवी अधिक से अधिक उस व्यक्ति को भी अपनी शरण में ले सकती हैं, जिसकी प्रगति और अनुगति बराबर हो; किन्तु जिसकी प्रगति तो थोड़ी होती है और अनुगति अधिक, उसे किसी तरह की भी सान्त्वना नहीं दी जा सकती।

वास्तव में उसी की स्थिति शोचनीय है, उसे साधना से वंचित और अनाधिकारी देखकर मातृ हृदयमयी कला देवी भी त्याग देती हैं। अब हमें यह देखना चाहिए कि उर्मिला की दुर्बलता किस कोटि की है। जो अवतरण ऊपर दिये गये हैं उन पर विचार करने से हमें इस निर्णय में सहायता मिलेगी, अतएव क्रमशः हम उन पर एक दृष्टिपात कर लें।

प्रथम अवतरण में उर्मिला ने जो कुछ कहा है, वह नीरस सा जान पड़ता है। यदि यशोधरा गौतम बुद्ध के प्रति यही बात कहती तो इसमें उतनी विरसता न प्रतीत होती। फिर इस नीरसता का कारण क्या है? सच बात यह है कि रस-संचार में परिस्थितियों का भी बहुत बड़ा भाग होता है। गौतम बुद्ध स्वतंत्र रूप से वन-सेवी हुए थे, अतएव यशोधरा के ऐसे कथन में उसके हृदय की पीड़ा प्रगट हो सकती है। किन्तु जब उर्मिला ऐसा कहती है तब अच्छा नहीं लगता। उसके उन्माद के लिए हमारे हृदय में एक स्थान है, उसकी दुर्बलता की ओर से हम आँख मूँदने के लिए तैयार हैं, किन्तु लक्ष्मण की कठोर परिस्थिति पर भी, जिनके कारण स्वाभिमान की रक्षा करते हुए उनके लिए वन जाना अनिवार्य्य हो गया, उसे सहृदयतापूर्वक विचार करना चाहिये। लक्ष्मण का तप तो उतना ही था जितना उनकी नैतिक प्रतिष्ठा को अक्षत बनाये रखने के लिए आवश्यक था, उस थोड़ी सी पूँजी में से यदि वे कुछ अंश भिखारिणी उर्मिला को देने के लिए भी तैयार हो जाते तो परिणाम क्या होता? यही न कि लक्ष्मण रामचन्द्र को वन में छोड़कर उर्मिला की प्रसन्नता के लिए अयोध्या को चले आते और तत्कालीन आदर्श और लोकमत को ग्लानि पहुँचती। कला में वह दुर्बलता उपकरण के रूप में नियोजित नहीं की जा सकती जिससे हमारे प्रस्तुत आदर्श और लोकमत को आघात पहुँचने की आशंका है। द्वितीय अवतरण तो यह स्पष्ट से घोषित कर रहा है कि उर्मिला का दैन्य व्यक्तिगत स्वार्थ की हानि से सम्बन्ध रखता है।

तीसरे अवतरण में तो उर्मिला के आँसुओं की भी कुछ हुलिया मिल जाती है, यह पता लग जाता है कि उन आँसुओं का मूल्य भी केवल लक्ष्मण के पास है। चौथे अवतरण में यह भी हमें ज्ञात हो जाता है कि यद्यपि उर्मिला की दीनता को देखकर सासों का दुख दूना हो जाता है, वे और अधिक रोने लगती हैं; देवरश्री का सिर झुक जाता है, चुटीली बहनें आह भरने लगती हैं, तो भी उर्मिला अपने व्यक्तिगत दुःख से उत्पन्न आँसुओं को रोकने में असमर्थ है। क्या उर्मिला का उदात्त चरित्र ऐसा ही होना चाहिये? पाँचवें अवतरण से यह भी बोध हो जाता है कि उर्मिला ने अपने इन व्यक्तिगत विषाद की घोषणा करने वाले आँसुओं को कितने परिणाम में प्रवाहित किया है।

जिन आँसुओं का मूल्य लक्ष्मण आँक सकते हैं, उसका मूल्य रामचन्द्र क्यों नहीं आँक सकते? भरत और शत्रुघ्न को उनकी बहुमूल्यता की थाह क्यों नहीं मिलती? तीनों दीन सासें, अन्य व्यथित परिजन अयोध्या के पीड़ित नागरिकगण आदि उन आँसुओं का ठीक-ठीक मूल्य क्यों नहीं समझ पाते? इसका कारण स्पष्ट है—उर्मिला के आँसू लक्ष्मण की सम्पत्ति हैं, वे उन्हीं के चरणों में अर्पित हुए हैं; वे विश्व की सम्पत्ति नहीं हैं, विश्वात्मा के पद-पद्मों की भेंट नहीं चढ़े हैं।

मैंने ऊपर जो निवेदन किया है, उसको ध्यान में रख कर अब पाठक विचार करें कि उर्मिला के आँसुओं में स्वार्थ का समावेश है या निस्स्वार्थ भाव का, उसका विषाद स्वर्गलोक का है अथवा मर्त्यलोक का।

गुप्तजी ने उर्मिला के रोने की अतिशयता पर बहुत अधिक जोर दिया है। जिस रोने से प्रचलित आदर्श गत अथवा प्रचलित आदर्श से भी उच्च सत्यगत जागरूकता का सन्देश मिल सकता है, उसकी अतिशयता ही अपेक्षित है, क्योंकि उसके प्रवाह में वह आनन्द तरंगित होता है जिसमें नश्वरता की बाधा नहीं। किन्तु उर्मिला

के आँसुओं का बाहुल्य उसकी उक्त जागरूकता का परिचय नहीं देता, उससे उनकी मानसिक शक्ति का पता नहीं लगता; वह उसकी दुर्बलता ही की घोषणा करता है। मनुष्यता के नाम पर थोड़ी सी दुर्बलता भी सहन कर सकते हैं; किन्तु जिसका हृदय इतना कमजोर है कि उसे चारों ओर आँसू फैलाना आवश्यक हो जाता है, वह इस योग्य नहीं कि कवि उसका गान करे; काव्य तो वीरता और त्याग ही की प्रतिष्ठा कर सकता है।

उर्मिला का रोना कितना अधिक बढ़ गया है, इसके सम्बन्ध में स्वयं गुप्तजी महात्मा गाँधी के पास प्रेषित अपने पत्र में लिखते हैं:—

"वह तो आपके लिए बकरी का दूध भी लाना चाहती है, परन्तु डरती है कि उसमें कभी पानी मिला देख कर आप यह न कह दें कि छोड़ा मैंने बकरी का दूध भी। पानी; हाँ आंखों का पानी। बहुत रोकने पर भी एक आध बार वह टपक पड़ा तो बापू दूध से भी गये, फिर चाहे उनके हाथ-पैरों में भ्रान्ति का संचार ही क्यों न होने लगे।"

यदि कवि ने इस विषाद, रुदन की दिशा में परिवर्त्तन कर दिया होता, इसे उपस्थित आदर्श की सेवा में नियोजित कर दिया होता तो व्यक्तिगत स्वार्थ और संकीर्णता की बाधा से मुक्त होकर वह निस्सन्देह स्वर्गीय हो उठता और उस स्वर्गीय विषाद को हम असंदिग्ध रूप से उसी विषाद का समकक्ष स्वीकार कर सकते जिससे पीड़ित होकर मुक्त, अनासक्त लोक के देवता हमारे स्वार्थमय मर्त्य लोक के अवसाद शमनार्थ अवतीर्ण होने के लिए बाध्य होते हैं। अपने वर्त्तमान रूप में उर्मिला प्रस्तुत आदर्श की सीध में, उसके साथ-साथ पैर नहीं बढ़ाती; उसके लपटाते हुए चरण आगे की ओर घिसटते हुए चलते हैं। उसकी यह दशा देख हमें उनके ऊपर दया तो आती है; किन्तु श्रद्धा नहीं होती।

अच्छा, तो हमें यह समझने की भी कोशिश करनी चाहिए कि उर्मिला का वह कौन सा रूप हो सकता है जो हमारी श्रद्धा का पूर्ण रूप से अधिकारी हो सके। निर्विवाद रूप से हम उसी उर्मिला को प्यार कर सकते हैं जो रघुकुल में उपस्थित समस्या का समाधान कर सके और उसी समाधान में अपने जीवन के विषाद का समाधान ढूँढ़ ले। हम उसकी आँखों में आँसू देखना चाहते हैं किन्तु वे आँसू ऐसे हों जो उस पीड़ा को तरल भाषा प्रदान करने के लिए प्रवाहित होते हों; जिसका मूल पति-वियोग में नहीं, बल्कि इस संदेह में हो कि प्रसन्न-चित्त और उल्लासपूर्ण-वदन दिखाई पड़ने की लाख चेष्टा करने पर भी शायद उसके विषाद की झलक साधु भरत को, 'अनुताप-दग्ध कैकेयी तथा अन्य परिजनों को मिल ही जाती है और वे भूले हुए क्लेश के सिन्धु में डूब ही जाते हैं; हम उसकी आँखों में आँसू देखना चाहते हैं, पर वे आँसू ऐसे हों जो उस वेदना को व्यक्त करने के लिए प्रगट होते हों, जिसका जन्म पति की स्मृति से नहीं बल्कि पति-स्मृति के अनन्तर आत्म-विस्मृति के उस जागरण से होता है जो आत्म-विस्मृतिमयी दुर्बलतापूर्ण परिस्थिति को उसके व्यक्तित्व के विकास में, निर्विकार आनन्द की उपलब्धि में, पर-दुख-शमन के कार्य में व्यवधान-रूप प्रतीत करा कर लज्जा, संकोच और ग्लानि से आर्द्र होकर प्रगतिशील होता है। प्रियतम का विरह और प्रियतम का मिलन केवल शारीरिक ही नहीं होता; शारीरिक विरह होने पर भी मिलन हो सकता है और शारीरिक मिलन होने पर भी विरह की आग जलती ही रह सकती है। उर्मिला की लालसा को हम केवल पति के शारीरिक मिलन ही में केन्द्रीभूत नहीं देखना चाहते; हम उसे जीवन के सम्पूर्ण तत्व की ओर क्रमशः पैर बढ़ाती हुई देखना चाहते हैं और आशा करते हैं कि पति के शारीरिक विरह की ज्वाला में जलने का जो उत्तेजक अवसर उसे मिला है उसका उपयोग करके वह अपने

जीवन के समाधानकारी सत्य को प्राप्त कर लेगी । लेकिन उसने पति के शारीरिक मिलन का जितना मूल्य माना है उतना उनके आध्यात्मिक मिलन का नहीं, जिसमें ही उसे जीवन का परितोषप्रद, शान्तिकर रहस्य भी हृदयंगम हो जाता । उर्मिला प्रियतम से मिलने के पूर्व सखी से कहती है:—

"पर यौवन-उन्माद कहां से लाऊँगी मैं ?
वह खोया धन आज कहाँ सखि पाऊँगी मैं ?
× × ×
विरह रुदन में गया मिलन में भी मैं रोऊँ ।
मुझे और कुछ नहीं चाहिये, पद-रज धोऊँ ।
युवती हो या आलि, उर्मिला बाला तन से ।
नहीं जानती किन्तु स्वयं, क्या है वह मन से ।
देखूँ, कह, प्रत्यक्ष आज अपने सपने को ।
या सजबज कर आप दिखाऊँ मैं अपने को ।"

बड़ी ही हृदय-स्पर्शी पंक्तियाँ हैं । शारीरिक यौवनोन्माद के प्रति उर्मिला का यह हसरत-भरा दृष्टिपात बड़ा ही करुण है । प्रियतम से मिलने पर वह कहती है:—

"स्वामी, स्वामी, जन्म जन्म के स्वामी मेरे ।
किन्तु कहाँ वे अहोरात्र वे साँझ सवेरे ।
खोई अपना हाय ! कहाँ वह खिल खिल खेला ।
प्रिय, जीवन की कहाँ आज वह चढ़ती वेला ?"

और यह कहते हुए—

"काँप रही थी देह-लता उसकी रह रह कर ।
टपक रहे थे अश्रु कपोलों पर बह बह कर ।

अध्यापक नगेन्द्र ने इस अवसर की ओर लक्ष्य करते हुए लिखा है—

"प्रत्येक प्रेमी को यह विश्वास होता है— उसकी सब से बड़ी साध होती है कि उसका प्रिय उसके अपने व्यक्तित्व से प्रेम करता रहे, किसी आनुषंगिक कारणवश नहीं। उसकी वेश भूषा का बाह्य प्रसाधन इसका हेतु नहीं, यदि हों भी तो उसे सह्य नहीं। इसीलिए तो उर्मिला कहती है, 'क्या वस्त्रालंकार मात्र से वे मोड़ेंगे ?' इस कथन में एक और ध्वनि है-- उर्मिला को अपने यौवन की क्षति पर भी कुछ दुःख है। परन्तु यह दुःख अपने लिए नहीं लक्ष्मण के लिए है, क्योंकि यौवन उसकी अपनी वस्तु नहीं थी—वह तो प्रियतम की धरोहर थी × × अतः उसे शंका है कि कहीं लक्ष्मण को इस कारण निराशा न हो।"

यहाँ प्रश्न यह है कि क्या 'व्यक्तित्व' शारीरिक यौवन का पर्यायवाची शब्द है ? और क्या चौदह वर्ष की कठिन साधना के बाद लक्ष्मण उर्मिला से शरीरिक यौवन ही का ताकाजा करते हुए उसके सामने उपस्थित होंगे ? अस्तु।

बीती हुई जवानी के दिनों के लिए उर्मिला का यह तड़पना बहुत ही करुण है। उर्मिला को अगर हम औसत दर्जे की एक स्त्री मान लें तो उसकी इस वेदना में हम भी सम्मिलत हो सकते हैं, किन्तु जिस स्त्री को श्रीरामचन्द्र ने पृथ्वी पर धर्मस्थापना करने का बहुमूल्य प्रमाण पत्र दिया हो वह जब शारीरिक यौवनह्रास के लिए इतनी व्याकुल हो तब उसकी वेदना हम अपनी वेदना बना कर सहानुभूति नहीं कर सकते; तब तो बेचारी उर्मिला, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है; हमारी श्रद्धा की नहीं, केवल दया की पात्री रह जाती है। सबसे विचित्र बात तो यह है कि शायद उर्मिला अपने प्रियतम को भी नहीं समझती; उसे यह तो जानना चाहिये था कि अगर उनकी दृष्टि में उसकी जवानी की उमंगों ही का मूल्य अधिक होता तो वे स्वेच्छा से श्रीरामचन्द्र के साथ वन को क्यों जाते ? उसकी इस अस्तव्यस्तता को मिटाने के लिए लक्ष्मण ने उचित ही उत्तर दिया:—

"वह वर्षा की बाढ़ गयी उसको जाने दो।
शुचि गम्भीरता प्रिये, शरद की यह आने दो।
धरा-धाम को राम-राज्य की जय गाने दो।
लाता है जो समय प्रेमपूर्वक लाने दो।
तुम सुनो सदैव समीप है—
जो अपना आराध्य है।
आओ, हम साधें शक्ति भर
जो जीवन का साध्य है।
अलक्ष्य की बात अलक्ष्य माने,
समक्ष को ही हम क्यों न जाने?
रहे वहीं प्लावित प्रीति-धारा
आदर्श ही ईश्वर है हमारा।"

लक्ष्मण की इन बातों से भी प्रकट है कि उर्मिला के हृदय ने उस विकास को नहीं प्राप्त किया जिसमें उसकी सम्पूर्ण व्यक्तिगत वेदना ही नहीं, उसकी सम्पूर्ण कौटुम्बिक परिस्थिति का भी समाधान हो जाता। निस्सन्देह कुछ विकास तो उसने पाया ही; यौवनोन्माद के ह्रास से उसके हृदय में कुछ अन्तर तो उपस्थित हुआ ही! वह सखी से कहती है:—

"जब थी तब थी आलि उर्मिला उनकी रानी।
वह बरसों की बात आज हो गयी पुरानी।
अब तो केवल रहूँ सदा स्वामी की दासी।
मैं शासन की नहीं आज सेवा की प्यासी।"

ठीक है, जब तक यौवन था तब तक उसके हाथ में एक अस्त्र था; उस अस्त्र के द्वारा वह शासन कर सकती थी; उस अस्त्र के खो जाने पर वह अपने शासन के भाव को किस प्रकार स्थिर रख सकती है? उसे विवश होकर सेवा-भाव को तो अपनाना ही पड़ेगा। चौदह वर्षों के वियोग ने उर्मिला को बस इतना ही दिया।

उसकी साधना कितनी मन्द-गति से चल सकी, आदर्श—वह आदर्श जो उसके जीवन को, उसके कुटुम्ब के जीवन को, उसके युग के सामाजिक जीवन को, हमारे वर्त्तमान सामाजिक जीवन को, यही नहीं, प्रत्येक काल के मनुष्य-मात्र के सामाजिक जीवन को प्रफुल्ल बना सकता था उससे दूर, बहुत दूर रह गया। विकास के इतने छोटे से घेरे में घिरी रह कर, जीवन की इतनी थोड़ी ऊँचाई रखने वाले टीले पर खड़ी होकर उर्मिला महाकाव्य के मुक्त विस्तृत आकाश को प्रकाश प्रदान करनेवाली ऊषा का गौरव नहीं प्राप्त कर सकती; महाकाव्य की नायिका के पद पर आरूढ़ होने का सामर्थ्य उसे नहीं मिल सकता।

अपने पति ही में परिमिति रहने वाली, प्रगति करने में इतनी शिथिल उर्मिला पति की प्रीति प्राप्त करने में फिर भी बड़ी सौभाग्यशालिनी है। उसका पति नम्र ही नहीं है, उसके सम्बन्ध में एक बड़ी ऊँची धारणा भी रखता है।

चित्रकूट में लक्ष्मण उसके पैरों पर गिर पड़ते हैं:—

गिर पड़े दौड़ सौमित्र प्रिया पद-तल में।
वह भींग उठी प्रिय-चरण धरे दृग-जल में।"

मिलने पर भी वे उससे कहते हैं:—

"मेघनाद की शक्ति सहन कर के यह छाती।
अब भी क्या इन पाद-पल्लवों से न जुड़ाती।"

उर्मिला का यह सौभाग्य उसके प्रति कवि की आसक्ति ही का परिणाम हो सकता है।

—:०:—

श्रीरामचन्द्र और सीता

'साकेत' का समर्पण अपने पूज्य पिता को करते हुए गुप्तजी ने लिखा है:—

> "स्वयं तुम्हारा यह कथन भूला नहीं ललाम।
> 'वहाँ कल्पना भी सफल जहाँ हमारे राम'
> तुम दयालु थे दे गये कविता का वरदान।
> उसके फल का पिंड यह लो निज प्रभुगुणगान।"

इन पंक्तियों से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि गुप्तजी साकेत को श्रीराम-यश-गान का ग्रन्थ समझते हैं।

महात्मा गांधी के प्रति प्रेषित अपने पत्र में वे लिखते हैं:—

"वस्तुतः 'रामचरितमानस' से सीताराम 'साकेत' में नायकों के भी नायक और सब के शिक्षक अथवा शासक के रूप में प्रतिष्ठित हैं।"

इसका यह अर्थ है कि 'साकेत' में राम और सीता ही का चरित्र विराट् रूप में हमारे सामने उपस्थित हुआ है—वह रूप जिसमें जीवन की समस्त कल्पनाएँ और अनुभूतियाँ कहीं न कहीं अपना विश्रामस्थल प्राप्त करती हैं। चित्रकूट में दोनों ही के महिमामय जीवन का स्वरूप हमें देखने को मिलता है। श्रीरामचन्द्र की महत्ता तो अपूर्व है; ऐसा जान पड़ता है जैसे शासन करने ही के लिए, राज्य करने ही के लिए उन्होंने जन्म लिया हो। वनवासी लोग उनसे कहते हैं:—

> "लेकर पवित्र नेत्र-नीर रघुवीर धीर,
> बन में तुम्हारा अभिषेक करें, आओ तुम;
> व्योम के वितान तले चन्द्रमा का छत्र तान,
> सच्चा सिंह-आसन बिछा दें, बैठ जाओ तुम।
> अर्घ्यपाद्य और मधुपर्क यहाँ भूरि भूरि,
> अतिथि समादर नवीन नित्य पाओ तुम;
> जंगल में मंगल मनाओ, अपनाओ देव,
> शासन जनाओ, हमें नागर बनाओ तुम।"

वे मर्य्याद पुरुषोत्तम हैं; इसीलिए उन्होंने जीवन की स्वच्छन्दता में मर्य्यादा के स्थापित करने पर विशेष जोर दिया है।

"जितने प्रवाह हैं, बहें—अवश्य बहें वे ?
निज मर्याद में किन्तु सदैव रहें वे।
केवल उनके ही लिए नहीं यह धरणी,
है औरों की भी भार धारिणी भरणी।
जनपद के बन्धन मुक्ति-हेतु हैं सबके;
यदि नियम न हो, उच्छिन्न सभी हो कबके;
जब हम सोने को ठोक-पीट गढ़ते हैं।
तब मान, मूल्य, सौन्दर्य सभी बढ़ते हैं।
सोना मिट्टी में मिला खान में सोता,
तो क्या इससे कृत-कृत्य कभी वह होता।"

अपनी प्रभुता की वाणी में अपने सांसारिक जीवन की ओर लक्ष्य करते हुए वे कहते हैं:—

"सुख देने आया, दुःख झेलने आया।
मैं मनुष्यत्व का नाट्य खेलने आया।
मैं यहाँ एक अवलम्ब छोड़ने आया,
गढ़ने आया हूँ, नहीं तोड़ने आया।
मैं यहाँ जोड़ने नहीं बाँटने आया,
जगदु पवन के झंखाड़ छाँटने आया।
मैं राज्य भोगने नहीं, भुगाने आया,
हँसों को मुक्ता-मुक्ति चुगाने आया।
भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया;
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।

इस प्रकार, इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'साकेत' में सबसे ऊँचे आसन के अधिकारी श्रीरामचन्द्र ही हो जाते हैं। उनका पितृप्रेम

अपूर्व है, उनका मातृ-प्रेम, भ्रातृ-प्रेम, पत्नी-प्रेम उच्च कोटि का है। वे जैसी ही प्रेमी हैं, योधा हैं, वैसे ही अपने अनुगामी के पीड़ित किये जाने पर जैसा ही उन्हें क्रोध आता है, वैसी ही उनमें क्षमता भी है, वैसी ही सहृदयता भी है। रावण के सामने कुम्भकर्ण को प्राणहीन होकर कर गिरते देख सहानुभूति से आर्द्र होकर :—

× × × ×

छोड़ धनुः शर बोले प्रभु भी
कर युग कर रावण की ओर।
आ भाई वह बैर भूल कर
हम दोनों समदुःखी मित्र।
आजा क्षण भर भेंट परस्पर
कर लें अपने नेत्र पवित्र।"

शत्रुघ्न ने उचित ही कहा है कि श्रीरामचन्द्र युग के आदर्श-स्वरूप हैः—

"यह सब किसने किया उन्हीं प्रभु पुरुषोत्तम ने।
पाया है युग धर्म्म रूप में जिनको हमने।
होकर भी चिर सत्य मूर्ति हैं नित्य नये जो।
भव्य भोग रख दिव्य योग के लिए गये जो।"

कवि ने स्वयं भी राम के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कह दिया हैः—

"अपनों के ही नहीं परों के प्रति भी धार्म्मिक।
कृती प्रवृत्ति-निवृत्ति-मार्ग-मर्य्यादा मार्मिक।
राजा होकर गृही गृही होकर सन्यासी।
प्रकट हुए आदर्श रूप घट-घट के वासी।"

हम देखते हैं कि 'रामचरितमानस' के श्रीरामचन्द्र और 'साकेत' के श्रीरामचन्द्र में कोई विशेष अन्तर नहीं है। फिर भी इस कारण कि गुप्तजी को अपने ग्रन्थ में कुछ नवीनता का समावेश अभीष्ट

था, उन्होंने उसे 'साकेत' नाम देकर ऐसा करना चाहा है। वे स्वयं लिखते हैं।—

"यह भी यथार्थ जान पड़ता है कि तुलसीदास को राम और सीता ही के चरित्र को प्रधानता देनी थी। उनके लिए उचित भी यही था। ऐसी दशा में उर्मिला के थोड़े से वर्णन से कदाचित् उन्हें सन्तोष न होता और अधिक वर्णन से सम्भवतः मुख्य विषय में बाधा पड़ती। × × × इसी कारण मैंने अपनी रचना का नाम 'साकेत' रखा। उसमें मुझे सबके दर्शनों की सुविधा मिल गयी है। × × × उपर्युक्त सुविधा, मुख्यतया उर्मिला की अनुभूति और अपनी रचना में कुछ नवीनता की इच्छा पर ही 'साकेत' का अस्तित्व है।"

नवीनता की खोज से किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? सत्य की नित्य नवीन परिस्थितियों का स्वाद लेना ही तो जीवन का सार सर्वस्व है। उर्मिला, माण्डवी, अथवा श्रुतकीर्त्ति की अनुभूति से भी रस-संग्रह करने में सहृदय को क्यों झिझक हो सकती है? किन्तु एक बात का ध्यान तो कवि को भी रखना ही होगा, और वह यह कि उसने अपने ग्रन्थ में श्री रामचन्द्र को राजा का, शासक का पद दे दिया है—वह शासक जिसके हाथों जंगली लोग भी नागर बन जाने की कामना और आशा रखते हैं। यह स्मरण रहे कि जिस शासक ने लक्ष्मण ऐसे चंचल और क्रोधी भुजंग को भी सँपेरों की तरह वशीभूत कर लिया, जिसने जड़मति ऋक्षों और बानरों की भी सेना तैयार करके लड़ाई लड़ी और युग-सत्य के विरोधी रावण को भी परास्त कर दिया वह उर्मिला को भी केवल पति में केन्द्रीभूत नहीं रहने देगा। हमारे जीवन में जब कोई खाई खुद जाती है तब सत्य का एक नवीन रूप, एक नवीन आदर्श उसे पूरी करने के लिए, उसे भर देने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। कैकेयी दुर्बुद्धि ने रघु-परिवार के जीवन में एक घाव कर दिया; श्रीरामचन्द्र की आदर्श-

वादिता ने इस घाव की मलहम-पट्टी कर दी। जब 'साकेत' की कैकेयी अपना अनुताप प्रकट करने के लिए चित्रकूट तक जाती है और श्रीरामचन्द्र के कहती है:—

"यह सच है तो अब लौट चलो तुम घर को।
चौंके सब सुनकर अटल केकई-स्वर को।
सबने रानी की ओर अचानक देखा,
वैधव्य-तुषारावृता तथा विधु-लेखा।
बैठी थी अचल तथापि असंख्य तरंगा,
वह सिंही सी अब अहा !, गोमुखी गंगा—
"हाँ; जन कर भी मैंने न भरत को जाना;
सब सुन लें तुमने स्वयं अभी यह माना।
यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैय्या;
अपराधिन मैं हूँ तात तुम्हारी मैया।"

तभी इस मलहम-पट्टी का काम पूरा हो गया समझना चाहिए। लेकिन जिस आदर्श की बलिवेदी पर पिता ने अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दिया था उसके साथ युग-धर्म्म के प्रतिनिधि श्रीरामचन्द्र इतना सस्ता समझौता नहीं कर सकते; घाव पूरा होने पर भी कुछ दिन नाखूनों के सम्पर्क से बचाये रहना चाहिये। जंगल में सपत्नीक रहने की परिस्थितियों को रामचन्द्र जी न समझ रहे हों सो बात नहीं, उर्मिला के ऊपर कैसी बीत रही होगी, इसकी ओर उनका ध्यान न रहा होगा, यह नहीं कहा जा सकता; फिर भी प्रतिकूल पक्ष के इतना आत्म-समर्पण करने पर भी रामचन्द्र ने अपनी दृढ़ता का त्याग नहीं किया। संकटों का सामना करने ही में पुरुष के पुरुषार्थ की सार्थकता है, मुक्ति का आनन्द तो मुक्ति के समुद्र को पार करने पर आप ही आप मिल जायगा, उसके लिए मुक्ति को त्याग कर बैठना ठीक नहीं—यह श्रीरामचन्द्र का, जो साकेत के सम्पूर्ण वातावरण के प्रायः समस्त

पात्रों के शासक हैं, सन्देश है । श्रीरामचन्द्र के इस सन्देश में, युग-धर्म के इस आदेश से उर्मिला की आत्म-समर्पणमयी नीरव स्वीकृति होनी चाहिए; तुलसीदास ने उर्मिला को जो मौन रखा है, उसका यही रहस्य है; यदि वे उसे रामचरितमानस में वाणी प्रदान करते तो वह उक्त स्वीकृति ही का, हार्दिक प्रसन्न स्वीकृति ही का गान करती हुई पायी जाती। किन्तु 'रामचरितमानस' का कथानक-संगठन ऐसा था कि तुलसीदास उर्मिला की ओर विशेष ध्यान नहीं दे सकते थे। 'साकेत' नाम ग्रहण कर गुप्तजी ने अपने लिए उर्मिला के विषाद-विस्तार की सुविधा तो कर ली, किन्तु इस बात को भुला दिया कि युग-धर्म की मूर्त्ति वनवासी श्रीरामचन्द्र के शासन से अयोध्या के राजमहल में बैठ कर पति के वियोग में अश्रु पात करने वाली उर्मिला भी अछूती नहीं-बच सकती । जिस 'साकेत' महाकाव्य के शासक श्रीरामचन्द्र हैं, उसकी उर्मिला पतिवियोग में इतनी अधीरा हो ही नहीं सकती; उसकी आहों और उसके आँसुओं के मार्ग में परिवर्त्तन किये बिना कवि उसे उस महत्व के आसन पर प्रतिष्ठित नहीं कर सकता जिस पर उसने किया है। रही उस मूल्यवान् प्रमाण-पत्र की बात, जो श्रीरामचन्द्र जी ने अयोध्या लौटने पर उर्मिला को दिया, सो उसके सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि वे तो यही आशा ही करते थे कि उर्मिला ने लक्ष्मण ही की तरह प्रसन्नतापूर्वक चौदह वर्ष की वियोग की अवधि पार की है। किन्तु, पृथ्वी पर धर्म्म-स्थापना करने वाली नारी होने की प्रशंसा उनके मुख से श्रवण करके वह कितनी संकुचित हुई होगी। अस्तु।

उर्मिला के आँसुओं में थोड़े अधिक ऊँचे धरातल की वेदना को स्थान देकर हम उसे अपनाने को तैयार हैं; लेकिन राम और सीता से महाकाव्य का सम्पूर्ण सन्देश आदि ग्रहण करके भी कवि ने नायक, नायिका का जो पद लक्ष्मण और उर्मिला को दे डाला है; यह खिचड़ी मुझे पसन्द नहीं आयी।

स्वयं कवि ही के शब्दों में प्रकट है कि वे 'साकेत' में लक्ष्मण को नायक और रामचन्द्र को नायक का भी नायक अथवा शिक्षक मानते हैं। 'साकेत' के कथानक का सङ्गठन इस प्रकार किया जा सकता था कि लक्ष्मण के नायकत्व का अधिक विकास दृष्टिगोचर होता, और उर्मिला का नायिका-पद हमें अधिक आकर्षित कर लेता, किन्तु ऐसा तभी हो सकता था जब रामचन्द्र और सीता पृष्ठभूमि में डाल दिये गये होते, लक्ष्मण और उर्मिला के हृदय-विकास की कथा हमारे सामने विविध उत्थान-पतन-पूर्ण संघर्षों को लेकर उपस्थित होती और उसी के भीतर महाकाव्य के गेय सत्य के गान भी हमें उपलब्ध होता। कवि के प्रस्तुत प्रबन्ध में तो राम और सीता ने महाकाव्य के सत्य को भी अधिकृत कर लिया है और उनके गान को भी; बेचारी उर्मिला के हाथ में एक फूटी ढोल दे दी गयी है, जिससे बेसुरी आवाज निकलती है। खेद है, गुप्तजी की लेखनी का आश्रय पाकर भी उर्मिला उपेक्षित ही रह गयी; उसके प्रति ममता का भाव दिखा कर भी कवि ने कृपणता का परिचय दे दिया। सच बात यह है कि कथानक की रङ्गस्थली से रामचन्द्र और सीता का या तो प्रायः लोप कर दिया जाय, या उसमें पात्रों के बैठने की जगहों में ऐसा उलट फेर कर दिया जाय कि लक्ष्मण और उर्मिला ही पर सत्य और सौन्दर्य के अन्वेषण में रत दर्शकों की दृष्टि पड़े, तभी लक्ष्मण और उर्मिला के साथ न्याय किया जा सकता है। विस्तार भय से मैं यहाँ उदाहरण देने से विरत होता हूँ।

'साकेत' में सीता को जो स्थान मिला है वह उर्मिला के स्थान की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हो गया है, इतना महत्वपूर्ण कि उनके सामने उर्मिला बहुत दब गई है। उर्मिला को तो केवल पति-वियोग ही की पीड़ा थी, किन्तु सीता को दो दो व्यथाओं से निपीड़ित होना पड़ा; (१) पति-वियोग; (२) राक्षसों का बन्धन। सीता की परिस्थिति वास्तव में श्रीरामचन्द्र और (जैसा कि लक्ष्मण ने समझा) विशेष कर लक्ष्मण के लिए आत्म-सम्मान का प्रश्न हो गया। कवि ने हनुमान के मुँह से

बहुत जल्दी से सारी कथा कहला कर भी सीता को पृष्ठभूमि में डालने और उर्मिला को प्रकाश में लाने में सफलता नहीं प्राप्त की; स्वयं उर्मिला ही सीता की मुक्ति की समस्या में एक साधन के रूप में गृहीत हो गयी है। कवि ने इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया है कि महाकाव्य की नायिका होने का गौरव उसी सौभाग्यशालिनी नारी को प्राप्त होता है जिसके तप की धुरी पर सम्पूर्ण प्रबन्ध का शंकट चालित होता है और जिस नारी की रक्षा में व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय आत्म-सम्मान का भाव केन्द्रित हो जाता है उसकी ओर वियोगिनी का प्रेमी पति की दृष्टिपात करने का अवकाश नहीं पा सकता, जैसा कि शक्ति के आघात से स्वास्थ्य-लाभ करते ही लक्ष्मण की मनोवृत्ति में हम देख चुके हैं।

सन्तोष और प्रसन्नता का सन्देह भी हमें सीता ही से प्राप्त होता है। चित्रकूट में वे कितनी आनन्दिता हैं:—

"क्या सुन्दर लता-वितान तना है मेरा।
पुंजाकृत गुन्जित कुंज घना है मेरा।
जल निर्मल पवन पराग सना है मेरा।
गढ़ चित्रकूट दृढ़ दिव्य बना है मेरा।
प्रहरी निर्झर परिखा प्रवाह की काया।
मेरी कुटिया में राज भवन मन भाया।
सम्राट स्वयं प्राणेश सचिव देवर हैं।
देते आकर आशीश हमें मुनिवर हैं।
धन तुच्छ यहाँ,—यद्यपि असंख्य आकर हैं।
पानी पीते मृग-सिंह एक तट पर हैं।
सीता रानी को यहाँ लाभ ही लाया।
मेरी कुटिया में राज भवन मन भाया।"

सीताजी के निरूपम सौंदर्य का कवि ने मनोहर चित्र अंकित किया है, जिस पर शायद चित्रकूट के प्रवास की छाप भी लग गयी है:—

"अंचल-पट कटि में खोंस कछोटा मारे।
सीता माता थीं आज नई छवि धारे।
पहने थीं दिव्य दुकूल अहा वे ऐसे।
उत्पन्न हुआ हो देह संग ही जैसे।
कन्धे ढक कर कच छहर रहे थे उनके।
रक्षक तक्षक से लहर रहे थे उनके।
मुख धर्म-विन्दु-मय ओस भरा अंबुज सा।
पर कहाँ कंटकित नाल सुपुलकित भुज सा।
पाकर विशाल कच भार एड़ियाँ धँसतीं।
तब नख ज्योति-मिष मृदुल अँगुलियाँ हँसतीं।
पर पग उठने में भार उन्हीं पर पड़ता।
तब अरुण एड़ियों से सुहास्य था झड़ता।
क्षोणी पर जो निज छाप छोड़ते चलते,
पद पद्मों में मञ्जीर-मराल मचलते।
रुकने-झुकने में ललित लंक लच जाती।
पर अपनी छवि में छिपी आप बच जाती।
तनु गौर केतकी-कुसुम कली का गाभा।
थी अंग सुरभि के संग तरंगित आभा।"

चित्रकूट के प्रवास में श्रीरामचन्द्र और सीता की व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक अनुशासन के सम्बन्ध में विनोदपूर्ण वार्तालाप भी मनोरञ्जक है। सीता जी कहती हैं:—

"पुरुषों को तो बस राजनीति की बातें।
नृप में, माली में, काट-छाँट की घातें।
प्राणेश्वर, उपवन नहीं, किन्तु यह वन है।
बढ़ते हैं विटपी जिधर चाहता मन है।
बन्धन ही का तो नाम नहीं जनपद है।

देखो कैसा स्वच्छन्द महा लघु नद है।
इसको भी पुर में लोग बाँध लेते हैं।"

रामचन्द्र जी कहते हैं:—

"हाँ, वे इसका उपयोग बढ़ा देते हैं।"

सीताजी इसका भी तत्काल उत्तर देती हैं:

"पर इससे नद का नहीं, उन्हीं का हित है।
पर बन्धन भी क्या स्वार्थ हेतु समुचित है?"

सीताजी के जीवन का सम्पूर्ण आनन्द पति ही में केन्द्रित है; जब भरत ने सीता जी के सम्बन्ध में आग्रह किया:—

"जब तक पितुराज्ञा आप यहाँ पर पाले,
तब तक आर्य्या ही चलें स्वराज्य सँभालें।"

और श्रीरामचन्द्र ने उत्तर दिया:—

'भाई, अच्छा प्रस्ताव और क्या इससे?
हमको-तुमको संतोष सभी को जिससे।"

तब सीताजी ने तुरन्त ही कहा:—

"पर मुझको भी हो तब न?" मैथिली बोली—
कुछ हुईं कुटिल-सी सरल दृष्टियाँ भोली।
"कह चुके अभी मुनि—'सभी स्वार्थ ही देखें।'
अपने मत में वे यहाँ मुझी को लेखें।

पति-प्रेम की भयानक मात्रा ही ने सीता को विपत्ति के चंगुल में डाल दिया और रावण के अशोक बन में पहुँच कर वे हमारे हृदय की सम्पूर्ण सहानुभूति पर अधिकार कर लेती हैं, विशेषकर जब वे हनुमान् से कहती हैं:—

"करें न मेरे पीछे स्वामी
विषम कष्ट साहस के काम।
यही दुःखिनी सीता का सुख
सुखी रहें उसके प्रिय राम।

मेरे धन वे घनश्याम ही
जानेगा यह अरि भी अंध।
इसी जन्म के लिए नहीं है
राम जानकी का सम्बन्ध।"

सीता के इस दुःख और धीरता की तुलना में हम उर्मिला के आँसुओं का कितना मूल्य आँकें ?

राम और सीता के विराट् जीवन-समुद्र में लक्ष्मण और उर्मिला का तप, तेज और दुःख एक बूँद की तरह निमज्जित हो गया है। कवि की अस्त-व्यस्त कल्पना ने कथानक का वह स्वरूप संगठित न होने दिया, जिसमें लक्ष्मण और उर्मिला ही के जीवन को हम विराट रूप में देखते।

'साकेत' में कैकेयी

'साकेत' के अन्य पात्रों में कैकेयी आदि तीनों रानियाँ, भरत, शत्रुघ्न, भरत की स्त्री मांडवी और शत्रुघ्न की स्त्री श्रुतिकीर्त्ति, वशिष्ठ, जाबालि, जनक, सुमंत, हनूमान्, मेघनाद और रावण आदि हैं। इनमें से कैकेयी, भरत और हनूमान् ही विशेष महत्व के हैं। अतएव, इन पर एक संक्षिप्त दृष्टिपात कर लेना उचित होगा। (१) कैकेयी रामायण की कथा की सूत्रधारिणी है। रामचरितमानस में तुलसीदास जी ने उसकी दुर्बुद्धि का सम्बन्ध देवताओं द्वारा प्रेरित सरस्वती के बुद्धिदूषक प्रभाव के साथ संयुक्त करके उसकी मुक्ति का पथ परिष्कृत कर दिया है। इस सम्बन्ध से स्वयं कैकेयी को कोई अनुताप आवश्यक नहीं रह जाता। पाठक की सहानुभूति उसके साथ बनी रह जाती है। उसका साधारण विकास 'मानस' में भी देखने में आता है:—

(१) "प्रथम राम भेंटे कैकेयी ।
सरल सुभाव भक्ति मति भेयी ।
पग परि कीन्ह प्रबोध बहोरी ।
काल कर्म विधि शिर धरि खोरी ।"

—अयोध्याकाण्ड

(२) भेंटेउ तनय सुमित्रा, रामचरण रत जानि ।
रामहिं मिलत कैकेयी, हृदय बहुत सकुचानि ।

—उत्तरकाण्ड

(३) प्रभु जानी कैकयी लजानी ।
प्रथम तासु गृह गये भवानी ।

—उत्तरकाण्ड

'रामचरितमानस' के कथानक के साथ वह विकास सुसंगत है । किन्तु प्रश्न यह हो सकता है कि जब कैकेयी की दुर्बुद्धि का प्रधान कारण सरस्वती ही की प्रेरणा थी, तब देवताओं का कार्य्य पूर्णरूप से सम्पन्न हो जाने के अनन्तर कैकेयी के हृदय में सुबुद्धि का वैसा ही झोंका क्यों नहीं आया, जैसे दुर्बुद्धि का आया था । वास्तव में उचित यह था कि वह होश संभालती और गहरे अनुताप का अनुभव करती । इस दृष्टि से कैकेयी के चरित्र में प्रगति का उचित संचार न करने के कारण 'मानस' में एक त्रुटि रह गयी है । 'साकेत' में इस त्रुटि के निवारण का प्रयत्न किया गया है ।

अनुतप्ता कैकेयी कहती है :—

'थूके, मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके ।
जो कोई कुछ कह सके, कहे, क्यों चूके !
छीने न मातृपद किन्तु भरत का मुझसे,
हे राम, दुहाई करूँ और क्या तुझसे ?
कहते आते थे यह अभी नर-देही ।
'माता न कुमाता, पुत्र कुपुत्र भले ही ।'

अब कहें सभी यह हाय! विरुद्ध विधाता,—
'है पुत्र पुत्र ही रहे कुमाता माता
बस मैंने इसका वाह्य मात्र ही देखा,
दृढ़ हृदय न देखा, मृदुलगात्र ही देखा।
परमार्थ न देखा, पूर्ण स्वार्थ ही साधा,
इस कारण ही तो हाय आज यह बाधा।
युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
'रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी।'
निज जन्म-जन्म में सुने जीव यह मेरा—
'धिक्कार उसे था महा स्वार्थ ने घेरा।'

कैकेयी ने जो नीचता पूर्ण काण्ड रचा था यह केवल इस आशा और अभिलाषा से कि उससे भरत को लाभ होगा और उनके जीवन में ऐश्वर्य्य और आनन्द की वृद्धि होगी। किन्तु भरत का उतना निम्न आदर्श न होने के कारण उसे मुँह की खानी पड़ी; उसे भरत के भी रोष का भाजन होना पड़ा—

"हा! लाल? उसे भी आज कमाया मैंने।
विकराल कुयश ही महा कमाया मैंने।
निज स्वर्ग उसी पर वार दिया था मैंने।
हा! तुम तक से अधिकार लिया था मैंने।
पर वही आज यह दीन हुआ रोता है।
शंकित सब से धृत हरिण तुल्य होता है।
श्रीखण्ड आज अंगार-चण्ड है मेरा।
फिर इससे बढ़कर कौन दण्ड है मेरा?
पटके मैंने पद-पाणि मोह के नद में।
जन क्या क्या करते नहीं स्वप्न में, मद में?
हा! दण्ड कौन, क्या उडरूँगी अब भी?
मेरा विचार कुछ दया-पूर्ण हो तब भी।

हा दया ! हन्त वह घृणा ! अहह वह करुणा !
वैतरणी-सी हैं आज जाह्नवी-वरुणा !!"

अनुतप्ता कैकेयी पूर्ण रूप से प्रायश्चित्त करने को तैयार है। लक्ष्मण की मूर्च्छा का संवाद पाकर वह भी युद्ध के लिए तैयार हो गयी:—

"भरत जायगा प्रथम और यह मैं जाऊँगी,
ऐसा अवसर भला दूसरा कब पाऊँगी ?
मूर्त्तिमती आपत्ति यहाँ से मुँह मोड़ेगी,
शत्रु देश सा ठौर मिला, वह क्यों छोड़ेगी ?
+ + +
मैं निज पति के संङ्ग गयी थी असुर समर में;
जाऊँगी अब पुत्र-संग भी अरि-संगर में।"

कैकेयी का यह चरित्र विकास 'साकेत' की एक विशेषता मानी जायगी। यह विकास का श्रीगणेश हमें तभी से मिलने लगता है जब महाराज दशरथ का स्वर्गवास हुआ। तुलसीदास जी ने पति-वियोग की व्यथा का अवसर उपस्थित करके भी कैकेयी के चरित्र में प्रगति का संचार नहीं किया है:—

"शोक विकल सब रोवहिं रानी।
रूप शील बल तेज बखानी।
करहिं विलाप अनेक प्रकारा।
गिरहि भूमि-तल बारहिं बारा।
बिलपहिं बिकल दास अरु दासी।
घर घर रुदन करहिं पुर बासी।
अथयेउ आजु भानुकुल भानू।
धर्म अवधि गुण रूप निधानू।
गारी सकल कैकेयिहिं देहीं।
नयय-विहीन कीन्ह जग जेहीं।"

इस स्थल में साकेतकार ने कैकेयी को केवल गाली दिलाकर सन्तोष नहीं किया है; उन्होंने उसके चरित्र को अधिक स्वाभाविक बनाने का प्रयत्न किया है :—

"कैकेयी का मुँह भी न खुला।
पाषाण-शरीर हिला न डुला!
बस फट सी गयीं बड़ी आँखें।
मानों थीं नयी जड़ी आँखें।
रोना उसको उपहास हुआ।
जिस कृत वैधव्य-विकास हुआ।
तब वह अपने से आप डरी।
किस कुसमय में मन्थरा मरी!"

कैकेयी को पहला धक्का तो पति-वियोग का लगा। किन्तु दूसरा धक्का, पुत्र के तिरस्कार के रूप में आने वाला धक्का, उसके लिए असह्य हो गया। यही वेदना कैकेयी के अनुताप की जननी है।

कैकेयी के चरित्र-संस्कार के लिए हमें गुप्तजी का आभार मानना चाहिये; किन्तु कथानक के प्रवाह में, उसकी दिशा के निर्धारण में वह कोई प्रभाव नहीं डाल सका है। तुलसीदास जी की कैकेयी का मतिनाश तो स्वयं शारदा ने किया था, अतः उसमें परिवर्त्तन की कोई गुञ्जाइश नहीं थी। किन्तु 'साकेत' की कैकेयी को, पति के मरणोन्मुख होने पर भी, अपने निश्चय परिवर्त्तन में किस मनोवैज्ञानिक कठिनाई का सामना करना पड़ा, इस ओर कवि ने कोई संकेत नहीं किया है। वस्तुतः पुत्र द्वारा तिरस्कृत होने के पूर्व उसके विचारों में कोई संशोधन नहीं उपस्थित होता। फलतः अनुतप्ता कैकेयी श्रीरामचंद्र के वनवास को न समाप्त कर सकी और न संक्षिप्त कर सकी।

भरत

'रामचरित मानस' के भरत और 'साकेत' के भरत में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। इसमें सन्देह नहीं कि उनमें आध्यात्मिकता और उच्च कोटि के भ्रातृ-प्रेम के विकास को छोड़ कर कवि के सामने कथानक को अग्रसर करने का दूसरा कोई मार्ग नहीं था। भरत के चरित्र को किसी अन्य दिशा में ले चलने का प्रयास स्वयं प्रबन्ध के सौष्ठव के लिए घातक होता।

ननिहाल से आने पर जब भरत को सम्पूर्ण वृत्त ज्ञात होता है तब वे अपनी माता के सामने कहते हैं—

"आज मैं हूँ कोसलाधिप धन्य,
गा, विरुद गा, कौन मुझसा अन्य।
कौन हा! मुझसा पतित-अतिपाप।
हो गया वर ही जिसे अभिशाप!
तू अड़ी थी राज्य ही के अर्थ,
तो न था तेरा तनय असमर्थ।
और भूपर था न कोसल मात्र,
छत्र-भागी है कहीं भी क्षात्र।
क्षत्रियों के चाप-कोटि-समक्ष,
लोक में है कौन दुर्गम लक्ष?
था न किस छल का तुझे अधिकार?
सुत न था मैं एक, हम थे चार!
सूर्यकुल में यह कलंक कठोर!
निरख तो तू तनिक नभ की ओर।
देख तेरी उग्र यह अनरीति,
खस पड़ें नक्षत्र ये न सभीति।
भरत-जीवन का सभी उत्साह,

होगया ठंडा यहाँ तक आह !
ये गगन के चन्दमणि-मय हार,
जान पड़ते हैं ज्वलित अंगार !"

पिता के शव को सम्बोधित करके वे कहते हैं:—

"हा पिता, यों हो रहे हो सुप्त;
क्या हुई वह चेतना चिर लुप्त !
किस अभागे के लिए यह काण्ड,
आगया वह भर्त्सना का भाण्ड !
शान्ति दो, पाओ अहो आरोग्य,
मैं नहीं हूँ यों अभाषण-योग्य।
त्याज्य भी यह नीच है नरराज
हो न अंतिम वचन-वंचित आज !"

चित्रकूट में जब श्रीरामचन्द्र ने उनके अपना उद्देश्य बतलाने के लिए कहा, तब आत्म-ग्लानि की अग्नि में जलते हुए उन्होने कहा:—

"हे आर्य, रहा क्या भरत-अभीप्सित अब भी ?
मिल गया अकण्टक राज्य उसे जब, तब भी ?
पाया तुमने तरु-तले अरण्य—बसेरा,
रह गया अभीप्सित शेष तदपि क्या मेरा ?
तनु तड़प तड़प कर तप्त तात ने त्यागा,
क्या रहा अभीप्सित और तथापि अभागा ?
हा ! इसी अयश के हेतु हनन था मेरा,
निज जननी ही के हाथ हनन था मेरा।
अब कौन अभीप्सित और आर्य वह किसका।
ससार नष्ट है भ्रष्ट हुआ घर जिसका।
मुझसे मैंने ही आज स्वयं मुँह फेरा,
हे आर्य, बता दो तुम्हीं अभीप्सित मेरा।"

महारानी कौशल्या देवी ने भरत को जो प्रमाण-पत्र दिया है वह अत्यन्त मूल्यवान है, भरत को पाकर वे श्रीरामचन्द्र को भी भूल गयीं ! वे उनसे कहती हैं:—

"वत्स रे आजा, जुड़ा यह अंक,
भानुकुल के निष्कलंक मयंक !
मिल गया मेरा मुझे तू राम ।
तू वही है, भिन्न केवल नाम !
एक सुहृदय, और एक सुगात्र ।
एक सोने के बने दो पात्र ।
अग्रजानुज मात्र का है भेद ।
पुत्र मेरे, कर न मन में खेद ।
कैकयी ने कर भरत का मोह !
क्या किया ऐसा बड़ा विद्रोह ?
भर गई फिर आज मेरी गोद ।
आ मुझे दे राम का-सा मोद ।"

साकेत के कथानक-संगठन की विशेषता के कारण उसमें भरत के चरित्र की विशेषता निस्सन्देह प्रस्फुटित हो गयी है; भरत अपने आपको माता कौशल्या और उर्मिला के सम्मुख अपराधी समझते थे; उनकी इस भावना का विकास, 'रामचरितमानस' में केवल उनके अश्रुओं द्वारा ही हुआ है, किन्तु 'साकेत' में भरत युद्ध की अग्नि में अपने आपको हवन कर देने के लिए भी सन्नद्ध हो गये हैं। उनके इस संकल्प में कौशल्या के प्रति मातृ-प्रेम, लक्ष्मण के प्रति भ्रातृ-प्रेम, और उर्मिला के प्रति कर्त्तव्य-मिश्रित-प्रेम—सभी कुछ दिखायी पड़ता है । वे हनूमान के संजीवनी औषधि-समेत अयोध्या से जाने के अनन्तर कहते हैं:—

"माताओं से विदा माँग मेरी भी लेना ।
मैं लक्ष्मण-पथ पथी उर्मिला से कह देना ।

लौटूँगा तो साथ उन्हीं के और नहीं तो।
नहीं, नहीं, वे मुझे मिलेंगे भला कहीं तो।"

अयोध्या के राजकुल में अपने को अंगारवत् समझ कर भरत कितनी वेदना का अनुभव करते थे, इसका परिचय निम्न-लिखित पंक्तियों से मिलता है। उनकी पत्नी माण्डवी ने उर्मिला की व्याकुलता का वर्णन करते हुए जब कहा कि आज उन्होंने आहार भी नहीं किया, तब भरत ने कहा:—

'सनिःश्वास तब कहा भरत ने
तो फिर आज रहे उपवास।'

भरत की इस घोषणा के बाद माण्डवी ने फिर पूछा—

"पर प्रसाद प्रभु का ?" यह कह कर
हुई माण्डवी अधिक उदास।"

इस पर भरत ने उत्तर दिया—

"सब के साथ उसे लूँगा मैं
बीते बीत रही है रात।
हाय, एक मेरे ही पीछे
हुआ यहाँ इतना उत्पात।
एक न मैं होता तो भव की
क्या असंख्यता घट जाती।
छाती नहीं फटी यदि मेरी
तो धरती ही फट जाती।"

इस प्रकार भरत के आदर्श चरित्र को अंकित करने में साकेतकार को यथेष्ट सफलता मिली है।

हनूमान

'साकेत' में हनूमान का चित्र भी अंकित करने में कुछ स्वतंत्रता से काम लिया गया है। सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि हनूमान ही के मुख से सीता-हरण से लेकर लक्ष्मण मूर्च्छा तक की कथा कवि ने कहलायी है। हनूमान के इस नियोजन से कुछ आलोचकों को आपत्ति भी हुई है; क्योंकि स्वभावतः कथा का अधिकांश कवित्व नष्ट हो गया है; वे इतनी अधिक जल्दी में थे कि सम्पूर्ण वृत्त को अत्यन्त संक्षेप से कह देने के सिवा उसमें नमक मिर्च लगाकर उसकी सरसता-वृद्धि नहीं कर सकते थे। जो हो, कवि ने लक्ष्मण और उर्मिला को तो हमारे सामने विशेष प्रकाशपूर्ण बना कर लाने का प्रयत्न किया है, उसका यह प्रायः अनिवार्य्य परिणाम था। रही यह बात कि क्या हनूमान द्वारा समस्त वृत के कहे जाने का उचित अवसर हो सकता था, सो यह स्पष्ट है कि लम्बी से से लम्बी घटना अधिक से अधिक संक्षेप से कही जा सकती है। निसन्देह हनूमान के पास समयाभाव था, किन्तु यह भी निश्चित था कि यदि संजीवनी औषधि सवेरा होने के पहले पहुँच जाय तो लक्ष्मण के प्राण बच सकते हैं, और हनूमान् ने कथा का वर्णन तब शुरू किया है जब उन्हें ज्ञात हो गया कि अभी अर्द्धरात्रि ही का समय व्यतीत हुआ है:—

> "चौंक वीर उठ खड़ा हो गया,
> पूछा उसने कितनी रात?
> "अर्द्धप्राय,' कुशल है तब भी,
> अब भी है वह दूर प्रभात।"

सवेरा काफी दूर था; अभी इतना समय तो था ही कि हनूमान योगसिद्धि से कैलास तक उड़कर वहाँ से संजीवनी महौषधि लंका ले जाने की आशा रखते थे। ऐसी अवस्था में जब कार्य्य मार्ग

ही में सिद्ध हो गया तब उनका वहाँ थोड़ी देर के लिए रुक जाना कोई अनुचित बात नहीं थी। अपना परिचय देते हुए वे कहते हैं:—

"आंजनेय को अधिक कृती उन
कार्त्तिकेय से भी लेखो।
माताएँ ही माताएँ हैं जिसके
लिए जहाँ देखो।
पर विलम्ब से हानि सुनो मैं
हनूमान मारुति प्रभु दास।
संजीवनी हेतु जाता हूँ,
योगसिद्धि से उड़ कैलास।"

'साकेत' के हनूमान अपने को वानर कहते हुए कुछ संकुचित से होते हैं:—

"आगे ऋष्यमूक पर्वत पर
वानर ही कहिये; हम थे।
विषम आकृति में नर के सम थे।"

हनूमान का यह संकोच आधुनिक युग के बुद्धिवाद के योग्य ही हुआ है।

सीता जी के अनुसन्धान का कार्य करने में उन्होंने जो वीरता दिखलायी, उसके वर्णन में उनकी नम्रता का परिचय मिलता है:—

"दुस्तर क्या है उसे विश्व में
प्राप्त जिसे प्रभु का प्रणिधान।
पार किया मकरायल मैंने
उसे एक गोष्पद सा मान।"

हनूमान का चित्र अंकित होने में फिर भी कसर रह गई है। 'मानस' में वे जैसे विशद रूप में हमारे सामने उपस्थित होते हैं उसका अवसर कवि ने 'साकेत' में हमारे लिए उपलब्ध नहीं किया।

'साकेत' में प्रकृति वर्णन

महाकाव्य में जीवन की सम्पूर्ण परिस्थितियों के समावेश के साथ साथ प्रकृति का विविध छविमय चित्र भी अंकित किया जाता है, अतएव इस पर भी एक दृष्टिपात करना चाहिए।

प्रथम सर्ग में उषा का एक मनोहर चित्र हमें देखने को मिलता है:—

"सूर्य्य का यद्यपि नहीं आना हुआ।
किन्तु समझो रात का जाना हुआ।
क्योंकि उसके अंग पीले पड़ चले।
रम्य रत्नाभरण ढीले पड़ चले।
बहुत तारे थे अँधेरा कब मिटा।
सूर्य का आना सुना जब तब मिटा।
वेष भूषा साज ऊषा आ गयी।
मुख-कमल पर मुस्कराहट छा गयी।
पक्षियों की चहचहाहट हो उठी?
चेतना की अधिक आहट हो उठी;
हिमकणों ने है जिसे शीतल किया।
और सौरभ ने जिसे नव बल दिया।
प्रेम से पागल पवन चलने लगा;
सुमन-रज सर्वाङ्ग में मलने लगा।
प्यार से अंचल पसार हरा-भरा।
तारिकाएँ खींच लायी हैं धरा।"

इसके अनन्तर चार सर्गों तक हमें प्रकृति का कोई चित्र नहीं मिलता; अयोध्या की राजनैतिक परिस्थिति में जो शोचनीय काण्ड घटित हो गया उसके कारण प्रकृति की ओर दृष्टिपात करने का कवि को कहीं अवकाश नहीं था। किन्तु श्रीरामचन्द्र के चित्रकूट-प्रवास से

इसका अवसर मिल सका और चित्रकूट का एक संक्षिप्त चित्र हमारे सामने प्रस्तुत होता है:—

"जिसकी शृंगावली विचित्र बढ़ी-चढ़ी।
हरियाली की फूल फूल पत्ती कढ़ी।
गिरि हरि का हर वेष देख वृष वन मिला।
उन पहले ही वृषारूढ़ का मन खिला।
शिला कलस से छोड़ उत्स उद्रेक सा।
करता है नग नाग प्रकृति अभिषेक सा।
क्षिप्त सलिल कण किरण-योग पाकर सदा।
वार रहे हैं रुधिर रत्न-मणि-सम्पदा।
वन-मुद्रा में चित्रकूट का नग जड़ा।"
किसे न होगा यहाँ हर्ष विस्मय बड़ा।"

नवम सर्ग में उर्मिला के विषाद की अभिव्यक्ति के सिलसिले में प्रकृति के कुछ चित्र उपस्थित करने का कवि को अवसर मिल गया है। ये चित्र उर्मिला के जले हुए हृदय को और भी जलाने के लिए नहीं उपस्थित किये गये हैं। इस सम्बन्ध में स्वयं गुप्तजी का कहना है:—

"साधारणतः विरह-वर्णन में देखा जाता है कि विरही जन सारे उद्दीपन विभावों को उपालम्भ देकर कोसा करते हैं। द्विजराज चन्द्रमा तक को कसाई कह देना तो कोई बात ही नहीं, और भी न जाने क्या-क्या नहीं कहा जाता। किन्तु उर्मिला इस विचार के विरुद्ध मानो विद्रोह करती है। वह सब का स्वागत करती है। इस कारण प्रकृति की शोभा में उसको अपने प्रियतम की आभा दिखायी देती है। × × × × कभी वह चक्रवाक को सान्त्वना देती है, कभी कोयल को धैर्य धराती है, कभी लता को अवसर से लाभ उठाने के लिए प्रेरित करती है, कभी कली को शिक्षा का पाठ पढ़ाती है। मकड़ी और मक्खी भी उसकी सहानुभूति से वंचित नहीं। अपने रुदन

से वह एक पत्ता भी सूखा नहीं रहने देना चाहती, और उसे सरस बनाने के लिए अंचल पसार लेती है।"

प्रकृति का यह रचनात्मक चित्र है, जिसकी ओर गुप्तजी ने संकेत किया है। ऐसे वातावरण में रहने से पीड़ित हृदय को सान्त्वना प्राप्त होती है, और इसमें सन्देह नहीं कि उर्मिला अपनी सुव्यवस्थित विचार-धारा के द्वारा प्रकृति से प्राप्त उद्दीपक प्रभावों को भी उनके शीतल रूप में ग्रहण कर सकी।

मनुष्य के चरित्र-विकास पर प्रकृति का प्रायः बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है; इस प्रभाव की ओर विशेष संकेत हमें अँगरेजी के कवि वर्ड्सवर्थ में मिलता है। आधुनिक हिन्दी काव्य में पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'प्रियप्रवास' में जो राधा का चित्र अंकित किया है, उसमें राधा के व्यक्तित्व का विकास पति-वियोगपूर्ण प्रकृति-संयोग के वातावरण में प्रस्तुत किया गया है। 'साकेत' में प्रकृति के उद्दीपक स्वरूप की ओर दृष्टिपात नहीं किया गया, किया गया होता तो कोई आपत्ति योग्य बात नहीं थी; हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में इस तत्व की अतिशयता हो गयी थी, इसी से यह आवश्यक से अधिक अरुचिकर हो गया है। अस्तु।

निम्नलिखित पंक्तियों में प्रकृति का एक चंचल चित्र मिलता है:—

सखि निरख नदी की धारा
ढलमल ढलमल चंचल अंचल, झलमल झलमल तारा!
निर्मल जल अन्तस्तल भर के
उछल उछल कर, छल छल करके
थल थल तर के, कल कल घर के
बिखराता है पारा!
सखि निरख नदी की धारा।"

× × ×

"काली कोइल बोली—
होली—होली—होली !
हँस कर लाल होठों पर हरियाली हिल डोली,
फूटा यौवन फाड़ प्रकृति की पीली-पीली चोली।
होली—होली—होली।"

प्रकृति के बहुत से ऐसे ही सुन्दर चित्रों से 'साकेत' सुशोभित है। किन्तु महाकाव्य को प्राचीन अथवा आधुनिक दोनों में से एक को भी तृप्ति प्रदान करने वाली प्रकृति-वर्णन की प्रचुरता साकेत में नहीं पायी जाती। प्रभात का वर्णन, संध्या का वर्णन, चाँदनी रात का, अन्धकार का, छहों ऋतुओं का, समुद्र, पहाड़, झरना, नदी, आदि सब का वर्णन महाकाव्य के भीतर समाविष्ट होना चाहिए, और यह भी शब्दकोश के भीतर आने वाले शब्दों की तरह नहीं, बल्कि अँगूठी में जड़े हुए नगों की तरह। 'प्रियप्रवास' में भी कहीं-कहीं उक्त विषयों का समावेश कृत्रिम और कलाहीन हो गया है।

साकेत में अलङ्कार-योजना

जहां अनुभूति का प्रबल वेग होता है, वहां अलंकारों की खोज नहीं करनी पड़ती; उसके लावण्य-सागर को अभिराम बनाने के लिए उसकी चंचल तरंगें ही काफी हैं; उसे अन्य गहनों की आवश्यकता नहीं। किन्तु काव्य में ऐसे भी स्थल होते हैं, जहां अनुभूति शिथिल रहती है और प्रायः नीरस पदों की शिथिल प्रगति के रूप में प्रकट होती है। ऐसे स्थलों ही में प्राण-सञ्चार करने के लिए अलंकारों का उपयोग उचित है।

'साकेत' में ऐसे स्थल अनेक हैं, जहां अनुभूति का स्रोत उमड़

पड़ा है, कैकेयी का अनुताप, भरत की आत्मग्लानि, श्रीरामचन्द्र का बनवास से लौटने पर अयोध्या में प्रवेश आदि ऐसे ही स्थल हैं:—

(१) "क्या स्वाभिमान रखती न केकयी रानी ?
बतला दे कोई मुझे उच्चकुल मानी।
सहती कोई अपमान तुम्हारी अम्बा ?
पर हाय, आज वह हुई निपट नालम्बा ?
मैं सहज मानिनी रही वही क्षत्राणी।
इस कारण सीखी नहीं दैन्य यह वाणी।
पर महा दीन हो गया आज मन मेरा।
भावज्ञ सहेजो तुम्हीं भाव धन मेरा।"

× × ×

(२) "हे देव भार के लिए नहीं रोता हूँ।
इन चरणों पर ही मैं अधीर होता हूँ।
तो जैसी आज्ञा; आर्य सुखी हो बन में।
जूझेगा दुख से दास उदास भवन में।
बस मिलें पादुका मुझे, उन्हें ले जाऊँ।
बच उनके बल पर अवधि पार मैं पाऊँ।
हो जाय अवधिमय अवध अयोध्या अब से।
मुख खोल नाथ, कुछ बोल सकूँ मैं सबसे।
(३) "पैदल ही प्रभु चले भीड़ के संग पुरी में।
संघर्षित थे आज अंग में अंग पुरी में।
अहा समाई नहीं अयोध्या फूली-फूली।
तब तो उसमें भीड़ अमाई ऊली-ऊली।
पुर कन्याएँ खील फूल धन बरसाती थीं।
कुल ललनाएँ घरे भरे शुभ घट गाती थीं।
द्वार-द्वार पर झूल रही थीं शुभ मालाएँ।
झलती थीं ध्वज व्यजन शीला शालाएँ।

राजमार्ग में पड़े पाँवड़े फूल भरे थे।
छत्र लिये थे भरत, चौर शत्रुघ्न घरे थे।
माताओं के भाग आज सोते से जागे।
पहुँचे, पहुँचे राम राज-तोरण के आगे।
न कुछ कह सकीं न वे देख ही सकीं सुतों को।
रोकर लिपटीं उठा उठा उन प्रणति युतों को।
कांप रही थीं हर्ष-भार से तीनों थर थर।
लुटा रही थीं रत्न आज वे तीनों भर भर।
लिये आरती वे उतारती थीं तीनों पर।
क्या था जिसे न आज वारती थीं तीनों पर।"

× × ×

इन पंक्तियों में बड़ा प्रवाह है, इन्हें मनुष्य के हृदय में प्रवेश कराने के लिए अलंकारों की सहायता की आवश्यकता नहीं है। कवि के हृदय और पाठक के हृदय के सम्मिलन के लिए वास्तव में अलंकार दूत अथवा दूती का काम नहीं करता; वह तो एक बाधा ही खड़ी करती है। किसी कवि की नायिका अपने प्रेमी से कहती है:—

'मोहिँ तुम्हें यह अन्तर पारत,
हार उतारि उतै धरि राखौ।'

ठीक यही बात कविता और उसके रसिक सहृदय समाज के सम्बन्ध में कही जा सकती है। परन्तु फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अलंकारों का हमारे जीवन में, काव्य में एक विशेष स्थान है और उनका यह स्थान सदा ही बना रहेगा। यह स्थान वही है जहाँ अनुभूति थक कर, हार कर बैठ जाती है, और फिर भी रिझाने का काम उसे करना ही पड़ता है। गुप्त जी के समस्त ग्रंथों में साकेत अत्यन्त अलंकार-युक्त है, और साकेत के समस्त सर्गों की अपेक्षा नवम सर्ग सब से अधिक अलंकृत है। इसका

क्या अर्थ है ? क्या उर्मिला की वेदना का प्रवाह कुंठित हो गया है ? क्या वह उन्मुक्त स्रोत की तरह प्रगतिशील नहीं होता ? हाँ, यह सत्य है कि कवि ने उर्मिला को उसकी प्रकृत वेदना नहीं प्रदान की। उर्मिला पति-वियोग से दुःखित है। लेकिन लोक-मर्य्यादा के भावों से जकड़ी रहने के कारण वह अपनी प्राकृतिक व्यथा को प्राकृतिक ढंग के व्यक्त न कर के ऐसे ढंग से व्यक्त करना चाहती है जिसमें वह समाज में, कुटुम्ब में शिष्ट बनी रहे, उनके हृदय के वास्तविक उद्‌गारों को दिशा को कोई पहचान न सके। उसका विषाद किसके लिये है; उसके आँसुओं की नदी किस पहाड़ से निकल कर किस समुद्र की ओर प्रवाहित होती है, इसमें थोड़ी सी दुविधा है; अनिश्चय है, जैसा कि दिखलाया जा चुका है। इसी अनिश्चय के कारण उर्मिला का दुःख उस केन्द्र को नहीं प्राप्त कर पाता जिसमें की उसको प्रवाह प्रदान करने की शक्ति हो सकती है। इस केन्द्रिकता के अभाव की पूर्त्ति करने ही के लिए अलंकारिता का आगमन हुआ है।

अलंकारिकता की दृष्टि से वह सर्ग, जैसा कि कहा जा चुका है, सम्पूर्ण काव्य का भूषण-स्वरूप है। अन्य सर्गों में भी यह सामग्री यथेष्ट मात्रा में है, और आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक स्थल में जहाँ ऐसी अलंकृति की अधिकता है, हम कला की हार ही समझें। क्योंकि, कहीं कहीं तो अलंकृत ही कला की विजय-गीति के रूप में अवतरित होती है। उदाहरण के लिए निम्न स्थल को देखिए:—

"कनक लतिका भी कमल सी कोमल।
धन्य है उस कल्प-शिल्पी की कला ?
जान पड़ता नेत्र देख बड़े बड़े।
हीरकों में गोल नीलम हैं जड़े।
पद्मरागों से अधर मानों बने।
मोतियों से दाँत निर्मित हैं घने।

और इसका हृदय किससे है बना।
वह हृदय ही है कि जिससे है बना।
शाण पर सब अंग मानो चढ़ चुके।
प्राण फिर उनमें पड़े जब गढ़ चुके
झलकता आता अभी तारुण्य है।
आ गुराई से मिला आरुण्य है।
लोल कुण्डल मण्डलाकृति गोल हैं।
घन पटल से केश कान्त कोपल हैं।
देखती है जब जिधर यह सुन्दरी।
दमकती है दामिनी सी द्युत भरी।
हैं करों में भूरि भूरि भलाइयाँ।
लचक जातीं अन्यथा न कलाइयाँ।

× × ×

उर्मिला ने कीर-सम्मुख दृष्टि की।
या वहाँ दो खंजनों की सृष्टि की।
मौन होकर 'कीर तब विस्मित हुआ।
रह गया वह देखता-सा स्थित हुआ।
प्रेम से उस प्रेयसी ने तब कहा—
'रे सुभाषी, बोल चुप क्यों हो रहा?'

× × ×

नाक का मोती अधर की कान्ति से।
बीज दाड़िम का समझ कर भ्रान्ति से।
देख कर सहसा हुआ शुक मौन है।
सोचता है, अन्य शुक यह कौन है।"

'साकेत' में आये हुए थोड़े से अलंकारों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

छेकानुप्रास

"किन्तु मेरी कामना छोटी बड़ी
है तुम्हारे पाद-पद्मों में पड़ी।"

वृत्यानुप्रास

"देख भाव प्रवणता वर वर्णता ।
वाक्य सुनने को हुई उत्कर्णता ।
× × ×
अवश अबला तुम ? सकल बलवीरता ।
विश्व की गम्भीरता ध्रुव धीरता ।"

यमक

"अंगराग पुरांगनाओं के धुले ।
रंग देकर नीर में जो हैं धुले ।"

उपमा

"निरख सखी ये खंजन आये ।
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये ।
फैला कर उनके तन का आतप मन से सरसाये ।
घूमें वे इस ओर वहाँ, ये हंस यहाँ उड़ छाये ।
करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाये ।
फूल उठे हैं कमल अधर से ये बन्धूक सुहाये ।
स्वागत, स्वागत, शरद भाग्य से मैंने दर्शन पाये ।
नभ ने मोती वारे लो ये अश्रु, अर्घ्य भर लाये ।"

उत्प्रेक्षा

मेरी दुर्बलता क्या दिखा रही तू
अरी मुझे दर्पण में ।
देख, 'निरख मुख 'मेरा वह तो
धुँधला हुआ स्वयं ही क्षण में ।

अतिशयोक्ति

"पूछी थी सुकाल दशा मैंने आज देवर से—
कैसी हुई उपज कपास, ईख, धान की ?
बोले इस बार देवि देखने में भूमि पर
दुगुनी दया सी हुई इन्द्र भगवान की।
पूछा यही मैंने एक ग्राम में तो कर्षकों ने,
अन्य गुड़ गोरस की वृद्धि ही बखान की।
किन्तु स्वाद कैसा है न जाने इस वर्ष हाय,
यह कह रोयी एक अबला किसान की।"

सन्देह

"क्या यही साकेत है जगदीश !
थी जिसे अलका झुकाती शीश।

× × ×

आज क्या साकेत के सब लोग,
सांग कर अपने अखिल उद्योग,
शान्त हो बैठे सहज ही श्रान्त !
दीखते हैं किन्तु क्यों उद्भ्रान्त ?"

'साकेत' का महाकाव्यत्व और उसका संदेश

लक्ष्मण और उर्मिला को नायक और नायिका के रूप में ग्रहण करने पर महाकाव्य के रूप में 'साकेत' की परिधि संकीर्ण हो जाती है। उनके स्थान में यदि रामचन्द्र जी और सीता को नायक और नायिका के पद पर आरूढ़ करें तो लक्ष्मण और उर्मिला को उतना विस्तीर्ण स्थान नहीं दिया जा सकता, जितना 'साकेत' में दिया गया है। इसके

अतिरिक्त कवि ने स्वयं ही रामचन्द्र और सीता को नायकों के नायक अथवा शिक्षक के रूप में गृहीत किया है। वास्तव में यह प्रबन्ध ठीक नहीं; महाकाव्य में नायक और नायिका को विकास के लिए उन्मुक्त क्षेत्र मिलना चाहिए। यह भी उल्लेख योग्य है कि लक्ष्मण और उर्मिला को महाकाव्य के साधारण महत्व के सन्देश ही प्राप्त हुए हैं; प्रधान शत्रु रावण का बध श्रीरामचन्द्र ही के हाथों कराया गया; और महाकाव्य की प्रधान घटना का सम्बन्ध श्रीरामचन्द्र और सीता ही से स्थापित किया गया है, सीता के विषाद के सामने उर्मिला का विषाद अत्यन्त निस्सार-सा समझ पड़ने लगता है। 'साकेत' के कथानक-संगठन में ऐसी त्रुटि हो गयी है कि उसमें हमें उस चट्टान का ठीक-ठीक पता ही नहीं चलता जिसके विरुद्ध टकराने पर ही उस महासमुद्र की लहरें सौंदर्य्य की सृष्टि करने में समर्थ होंगीं; लक्ष्य के असंदिग्ध निर्धारण के अभाव में उसमें तीव्रता का अभाव हो गया है।

महाकाव्य को सम्पूर्ण जीवन के गान के रूप में अवतरित होना चाहिए। उसे विराट् सत्य का, सर्वकालीन और सार्वभौम सत्य का गान करना चाहिए; लक्ष्मण की वाणी में नहीं; श्रीरामचन्द्र की वाणी में हमें इस गान की उपलब्धि हुई है। पाप से घृणा करो, पापी से नहीं; यही वह तत्त्व है जिससे यह संसार ही स्वर्ग बन सकता है; यही विज्ञान है, जो हमें 'साकेत' से प्राप्त होता है, मनुष्य मात्र के प्रत्येक युग के जीवन के लिए इस विज्ञान में अमृत-संचार करने की शक्ति है, समाज में व्यक्ति के अधिकारों में स्वच्छन्दता का विस्तार उसी सीमा तक होना चाहिए जिस सीमा तक उससे समाज की सामूहिक प्रगति में बाधा न पड़े, यह साकेत के सर्वोच्च चरित श्रीरामचन्द्र की उक्ति है, जिसकी ओर कवि का व्यक्तित्व भी सहज ही प्रवाहित हुआ है। श्रीरामचन्द्र ने कहा है:—

"हमको लेकर ही अखिल सृष्टि की क्रीड़ा।
आनन्दमयी नित नई प्रसव की पीड़ा।

निज हेतु बरसता नहीं व्योम से पानी।
हम हों समष्टि के लिए व्यष्टि बलिदानी।"

गुप्तजी ने अपने प्रायः समस्त ग्रन्थों में व्यक्ति-साधना ही का संदेश प्रदान किया है; 'साकेत' में भी यही सन्देश हमारे सामने प्रस्तुत किया गया है। इस सन्देश में सार्वभौम और सर्वकालीन होने की क्षमता विद्यमान है; साथ ही हमारे भारतीय समाज की वर्त्तमानकालीन परिस्थिति में इसके स्थानीय उपयोग की विशेष सार्थकता है, क्योंकि राष्ट्रीय हित के लिए भारतीय व्यक्ति को वर्तमान काल में जितना त्याग करने की आवश्यकता है उतनी शायद ही कभी रही होगी।

महाकाव्य में जिस चरम सत्य की अभिव्यक्ति की जाती है उसमें ऐसी शक्ति होनी चाहिए जिससे हमारे जीवन के प्रत्येक काल की समस्याओं और उलझनों को युग-सत्य का समाधान प्राप्त हो सके। 'साकेत' में भी हमें इस सामर्थ्य का दर्शन मिलना चाहिए; भिन्न-भिन्न युगों की उन्मुक्ति के लिए उनके सत्य का आलोक प्रस्तुत करने की जितनी ही प्रतिभा 'साकेत' में होगी उतनी ही अमरता और कृतकृत्यता उसे मानव हृदय से प्राप्त हो सकेगी। भविष्य का हाल भविष्य जाने, हमें तो यह देखना है कि उसने हमारे प्रस्तुत युग के लिए उद्धारक सत्य का कितनी मात्रा में आविष्कार किया है।

'साकेत' के कवि ने व्यक्ति-साधना का व्यापक गान तो किया, किन्तु जब उसकी व्यापकता को उसने हमारे लिए उपयोगी बनाने का विचार किया, उसकी ग्राह्य-रेखा को निश्चित करना शुरू किया तब कुछ कृपणता से काम ले लिया। हमारे-युग-सत्य का बिम्ब 'साकेत' में यदि कहीं मिल सकता है तो वह लक्ष्मण, उर्मिला, रामचन्द्र, सीता और शत्रुघ्न ही में मिल सकता है। लक्ष्मण की व्यक्तिगत वीरता और साधना हमारे काम की चीज है, किन्तु जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, उनका क्रोध एक ऐसा ज्वालामुखी पहाड़ है, जिनके किसी भी समय धधक

उठने की आशंका बनी रहती है। उर्मिला ने जितना त्याग किया है, उससे कहीं अधिक त्याग की आवश्यकता हमारे वर्त्तमान समाज की कुल-वधुओं के सामने उपस्थित है। रामचन्द्रजी स्थितप्रज्ञ हैं, सहृदय हैं, उपकारी हैं, यह सब तो ठीक, किंतु उसके व्यक्तित्व में हिंदू राष्ट्रीयता का, हिंदू संस्कृति का जितना प्रवाह है उतना भारतीय राष्ट्रीयता का नहीं; हिन्दू और मुसल्मान संस्कृति से परे एक नव समन्वयमयी संस्कृति जो हमारे वर्त्तमान जीवन को शासित की ओर पैर बढ़ा रही है; उसका उसमें समावेश नहीं है। रही सीता, सो वे तो समस्या-रूपिणी हैं, निस्सन्देह वे हमारी आधुनिक उलझन और पराधीनता का प्रतिनिधित्व करती हैं। सीताजी के सम्बन्ध की निम्नलिखित पंक्तियाँ—

"उस वैभव की विरक्ति सी'
वैदेही व्याकुल मन में।
भिन्न देश की खिन्न लता सी।
पहँचानी अशोक वन में।
क्षण क्षण में भय खाती थीं वे
कण कण आँसू पीती थीं।
आशा की मारी देवी उस
दस्युदेश में जीती थी।"

हमारी स्वाधीनता देवी के बन्दी-जीवन की हमें याद दिलाती हैं। इस विवशता का अन्त करने के लिए शत्रुघ्न का आह्वान हमारे लिए आशाप्रद है:—

"भूल जयाजय और भूल कर जीना मरना।
हमको निज कर्त्तव्य मात्र है पालन करना।
जिस पामर ने पतिव्रता को हाथ लगाया।
उसको—जिसने अतुल विभव उसका ठुकराया।
प्रभु हैं स्वयं समर्थ, पाप कर काटें उसके।
रामबाण हैं सजग, प्राण जो चाटें घुसके।

करता है प्रतिशोध किन्तु आह्वान हमारा।
जगा रहा है जाग इमें अभिमान हमारा।
खींच रहा है आज ज्ञान ही ध्यान हमारा।
लिखे शत्रु-लंका-सुवर्ण आख्यान हमारा।"

शत्रुघ्न की ओजस्विनी वाणी में व्यक्त निम्नलिखित उद्बोधन राष्ट्रीय जागरण के भावों से ओत-प्रोत है:—

"हाय मरण से नहीं किन्तु जीवन से भीता।
राक्षसियों से घिरी हमारी देवी सीता।
बन्दी-गृह में बाट जोहती खड़ी हुई है।
व्याध जाल में राजहंसिनी पड़ी हुई है।
अबला का अपमान सभी बलवानों का है।
सती धर्म्म का मान मुकुट सब मानों का है।
मारो, मारो जहाँ वैरियों को तुम पाओ।
मर मर कर भी उन्हें प्रेत होकर लग जाओ।"

इस संक्षिप्त निवेदन से, आशा है, पाठकों को यह स्पष्ट हो गया होगा कि 'साकेत' हमारे आधुनिक युग के आदर्श के अनुसन्धान में उतनी ही दूर जा सका है जहाँ तक हिन्दू राष्ट्रीयता के घेरे ने उसे जाने दिया है। साकेत में प्रकृत-वर्णन भी प्रचुर नहीं है; प्रकृति के लिए उन्माद का अनुभव कराने वाली पंक्तियों के हमें दर्शन नहीं मिलते। ईश्वर भावना का एक हलका विकास रामचन्द्रजी के चित्रण में मिलता है, किन्तु ईश्वर में तल्लीन हो जाने का नशा 'साकेत' के किसी पात्र में दिखाई नहीं पड़ता। हनूमान, लक्ष्मण, उर्मिला, भरत आदि पात्रों के द्वारा ईश्वर-भक्ति का एक आकर्षक रूप खड़ा किया जा सकता था; किन्तु कवि ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। गुप्तजी के अधिकांश काव्यों का विषय मनुष्य और समाज ही रहा है, और 'साकेत' में भी वह ज्यों का त्यों बना रह गया। इस

क्षेत्र में भी कवि ने 'साकेत' द्वारा वह विस्तृत उपयोगितापूर्ण सन्देश नहीं दिया जो हमारे वर्त्तमान युग की भूख को बुझा सके।

यशोधरा

उर्मिला ही की तरह यशोधरा भी पति-वियोगिनी है; किन्तु यशोधरा के विषाद में अधिक उच्चता है। उर्मिला के वियोग की तो अवधि निश्चित थी, लेकिन यशोधरा का वियोग निरवधि था। गौतम मुक्ति खोज में गये थे, उसके मिलने पर ही वे अपने जन्म-स्थान में फिर से आ सकते थे, यदि यशोधरा के वियोग की कोई अवधि हो सकती है तो यही। किन्तु, मुक्ति के रूप विरह की अवधि के समाप्त होने पर भी यशोधरा अपने पति का कौन सा उपयोग प्राप्त कर सकती! एक प्रकार से यह चिर वियोग था, यशोधरा ने अपने पति को एक बार खोकर सदा के लिए खो दिया।

यशोधरा को इस बात का रञ्ज नहीं है कि उसके पतिदेव मुक्ति के लिये तप करने को चले गये; वास्तव में उसे वेदना इस बात की है कि वे चोरी-चोरी गये। पति के इस प्रकार जाने से यशोधरा अपमान का अनुभव करती है, वह यह सोच कर दुखी होती है कि उसके प्राणेश्वर ने उसे बहुत ही अयोग्य स्त्री माना, तभी तो उन्होंने अपने जीवन-कार्य्य की सिद्धि में उसे बाधा-स्वरूप समझा और अपने निश्चय की सूचना नहीं दी। वह कहती है:—

"सिद्धि-हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात,
पर चोरी-चोरी गये, यही बड़ा व्याघात।
सखि वे मुझसे कह कर जाते,
'कह तो क्या मुझसे वे अपनी पथ-बाधा ही पाते

× × ×

स्वयं सुसज्जित कर के क्षण में,
प्रियतम को, प्राणों के पण में,
हमीं भेज देती हैं रण में—
क्षात्र धर्म्म के नाते।
सखि वे मुझसे कह कर जाते।

यशोधरा का हृदय उच्च है; वह त्याग करने से संकोच नहीं करती; यही नहीं, वह उस खोये हुए अवसर के लिए दुखी है, जो उसे मिल सकता था, किन्तु जिसे पतिदेव ने नहीं मिलने दिया, इस अवसर पर वह दिखला देती कि जीवन के उच्च उद्देश्यों के लिए लम्बा विरह प्रदान करके गमन करने वाले पति को आर्य्य बालाएँ किस उत्साह से विदा करती हैं।

यशोधरा में उत्तरदायित्व का भाव यथेष्ट मात्रा में है। वह अपने ऊँचे आसन से इंच भर भी नहीं खिसकती। शुद्धोदन का पितृ-हृदय पुत्र की खोज करने के लिए व्याकुल है; लेकिन यशोधरा इस कार्य से तनिक भी सहमत नहीं, वह कहती है, क्या वे बच्चे हैं, जिन्हें भागा हुआ देख कर हम ढूँढ़ने के लिये निकलें और पकड़ कर घर लाएँ। उसने अपने धैर्य द्वारा अपनी योग्यता को प्रमाणित कर दिया है—वह योग्यता जो गौतम ऐसे त्यागी पुरुष की पत्नी में होनी चाहिये। कल्पना के जिस उत्थान से इस राजवधू की वेदना का समाधान हो सकता था, उसकी स्थिति के विरुद्ध अपने मानस में वह अनुभूति की लहरें उठने देती है, कभी रो लेती है, कभी आहें भर लेती है; लेकिन उसके उस करुणा व्यापार से हमारे हृदय में विरक्ति नहीं उत्पन्न होती, सहानुभूति ही जाग्रत होती है। उर्मिला की और उसकी स्थिति, जहाँ तक पति-वियोग का सम्बन्ध है, वहाँ तक तो एक सी ही है; किन्तु दोनों के वियोग की परिस्थितियों में बहुत बड़ा अन्तर है। उर्मिला का सौभाग्य था कि आरम्भ ही से वह पति की अतिशय प्रीति से कृतार्थ थी, और चौदह वर्षों की अवधि के समाप्त होने पर वह फिर अपने

प्रिय को पा गयी। लेकिन साथ ही उर्मिला का दुर्भाग्य यह है—यदि इसे दुर्भाग्य ही कहें—कि उसका उत्तरदायित्व यशोधरा के उत्तरदायित्व की अपेक्षा कहीं अधिक महान् है। यशोधरा राजवधू थी, राजधर्म्म उसके कुल का धर्म्म था; राज्य को छोड़कर मुक्ति के लिए 'मारे-मारे फिरने में जो आदर्श निहित था, वह निस्सन्देह राजकीय भोग-विलास के वातावरण में पलने वाले राजधर्म्म से कहीं ऊँचा था! अपने वियोग के समाधान के लिए यशोधरा बहुत ऊँचे उठती है, वह अपनी दृढ़ता और गम्भीरता को यथाशक्ति हाथ से नहीं छूटने देती, किन्तु यदि उसने उर्मिला की तरह आँसू बहाकर कपिलवस्तु की पैदावार में खारेपन का संचार कर दिया होता तो उसके रुदन की अतिशयोक्ति में हमें कोई आपत्ति न हो सकती, समाज को कोई शिकायत न हो सकती। वास्तव में सच बात तो यह है कि उर्मिला के आँसुओं पर यशोधरा को अधिकार होना चाहिये था, यशोधरा की उच्च कल्पना और उच्च अनुभूति उर्मिला को मिलनी चाहिए थी। मैं यह नहीं कहता हूँ, कि यशोधरा के चित्रण में परिवर्तन की आवश्यकता है; नहीं वह जिस रूप में हमारे सामने प्रस्तुत की गयी है, वह संतोषजनक है वक्तव्य केवल यह है कि यदि यशोधरा उर्मिला के आँसुओं को उतनी ही मात्रा में ग्रहण कर ले तो सामाजिक आदर्श की ओर से उसे कोई रुकावट नहीं मिलेगी—वह रुकावट, जिसने उर्मिला के अतिशय रोने पर हलके हाथों अनौचित्य की मुहर लगा दी है। सामाजिक आदर्श, कौटुम्बिक शिष्टाचार आदि हमारे सामने एक माप उपस्थित कर देते हैं, जिसकी संगति में हमारे आचरण को प्रगति करनी चाहिए। इस माप के समकक्ष करने में प्रतिष्ठा है, किन्तु ऊँचा उठने में और भी सम्मान है। उर्मिला इस माप के समकक्ष नहीं आ सकी, किन्तु, यशोधरा इस माप से ऊँचे उठ गयी। यशोधरा कहती है:—

"मिला न हो इतना भी योग,
मैं हँस लेती तुझे वियोग!

देती उन्हें विदा मैं गाकर,
भार झेलती गौरव पाकर,
यह निःश्वास न उठता हा कर।
बनता मेरा राग न रोग;
मिला न हा इतना भी योग।"

यशोधरा की यही विशेषता हम उर्मिला में देखना चाहते थे। अस्तु।

गौतम अपने बच्चे को बड़ी ही छोटी अवस्था में छोड़कर चले गये। प्रियतम को सम्बोधित करके यशोधरा राहुल के सम्बन्ध में कहती है:—

"यह छोटा सा छौना
कितना उज्ज्वल, कितना कोमल, क्या ही मधुर सलौना!
क्यों न हँसूँ रोऊँ गाऊँ मैं लगा मुझे यह टौना।
आर्य पुत्र आओ सचमुच मैं दूँगी चँद खिलौना।"

यशोधरा कितनी उदार है, यह उसकी गौतमी के साथ ही निम्नलिखित बातचीत से स्पष्ट है:—

गौ०—निर्दयी पुरुषों के पाले पड़कर हम अबला-जनों के भाग्य रोना ही लिखा है।

य०—अरी तू उन्हें निर्दय कैसे कहती है? वे तो किसी कीट-पतङ्ग का भी दुख नहीं देख सकते।

गौ०—तभी न हम लोगों को इतना सुख दे गये हैं।

य०—वे हमारे सच्चे सुख की खोज में ही गये हैं।"

पति के वियोग ने यशोधरा की काया को ऐसा दुर्बल बना दिया है कि वह उसके पुत्र राहुल ही की पहचान में नहीं आता। एक-एक चित्र को देखकर कुमार कहता है:—

"अरे यह तो देख, पिता के पास ही यह कौन खड़ी है? वे उसे मरकत की माला उतार कर दे रहे हैं, वह हाथ बढ़ाकर भी संकुचित

सी हो रही है। सिर नीचा है। फिर भी अधखुली आँखें उन्हीं की ओर लगी हैं। माँ, यह कौन है ?"

फिर कुछ ध्यान से देखकर कहता है,

"यह मेरी मौसी हैं। मुख माँ के मुख से मिलता है। इतना गौरव नहीं है, परन्तु सरलता ऐसी ही है। क्यों माँ, हैं न मौसी ही ?"

और यह राहुल की माँ यशोधरा ही का चित्र था।

यशोधरा के हृदय में पीड़ा के प्रबल झोंके आते हैं, किन्तु उनमें इतना बल नहीं है कि वे उसके पैर उखाड़ दें, प्रियतम जो उसकी उपेक्षा करके, उसके उचित अधिकारों की अवहेलना करके चले गये—वह बात उसके कलेजे में काँटे की तरह खटकती रही है। इस अवमानना के उत्तर में उसने भी निश्चय कर लिया है कि वह अपने स्थान से च्युत नहीं होगी। उसकी वह प्रतिज्ञा शुद्धोदन के बहुत समझाने-बुझाने पर भी अटल रहती है; यह जान लेने पर भी कि उसके पतिदेव बहुत पास ही आ गये हैं, वह अपनी आँखों को तरसा कर, अपने प्राणों को तड़पाकर जहाँ की तहाँ पड़ी रहती है, व्याकुलता के चाल में पड़कर विचलित नहीं होती। वह उनके दर्शन के लिए क्यों नहीं चल सकती, इसके सम्बन्ध में प्रश्न किये जाने पर कहती है:—

"बाधा तो यही है मुझे बाधा नहीं कोई भी।
विघ्न भी यही है जहाँ जाने से जगत में।
कोई मुझे रोक नहीं सकता है—धर्म्म से,
फिर भी जहाँ मैं आप इच्छा रहते हुए,
जाने नहीं पाती ! यदि पाती तो कभी यहाँ,
बैठी रहती मैं ? छान डालती धरती को।
सिंहिनी सी काननों में योगिनी सी शैलों में,
शफरी सी जल में विहंगिनी सी व्योम में,
जाती तभी और उन्हें खोज कर लाती मैं !"

बिषादमयी यशोधरा के व्यक्तित्व में एक अनमोल तत्व छिपा रक्खा है, जिसे इस रचना का सन्देश कह सकते हैं। वह है मुक्ति की ऐसी खोज करने के प्रति विद्रोह, जिसमें सांसारिक कर्त्तव्यों को भुला कर अपनी प्रगति का पथ परिष्कृत करने का प्रयत्न किया जाता है। जिन समस्याओं से व्याकुल होकर गौतम ने संसार-त्याग किया था, वे उनके निम्नलिखित कथन में समाविष्ट हैं:—

"देखी मैंने आज जरा !
हो जावेगी क्या ऐसी ही मेरी यशोधरा ?
हाय ! मिलेगा मिट्टी में वह वर्ण सुवर्ण खरा ?
सूख जायगा मेरा उपवन, जो है आज हरा ?
सौ-सौ रोग खड़े हों सम्मुख पशु ज्यों बाँध परा ?
धिक् जो मेरे रहते मेरा चेतन जाय चरा ?
रिक्त मात्र है क्या सब भीतर बाहर भरा भरा ?
कुछ न किया, यह सूना भव भी यदि मैंने न तरा।"

यशोधरा तर्क के द्वारा पति की विचार-धारा का खंडन करती है:—

"यदि हममें अपना नियम और शम दम है,
तो लाख व्याधियाँ रहें स्वस्थता सम है।
वह जरा एक विश्रान्ति जहाँ संयम है?
नव जीवन दाता मरण कहाँ निर्मम है?
भव भावे मुझको और उसे मैं भाऊँ।
कह मुक्ति भला किसलिए तुझे मैं पाऊँ।"

यह तर्क निम्नलिखित पंक्तियों में भावुकता से सिक्त होकर प्रवाहित हुआ है:—

"जल में शतदल तुल्य सरसते,
तुम घर रहते हम न तरसते,
देखो दो दो मेघ बरसते,

मैं प्यासी की प्यासी।
आओ हो बनवासी।"

यशोधरा की साधना सिद्ध हुई। भगवान तथागत को स्वयं हीं उसकी सेवा में पधारना पड़ा। उन्होंने मान लिया कि जिस प्रकार वे चले गये थे, उसमें उनकी दुर्बलता ही छिपी थी:—

माना तब दुर्बल था तुमको मैं तज गया निदान।
किन्तु शुभे परिणाम भला ही हुआ सुधा-सन्धान।
यदि मैंने निर्दयता की तो क्षमा करो प्रिय जान।
मैत्री करुणा-पूर्ण आज मैं शुद्ध-बुद्ध भगवान।"

भगवान् तथागत ने नारी की महत्ता भी स्वीकार कर ली:—

"दीन न हो गोपे, सुनो, हीन नहीं नारी कभी,
भूत दया-मूर्त्ति वह मन से शरीर से।
क्षीण हुआ बन में क्षुधा से मैं विशेष जब,
मुझको बचाया मातृ जाति ने ही खीर से।
आया जब मार मुझे मारने को बार बार,
अप्सरा अनीकनी सजाये हेम-हीर से।
तुम तो वहाँ थी धीर ध्यान ही तुम्हारा वहाँ,
जूझा मुझे पीछे कर पंचशर वीर से।"

जीवन में नारी की उपयोगिता के पक्ष में इससे बढ़ कर और क्या प्रमाण-पत्र हो सकता है? भगवान् बुद्ध की उपयुक्त दुर्बलता-स्वीकृति ही में गार्हस्थ जीवन के साथ-साथ सत्य को खोज करने के पक्ष का समर्थन भी निहित है; और यही यह काव्य नीरस वैराग्य के हृदय में सहृदयता का सुमन-बाण चला कर अपना लक्ष्य-बेध सिद्ध कर लेता है।

ये छोटी-मोटी तत्त्व की बातें तो यशोधरा में मिलती ही हैं, किन्तु यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि कवि ने यशोधरा को भी, उर्मिला ही की तरह, समाज सेविका नहीं बनाया, बल्कि जैसे उर्मिला को वैसे ही यशोधरा को भी पति-वियोग की व्यथा में लीन

कर डाला है; इस प्रकार समाज के हित के लिए व्यक्ति प्रसन्नता अथवा विवशतापूर्वक आत्म-त्याग की साधना करे, यही प्रधान सन्देश हमें योशधरा के जीवन से प्राप्त होता है।

यशोधरा को कवि ने बहुत ऊँचे उठाया है; प्रस्तुत स्थान पर पहुँच कर वह एक व्यक्ति मात्र नहीं रह गयी है, बल्कि एक भावना, एक पक्ष की प्रतिनिधि हो गयी है। वह सांसारिक जीवन को त्यागने के लिए तैयार नहीं है, उसका कहना है:—

"आओ, प्रिय, भव में भाव-विभाव भरें हम।
डूबेंगे नहीं कदापि तरें, न तरें हम।
कैवल्य-काम भी काम स्वधर्म्म धरें हम।
संसार हेतु शतबार सहर्ष मरें हम।"
तुम सुनो क्षेम से प्रेम गीत मैं गाऊँ!
कह मुक्ति भला किसलिए तुझे मैं पाऊँ।

किन्तु यशोधरा ने अपने विचारों को कार्य-रूप में परिणत नहीं किया; शायद इसका कारण यह हो कि उसे अपने प्रियतम का सहयोग नहीं प्राप्त हुआ।

विरहिणी, स्वाभिमानिनी यशोधरा का यह चित्र प्रस्तुत करके गुप्तजी ने हिन्दी-साहित्य को एक अमूल्य निधि प्रदान की है।

× × ×

यशोधरा के अनन्तर-गुप्तजी के जो तीन काव्य प्रकाश में आये हैं, वे है—(१) द्वापर; (२) सिद्धराज और (३) नहुष। इन तीनों का कुछ परिचय यहाँ देने का प्रयत्न किया जायगा।

१—द्वापर

श्री सत्येन्द्र ने 'द्वापर' नामक काव्य के सम्बन्ध में, जिसकी यहाँ चर्चा की जायगी, अपनी पुस्तक 'गुप्तजी की कला' में लिखा है—

"कृष्ण के चरित्र का उल्लेख करते हुए इस द्वापर में उन्होंने (गुप्तजी ने) विधृता को स्थान दिया है—उर्मिला भी उपेक्षिता थी, यशोधरा भी—इनके पतियों की इतनी यश प्रशस्ति हो और इनके लिए दो शब्द भी लेखनी से द्रवित न हों—कवि कुल पर यह कलंक था, जिसका परिहास गुप्त जी ने किया। पर 'नारी' को यों उपेक्षिता पाकर उनकी कल्पना और आगे भी मचल उठी—और वे कवि की असहृदयता पर ही क्षुब्ध होकर नहीं रुके। मानव के नारी के प्रति ऐतिहासिक अत्याचार और उत्पीड़न के विरुद्ध उनकी करुणा उत्कंठिता हो उठी और विधृता बन आयी। जो कथा भागवत में किसी कोने में बिखरी पड़ी थी, वह गुप्तजी की दृष्टि में नाच उठी—और उसके सहारे नारी का एक और रूप 'द्वापर' में हमारे समक्ष आ गया। यह नारी कवि से उपेक्षिता नहीं, पुरुष के द्वारा निराहृता है, परित्यक्ता नहीं, परिपीड़िता है × × यह कहा जा सकता है कि इस विधृता ने इन्हें द्वापर में फांसा है, इसी ने इन्हें कृष्ण के पास पहुँचाया है।"

निस्सन्देह विधृता 'द्वापर' में एक महत्वपूर्ण चरित्र है जिसका प्रतिवाद हमें आकर्षित करता है, किन्तु विधृता 'द्वापर' की उत्पत्ति का मूल कारण नहीं है। इस सम्बन्ध में कवि ने स्वयं जो थोड़ा-सा प्रकाश दिया है. उसका उपयोग यहाँ सार्थक होगा—

"जिस परिस्थिति में यह पुस्तक लिखी गयी है वह लेखक के जीवन में बहुत ही संकल्प-विकल्प पूर्ण रही। क्या जानें, इसी कारण से यह नाम आ गया अथवा अन्य किसी कारण से। यह भी द्वापर—सन्देह ही की बात है।'

कवि ने अपनी धर्मपत्नी को इस पुस्तक का समर्पण करते हुए लिखा है—

> "कर्म्म विपाक कंस की मारी
> दीन द्रौपदी सी चिरकाल,

अयि अबोध अन्तःपुरि मेरी
अमर यही माई का लाल।"

कवि के उक्त कथन से इन पंक्तियों का कुछ सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है और पारिवारिक वेदनाओं द्वारा उत्पन्न परिस्थितियाँ ही 'द्वापर' की जननी हो सकती हैं; हमारे जीवन में ऐसे अवसर आते हैं जब हमें यह सन्देह करने का अवसर उपस्थित हो जाता है कि विश्व-संचालन का आधार स्वरूप कोई नियम, कोई व्यवस्था है या नहीं। कंस को मारने तथा देवकी और द्रौपदी को आश्वस्त करने के लिए श्रीकृष्ण की आवश्यकता होती ही है। कंस की जगह रावण को नहीं दी जा सकती थी और न देवकी या द्रौपदी की जगह सीता आदि को दी जा सकती थी। संतति-वियोग-जन्य दीनता की समस्या थी। इस समस्या को व्यक्त करने के लिए अभागिनी देवकी और संशय-पीड़ित कंस की ओर कवि का ध्यान जाता है। और तब स्वभावतः वहाँ कृष्ण का अवतार होता है। कृष्ण के आते ही अनेक अन्य आगन्तुक अपने आप चले आते हैं, क्योंकि कृष्ण के स्वरूप को स्पष्ट करना है, ठीक तौर से व्यक्त करना है, उसकी व्याख्या करनी है।

कवि का व्यक्तिगत सुख-दुख केवल उसकी वस्तु नहीं है! उसमें समाज का सम्पूर्ण जीवन झलकता चलता है। उसकी वेदना से, उसके प्राप्त प्रकाश से हम सब उपकृत होते चलते हैं। कवि की अन्तर्दृष्टि ने भारत-जननी की भी वही स्थिति देखी, उसे भी तो एक अमर लाल की आवश्यकता थी जो उसके दैन्य का अंत कर दे। 'द्वापर' में चित्रित श्रीकृष्ण इसी रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत किये गये हैं; जिन उपादानों से उनका निर्माण किया गया है उन पर विचार करने की आवश्यकता है।

'द्वापर की रचना के पूर्व कवि ने राम-चरित्र-वर्णन किया था; श्रीरामचन्द्र मर्य्यादा पुरुषोत्तम हैं; केवल वर्ण-मर्य्यादा की रक्षा करने के लिए शूद्र तपस्वी शम्बूक का वध उन्हें करना पड़ा; लोक सेवा-भाव

की रक्षा के लिए उन्हें सीता का त्याग करना पड़ा। तप करने का, यदि वह अच्छी वस्तु है, सभी को अधिकार है; इसी प्रकार महारानी सीता पर लांछन लगाने वाले को दंडित होना चाहिए था। परन्तु नहीं, प्रेम और अहिंसा पर आधारित तथा वर्ण और आश्रम-विभाग द्वारा सुशासित, सुव्यवस्थित समाज में श्रीरामचन्द्र वैसा ही आचरण करने के लिए बाध्य थे। जिस समाज में सब के कर्त्तव्यों और अधिकारों की मेंड़ बाँध दी गयी है, उसमें योग्य से योग्य को दूसरे के क्षेत्र में अनावश्यक प्रवेश की अनुमति राजा नहीं दे सकता। श्रीरामचन्द्र एक आदर्श राजा थे, समष्टि के हितार्थ व्यक्ति को उसके परिश्रम का फल देकर उन्होंने उसे समाज द्वारा स्वीकृत एक आदर्श के विरोध में खड़े होने के लिए दंडित किया। उन्होंने विधान की रक्षा की, मर्य्यादा की स्थापना का आग्रह किया, इसलिए वे मर्य्यादा पुरुषोत्तम कहलाये।

श्रीरामचन्द्र का चरित्र-वर्णन होने के कारण यह स्वाभाविक ही था कि 'साकेत' में वर्णाश्रम-व्यवस्था की ओर कवि की रुचि प्रगट हो। किन्तु हमारे समाज की वर्त्तमान परिस्थित में यह वर्णाश्रम-व्यवस्था के संकलन का नहीं, विकलन का युग है। ऐसी अवस्था में ऐसे आद का निर्देश करने की आवश्यकता थी जो हमारी वर्त्तमान कठिनाइयों में सहायक हो सके। कवि ने इस ग्रन्थ में ऐसा किया है।

हमारा समाज आज भी साम्राज्यवाद के कंस से पीड़ित है। कंस कहता है—

"बनता नहीं ईंट गारे से
वह साम्राज्य विशाल।
सुनो चुने जाते हैं उसमें
रुधिराप्लुत कंकाल।
× × ×
ठहर, ब्रह्मवादी बकता है
तू क्या अब्रह्मण्य ?

तेरा ब्रह्म और तू दोनों
मेरे निकट नगण्य।

× × ×

मैं हूँ अहं ब्रह्म विश्वासी
पर ब्रह्म है कौन!
नर ही नारायण है, नर मैं,
सुनो इसे सब मौन।"

साम्राज्यवाद का प्रतीक कंस इतना प्रबल राक्षस है कि वह अपने ही को ईश्वर मानता है। किन्तु उसमें एक दुर्बलता है—वह संशयग्रस्त है। राक्षस तभी निर्बल होगा है जब उसको यह संशय हो जाय कि किसी ऐसी शक्ति का अवतरण हो रहा है जो उसके मूल को ही उखाड़ देने वाली है। वास्तव में यह संशय ही राक्षस को मार डालने के लिए यथेष्ट है, शेष साधन तो निमित्त मात्र हैं! सन्देह की उत्पत्ति द्वारा कंस की बुद्धि को नारद जी ने नष्ट कर दिया। परिणाम यह हुआ कि शिशुओं ने, नवजात शिशुओं ने ही कंस को पराजित कर दिया—

"कंसराज कुछ कहें, प्रथम ही
काँप गये ये भय से
शिशुओं ही ने उन्हें हराया
केवल निज संशय से।"

× × ×

सत्ता का यह उन्माद अवश्य ही नष्ट होने वाला है। उग्रसेन कहता है—

"ओ सत्ता मदमत्त आज भी
आँखें खोल अभागे।
वह साम्राज्य-स्वप्न जाने दे
जाग सत्य यह आगे।

जो आतंक दिखाया तू ने
देख उसी को अब तू,
और टूटने को प्रस्तुत रह
बच न सके हाँ जब तू।"

कंस का नाश करने वाले श्रीकृष्ण की क्रान्ति मूर्त्ति के दर्शन कीजिए।

बलराम का कहना है कि प्राचीनता की दुहाई देकर नवीन समस्याओं के उचित हल से भागो मत, उनकी निर्दिष्ट भूमिका पर सन्तोष कर के न बैठ जाना चाहिए, बल्कि आगे भी अपना प्रबन्ध-विकास करना चाहिए—

"भूमि पूर्वजों की है निश्चय
कर्षण किन्तु तुम्हारा।
इसीलिए तो था यथार्थ में
उन सब का श्रम सारा।"

नारद की तो वीणा ही क्रान्ति की है। वे कहते हैं—

"अरे आग भी कभी लगानी
पड़ जाती है हमें यहाँ,
कूड़ा कर्कट ही न अन्यथा
भर जावे फिर जहाँ-तहाँ।"

× × ×

"हरिः ओऽम् पर इसके आगे
शान्ति नहीं हो शान्ति नहीं,
शान्ति अन्त में आप आयगी
व्यर्थ जन्म जो क्रान्ति नहीं।"

उग्रसेन के अनुताप में क्रान्ति है—

"उसका राज्य सौंप कर उसको
यदि हम वन को जाते,

तुम्हीं विचारो तो हम क्यों इस
कारागृह में आते ?
लोभ वस्तुतः रहा हमारा
क्षोभ वृथा हम मानें।
नये कहाँ बैठें सोचो यदि
हटें न यहाँ पुराने।"

विधृता का प्रतिवाद—वह प्रतिवाद जो उसके शरीर-त्याग के रूप में अत्यन्त अधिक शक्ति के साथ प्रगट हुआ, अनेकमुखी क्रान्तियों का वाहक है। हमारे समाज का सर्वमान्य आदर्श सतीत्व है; पति सेवा, पति की आज्ञा का पालन ही उसका सम्बल है। शास्त्र की आज्ञा है कि स्त्री स्वेच्छाचारिणी न हो, इसी में समष्टि का कल्याण है, सुसंस्कारों की रक्षा है, सद्भावों के पोषण की आशा है। किन्तु यह विधान स्त्री को दुर्बल बनाने के लिए नहीं है, साथ ही पति को दुरुपयोग का अधिकार देने के लिए भी नहीं है। यदि इस नियंत्रण से स्त्री में आत्मशक्ति का उदय न हुआ तो यह विधान ही व्यर्थ है; इसी प्रकार यदि पति ने स्त्री की आत्मशक्ति के विकास में धब्बा डाली तो भी इस विधान की कार्य-शीलता में कमी आ गयी। किन्तु प्रकृति की प्रेरणा से एक सीमित काल तक ही हमारे विधान चलने पाते हैं, उनमें विकृति आ ही जाती है, जिसके परिणाम-स्वरूप पुरुष स्त्री पर अपना अधिकार व्यक्त करने के लिए अधीर हो उठता है और यह नहीं समझता कि जिन साधनों से उसकी आत्म-शक्ति का विकास संभव है, उनका उपयोग न करने देकर वह उसी स्त्री का, जिसे वह प्यार करता है, अस्तित्व ही मिटा रहा है। तेजस्विनी स्त्री इस अन्याय को किस प्रकार सहन कर सकती है; उसमें विरोधी प्रतिक्रिया होगी ही। विधृता में इसी प्रकार की प्रतिक्रिया हुई है। अपने प्रतिवाद में वह अकेली नहीं है, उसके पक्ष में वह सम्पूर्ण विधान भी है, जिसे प्रगट रूप में वह अपने प्रतिकूल समझती है। इसी बल के कारण उसकी वाणी में अग्नि का संचार हो गया है—

"लोहित नेत्र, फड़कते नथुने
विकृत वदन खर वाणी,
नारायण मेरे नर में है
कौन नया यह प्राणी।

× × ×

तृतियों की उन कुल स्त्रियों के—
प्रति अश्लील रहो तुम,
फिर भी श्रोत्रिय होत्री ठहरे,
क्यों न सुशील रहो तुम।
मैं भूखों को भोजन देने
जाकर भी दुःशीला।
ललना तो छलना है ओ हो,
धन्य तुम्हारी लीला।"

विधृता के शब्दों में कुछ स्थूलता का संचार हो गया है; जब वह प्रतिवाद के चरम रूप को अपना चुकी थी तब इस दोष से उसको बचना चाहिये था। अस्तु। हाँ, यह अच्छा है कि उसने वेद को परिमित मान लेने का विरोध किया है और यह कहा है कि जिस कृष्ण भगवान के पास पहुँचने से ब्राह्मण पति ने उसे रोका है, उसी का गान तो वेद भी करते हैं—

"वेद उसी की तो गाते हैं,
धिक् वक्रोक्ति तुम्हारी।"

× × ×

"कुछ छंदों तक ही परिमित क्या
वह अनन्त की वाणी।"

× × ×

"नित्य नयी अपनी रचनाएँ
रचता है वह स्रष्टा,

देश देश में, काल-काल में
हैं मंत्रों के द्रष्टा।"

माता देवकी तो क्रान्ति की प्रसन्न-वेदना की मूर्ति ही हैं; यह जान कर कि कंस के काल का अवतरणहो चुका है, उनकी प्रसन्नता का क्या कहना! उनके शब्दों में कितना उल्लास है—

"क्या कहते हो जाना जा चुका
कंस काल वह काला;
काला, अहा! वही तो मेरे
अन्तर का उजियाला।
घन सा काला जाग रहा है
जिसमें विद्युज्ज्वाला,
वह लीलामय मेरा लाला
हाँ वह मेरा लाला।"

श्रीकृष्ण के मथुरावासी हो जाने पर उद्धव ने यशोदा को उनकी क्रान्ति का दर्शन कराने की चेष्टा की है—

"उसे डिठौना देने का मन
क्या अब भी है कह तो,
प्रेत पिशाच झाड़ने आया
मनुष्यत्व का वह तो।
खेल खिलौने के दिन उसके
बीत गये हैं मैया,
यही भला निज कार्य करे अब
तेरा कुँअर कन्हैया।"

अनेक दिशाओं में क्रान्ति है और उसके केन्द्र में श्रीकृष्ण का जीवन है। चारों ओर से उन्हीं का आवाहन हो रहा है। नारद जी को शिकायत थी कि वे गोपियों के साथ आमोद-प्रमोद में संलग्न हो गये हैं। देवकी को उन्होंने सम्बोधित करके कहा था—

“वेणु और व्रजबालाओं में
तेरा नटनागर भूला,
मुझे क्षमा कर जाता हूँ मैं
कंस निकट फूला फूला।

क्रान्ति की अग्नि-ज्वाला धधकाने के लिए नारद जी ने कैसे स्नेही हृदयों की उपेक्षा कर दी थी, यह गोपियों के मुख से सुनिए—

“क्या बतलावें वह वंशीधर
कैसा आया हममें,
ताल न आया होगा ऐसा
कभी किसी के सम में।
जीवन में यौवन सा आया,
यौवन में मधुमद सा
उस मद में भी छोड़ परमपद
आया वह गद्‌गद् सा।
वृन्दावन में नव मधु आया,
मधु में मन्मथ आया।
उसमें तन, तन में मन, मन में
एक मनोरथ आया।
उसमें आकर्षण, हाँ राधा
आकर्षण में आयी,
राधा में माधव माधव में
राधा मूर्त्ति समायी।

क्रान्ति अपने पोषण के लिए ऐसे ही हृदयों का आहार तो माँगती ही है। श्रीकृष्ण और राधा की इस आत्मिक एकता के कारण ही तो राधा की शक्ति अपरिमित हो गयी है और यह उसकी दया है, लोक-हितैषणा है कि वह अपने आवाहन को अधिक तीव्र नहीं बनाती। गोपी राधा के अपूर्व सामर्थ्य का वर्णन करती है—

"राधा जब तक है अमानिनी
करें कृष्ण मनमानी,
उसमें अहम्भाव तो आवे
भरें न आकर पानी!
चरणों में न पड़ें तो कहना
मुकुट-रत्न-मालाएँ,
एक यही आशा लेकर हैं
बैठी व्रज बालाएँ!"

'द्वापर' की पंक्तियों में कवि ने गीतिकाव्यात्मक शैली अपनायी है; किन्तु तार्किकता का समावेश होने के कारण केवल हृदय ही नहीं, मस्तिष्क भी उसके प्रभाव की ग्राहकता में भाग लेने लगता है। गीतिकाव्य का लक्ष्य अधिकांश में हृदय प्रान्त ही की ओर होना चाहिए और यह कहा नहीं जा सकता कि कवि ने उस मार्ग को पसंद क्यों नहीं किया। जिन रचनाओं का परिचय पाठकों को मिल चुका है उसमें से अनेक में उन्हें गुप्त जी के सुन्दर गीतों के दर्शन हुए हैं। जो हो, जितना हमें इस रूप में प्राप्त हुआ है, वह भी कम नहीं है, यद्यपि राधा और कृष्ण के मधुर एकाकार का वर्णन जितने प्रभावशाली पदों में हमारे सम्मुख प्रस्तुत हुआ है उसे देखते हुए हम अपना आग्रह तार्किकताशून्य शैली के पक्ष ही में रक्खेंगे।

'द्वापर' का संदेश

'साकेत' का अध्ययन करते समय उसके सन्देश की व्याख्या मैं कर चुका हूँ। वर्त्तमान और निकट भविष्य वाले समाज की पृष्ठभूमि में रख कर हम देखते हैं तो सन्देश में कुछ अपूर्णता मिलती है। किन्तु 'द्वापर' का सन्देश तो सर्वतोमुखी क्रान्ति का आवाहन लेकर हमारे सामने प्रस्तुत हुआ है। आत्मविकास की संगति रखते हुए नारी के अधिकारों की स्वीकृति 'द्वापर' का एक उल्लेख-योग्य सन्देश है; यह

स्मरण रहे कि आत्मशक्ति के विकास की संभावनाओं के अभाव में 'द्वापर' आर्थिक अथवा राजनैतिक आधारों पर नारी का अधिकार नहीं स्वीकार करता। राधा के सामर्थ्य के मनोहर वर्णन ने उसके त्याग को बहुत ऊँचे उठा दिया है; इस क्रान्तियुग में हमारी देवियों को वैसे ही वियोग, वैसे ही त्याग के लिए तैयार रहना चाहिए, 'द्वापर' का यह द्वितीय महत्वपूर्ण सन्देश है। माता-पिता के लिए यह नहीं उचित है कि वे अपने बच्चों को जीवन भर अपने मनोरंजन की सामग्री समझते रहें, समाज हित के लिए, प्रसन्नता अथवा क्लेशानुभवपूर्वक उन्हें त्याग करना ही पड़ेगा। 'द्वापर' का यह तृतीय स्मरणीय सन्देश है। क्रान्ति को हम दैनिक जीवन का अंग समझने के अभ्यासी बनें, अपने घर का कूड़ाकरकट, समाज के क्षेत्र में इकट्ठा होने वाली गन्दी सामग्री नियमित रूप से दूर फेंक दिया करें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'द्वापर' का चतुर्थ सन्देश यह है कि क्रान्ति वस्तुतः कोई बहुत भयंकर वस्तु नहीं है, यदि नित्य ही उसकी आराधना की जाय तो वह अपनी शीतल छाया से हमारे जीवन को अधिक स्वस्थ और सुखमय बना देगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस 'कूड़ा-करकट' की सफाई का उद्देश्य उस गन्दगी के निवारण से है जो भिन्न-भिन्न सामाजिक आदर्शों के निर्जीव हो जाने के अनन्तर आलस्य और प्रमाद उत्पन्न करने वाली रूढ़ियों के रूप में उपस्थित होती है। अन्य अनेक दिशाओं में भी 'द्वापर' के सन्देश हैं जो जीव मात्र के प्रति दया का वितरण करते हैं और प्रत्येक प्रथा को बुद्धि की कसौटी पर कसने की प्रेरणा देते हैं। इस प्रकार गुप्तजी के इस काव्य ने पाठक को स्वतंत्र-चेता होकर प्रत्येक प्राणी के प्रति न्याय करने का उपदेश दिया है तथा जीवन में स्वास्थ्य और शक्ति के संचार का मार्ग दिखाया है। कवि यहाँ तक कहता है कि क्रान्ति न हो तो जीवन ही व्यर्थ है; शांति को तो वह एक बहुत साधारण वस्तु समझता है; उसकी दृष्टि में मूल्य रखने वाली चीज तो क्रान्ति ही है।

'साकेत' और 'द्वापर' के संदेशों में कुछ भिन्नता है; किन्तु ऐसी

भिन्नता नहीं जो एक दूसरे को विरोधी के रूप में खड़ा करे। 'साकेत' में आर्य विजय का गान है; आर्य्य साम्राज्य का गौरव-वर्णन है; राज-सिंहासन के झगड़े को लेकर वह चला है और उसके लिए राजकुल को बहुत अधिक बलिदान और संकट का सामना करना पड़ता है। यज्ञ और होम की धूमशिखा प्रज्वलित रखने ही के पक्ष में उसकी गुरु गंभीर वाणी निनादित होती थी; वेदपाठ ही वहाँ सर्वसम्मत आदर्श स्थिति थी—

'गुंजारित होती चले वेद वरवाणी'

किन्तु द्वापर में कवि कहता है—

'वेदवादरत ठडे जी से सोचो और विचारो'

कितना अन्तर है। और फिर भी वास्तव में कोई वैषम्य नहीं है। कवि ने वेद की सीमा और वेद के क्षेत्र को विस्तृत करके सम्पूर्ण ज्ञान को उसी में गर्भित कर दिया है। और प्रकारान्तर से वेद को अनन्त विकास सम्पन्न बनाकर अनन्त की वाणी के रूप में उसकी अपौरुषेयता सिद्ध कर दी है; सम्पूर्ण विश्व के विज्ञान के प्रतिनिधि रूप में वेद हमारे सामने उपस्थित होते हैं; और ज्ञान-सम्बन्धी एक सार्वभौम भावना का हम अनुभव करने लगते हैं। जो वेद को एक सीमित क्षेत्र ही प्रदान करते हैं और उसके नाम पर संकीर्णता का प्रचार करते हैं वे वेदवादरत तो हैं ही। अतः हमें 'द्वापर' को 'साकेत' के विकास के रूप में ग्रहण करना चाहिए; न कि उसके विरोधी के रूप में।

'द्वापर' के उक्त विस्तारोन्मुख विकासपरक संदेश का हमें थोड़ा सा और अध्ययन करने की आवश्यकता है और वह इस उद्देश्य से कि क्या वह हमें ऐसे प्रतीक देने में सफल हो सका है जो हमारे वर्त्तमान सामाजिक जीवन की उलझनों को हल कर सकें। इसमें उन्देह नहीं कि संसार की प्रत्येक वाणी में वेदवाणी को श्रवण करना तथा अमर लोक और मर्त्य लोक की समस्याओं का सामंजस्य करने वाले श्रीकृष्ण को इष्टदेव के

रूप में ग्रहण करना क्रान्ति के लिए क्षेत्र तैयार करना है। इस क्रांति को स्वीकार करके हमारा हिन्दू समाज भारतीय समाज को प्रसन्न करने की वेदना अनुभव कर सकता है। किन्तु खेद यही है कि यह क्षीण, हलका प्रकाश हमें बहुत अधिक दूर तक नहीं ले जाता; यह हमारे सामने कर्तृत्व का वह दर्शन नहीं प्रस्तुत करता जिसमें वर्त्तमान भारतीय संघर्ष में भिन्न भिन्न वर्गों का उचित मूल्याङ्कन हो सके। यदि कवि के हृदय में क्रांति का रूप स्पष्ट हो तो उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति के भीतर उसके 'बलराम', 'कृष्ण', 'उद्धव', 'नन्द', 'यशोदा', 'राधा' आदि चित्रों के भीतर हमारे वर्त्तमान समाज-शोषक और पोषक स्पष्ट रूप से विकृत अथवा प्रकृत रूप में दिखाई पड़ने लग जायँ। महान् कला की यह अनिवार्य विशेषता है कि उसमें मानव की स्थानीय, युगविशेषकीय प्रसन्नताओं और कठिनाइयों के प्रतीक सजीव होकर बोल से उठें। 'द्वापर' के पात्रों के सामने विस्तार तो बहुत है, किन्तु उस सम्पूर्ण विस्तार पर उन्हें अधिकार नहीं प्राप्त है। इस अधिकार के अभाव ने उनमें वह क्षमता नहीं उत्पन्न होने दी जो आनन्द प्रदेश की नवीन स्फूर्तियों को उन्मुक्त प्रेरणा और प्रवाह देने के लिए अनिवार्य है। ऐसी अवस्था में हमारा हृदय उल्लास की आशा से तरंगित होकर भी वंचित और निराश-सा होकर बैठ जाता है।

२—सिद्धराज

सिद्धराज एक खंडकाव्य है। यह पाँच सर्गों में समाप्त हुआ है। सिद्धराज की विजयों का इसमें ओजस्वी वर्णन है। वह सब जगह जाता, किन्तु दो एक स्थानों में जीत कर भी हार गया। इसमें उसके चरित्र वर्णन में रोचकता आ गयी है। काव्य के अंतिम सर्ग में महोबे के राजा मदनवर्मा के साथ उसके वार्त्तालाप में भी कुछ ऐसी रचनात्मक बातें आ गयी हैं जिनके कारण पुस्तक का महत्व बढ़ गया है; उसका एक लक्ष्य निर्दिष्ट हो गया है।

सिद्धराज की वीरता का परिचय मिलने के पहले उसकी मातृभक्ति का परिचय मिलता है; माता की इच्छा का आदर कर के उसने सोमनाथ महादेव के दर्शनार्थियों पर लगने वाले कर को सदा के लिए उठा दिया—

"लौटा कर माँ को वीर बाहुलोड़ पहुँचा।
पंचकुल लोगों से मँगाया वहाँ उसने
कर का निदेश पत्र और लेखा उसका
देखा उससे है प्रतिवर्ष लाभ लाखों का।
फाड़ फेंका तो भी वह पत्र मातृभक्त ने
माँ के चरणों पर चढ़ाया पत्र पुष्प सा!

उसके इस तीर्थयात्रा काल में मालवा के राजा नरवर्मा ने उसकी राजधानी पाटन पर चढ़ाई कर दी। सान्तू नामक मंत्री ने सिद्धराज जयसिंह के तीर्थयात्रा फल की इच्छित भेंट नरवर्मा को देकर संधि कर ली थी। यात्रा से लौटने पर जयसिंह ने मालवा पर चढ़ाई कर दी। दूत ने जिस प्रकार उसके संदेश को मालवा के राजदरबार में व्यक्त किया, वह सुन्दर है—

"देव, जब महादेव दर्शनार्थ थे गये
आये तब पाटन थे आप, यह सुन के
खेद हुआ उनको कि स्वागत न आपका
हो सका यथोचित। विशेष कर आपको
पुण्यफल की थी अभिलाषा, यह जान के
चिन्ता हुई उनको कि ऐसा कौन पाप था
दूसरे के पुण्य की सहायता की जिसको
जीतने में आप को अपेक्षा हुई। वस्तुतः
मेरे महाराज को नहीं है लोभ फल का
पुण्य के लिए ही पुण्य करते हैं वे कृती।

आपके सुगति हेतु नाहीं नहीं उनको;
किन्तु आपको भी कुछ यत्न करणीय है ?
कटते नहीं हैं निज पाप पर पुण्य से।
हाँ, अपना फोड़ा अपने से नहीं फूटता,
मेरे महाराज उसे फोड़कर उसका
सारा विष दूर कर देंगे निज शस्त्र से।

अतः कहा गया है कि अनेक स्थानों में उसने विजय प्राप्त की और अनेक स्थानों में विजय प्राप्त करके भी पराजय का अनुभव किया। मालवेश्वर को पराजित करके वह अवन्तीनाथ हो गया, खंगार, अर्णोराज, सिन्धुराज आदि कई राजाओं को उसने हराया। किन्तु इन तीनों में से प्रत्येक से उसे कुछ न कुछ पीड़ा ही प्राप्त हुई; खंगार मरकर भी जयसिंह के पीछे ही पड़ा रहा; अर्णोराज को वह कैदी तो बना कर लाया किन्तु अन्त में उसे जामाता बनाने के लिए बाध्य होना पड़ा; इस प्रकार जब सिन्धुराज पराजित होकर उसके सामने लाया गया तो खंगार की पत्नी, ग्रहदोष के कारण सिन्धुराज द्वारा परित्यक्ता रानकदे की स्मृति से, जिसे उसने अपनी पत्नी बनाना चाहा था, उसे वेदना ही की प्राप्ति हुई।

सिद्धराज में अनेक राजोचित गुण थे—

'होकर भी आप वह भक्त शिवशक्ति का
भावुक था दूसरों की धर्मभावना का भी।
शस्त्रों के सदृश ही सुधार्मिक था शास्त्रों का;
तार्किकों के तर्कवाद सुनता था रुचि से,
और मल्लक्रीड़ा के समान मोद पाता था।
फूली-फली सकिल कलाएँ उस भूप से;
फैल कर बैठा शिल्प मंदिरों में उसके

देकर विपुल द्रव्य उस बहु दानी ने
जीर्णोद्धार जैन मंदिरों का भी कराया था
× × ×
थे खंभात में कुछ मुसलमान रहते
पावक-पुजारियों से उनका विरोध था
आर्य उकसाये गये सोमनाथ-स्मृति से
ढा दी गयी मूर्त्ति-भंजकों की मसजिद भी
आप भी वे मारे गये, उनके खतीब ने
भाग बच, पाटन में आकर पुकार की
× × ×
रहते सभी हैं बस ईश्वर की सृष्टि में
हमको ठिकाना नहीं राज्य में क्या आपके
× × ×
दोषियों को दण्ड मिला, साथ ही खतीब ने
पाया पुरस्कार, कहा उससे महीप ने—
"जाओ डर छोड़ तुम अपनी अजान दो
और गा बजा कर उतारें हम आरती।"

सिद्धराज उच्च कोटि के वीर होने के साथ ही साथ प्रतिपक्षी की वीरता का भी आदर करते थे। राजा यशोवर्म्मा (मालवेश्वर) के सच्चे वीर जगदेव के साथ उन्होंने जो व्यवहार किया वह प्रशंसनीय है। जब बंधन में पड़े हुए जगदेव ने कहा—

अथवा बँधा हूँ मार डालो क्यों न मुझको,
अंगीकार होगी नहीं मुझको. अधीनता।
काट डालो मेरा सिर कोई अनायास ही
किन्तु झुकने से रहा मस्तक विपक्षी को,
कंठ कट जाय मेरा, किन्तु किसी काल में
कुन्ठित न होगा वह कहने से अपनी।"

सिद्धराज ने किसी प्रकार की उत्तेजना का अनुभव नहीं किया और आज्ञा दी—

"बंदी जगदेव, तुम्हें मार सकता हूँ मैं,
तो भी हार मानना जो अस्वीकार है तुम्हें,
तो तुम जियो हे वीर, विचरो स्वतंत्र हो।'

इस प्रकार की उदारता सिद्धराज के अनुरूप ही थी।

सिद्धराज जैसे वीर थे, वैसे ही प्रजापालक गुणग्राहक भी थे। उनके भिन्न-भिन्न गुणों का कवि की लेखनी द्वारा सुन्दर वर्णन अंकित हुआ है, विस्तार-भय से यहाँ उनका अधिक उल्लेख सम्भव नहीं है। उनमें यदि किसी प्रकार की त्रुटि थी तो यही कि उनमें उचित से अधिक कामुकता थी। उन्होंने सिन्धुराज की परित्यक्ता कन्या रानकदे को, जो एक कुम्हार द्वारा पाली-पोसी गयी थी, अपनी रानी बनाना चाहा। दुर्भाग्य से यह प्रस्ताव लेकर उनके पहुँचने के पहिले ही उनके कई पीढ़ियों के शत्रु राजा खंगार ने रानकदे से विवाह कर लिया। रानकदे ने सिद्धराज को निराश कर दिया। परन्तु वीर जयसिंह इतने पर भी नहीं रुके। उन्होंने युद्ध किया और न केवल खंगार को मारा बल्कि रानकदे से उत्पन्न उनके दोनों लड़कों का भी वध कर डाला। मति-भ्रष्ट होकर बलपूर्वक सिद्धराज ने रानकदे को पत्नी बनने के लिए विवश करना चाहा; किन्तु शिवभक्त सिद्धराज को यह भूल गया कि मनुष्य के पुरुषार्थ की एक सीमा है और ईश्वर की इच्छा के बिना केवल वाह्य परिस्थितियों को अपने अनुकूल कर के कोई संसार की प्रत्येक वस्तु को ग्रहण नहीं कर सकता। वीरवर जगदेव के आ जाने के कारण रानकदे की रक्षा हो गयी, और वह सती हो गयी।

सिद्धराज का अन्तिम अभियान, जिसका उल्लेख इस काव्य में किया गया है, महोबे पर हुआ। किन्तु वहाँ रक्तमयी होली के स्थान में रंगमयी होली ही खेली गयी। प्रेमपूर्ण संभाषण के बीच में भारतीय राजाओं के पारस्परिक वैमनस्य को लक्ष्य करके मदन वर्म्मा ने कहा—

"किन्तु क्षत्रियों की आज यादवों की गति है,
नष्ट हो रहे हैं हम आपस में जूझ के!
स्वप्न देखते हैं आप एक नर राज्य का
एक देव के भी यहाँ सौ सौ भाग हो चुके!
हर हर महादेव—एक मंत्र रहते
कोई जय बोलता है मात्र सोमनाथ की;
कोई महाकाल की तो कोई एकलिंगन की;
रह गये आप विश्वनाथ काशीनाथ ही!"

मदन वर्म्मा की इस आलोचना की लपेट में सिद्धराज भी आगये। प्रेम की लड़ाई में, निस्सन्देह, सिद्धराज महोबे से हार कर ही लौटे।

जगद्देव

इस काव्य में जगद्देव का चरित्र ऐसा है, जिसके सामने समस्त वीरता-प्रेमियों का मस्तक श्रद्धा से नत हो जायगा। सिद्धराज के संबंध में ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उसमें पाठक जगद्देव की एक झलक पा चुके हैं। यहाँ उसके सम्बन्ध में थोड़ा और प्रकाश डालना आवश्यक है।

जगद्देव सबसे पहले राजभक्त था, उसके बाद और कुछ। जब सिद्धराज ने, राजा यशोवर्मा को हराकर अवन्तीनाथ की पदवी प्राप्त कर ली तब भी जगद्देव इस भावना का विद्रोही बना रहा, वह यही कहता रहा—

"मानूँगा अवन्तीनाथ मैं प्रतिपक्षी को
मानता हूँ सिद्धराज वीरवर तुम हो

+ \+ \+

पञ्चतत्व मेरी पुण्यभूमि के हैं मुझमें
कहला रहे हैं वही मुझसे पुकार के—

इस परतंत्र नहीं, सर्वथा स्वतंत्र हैं।
मानूँ किस भाँति मैं अवन्तीनाथ तुमको।"

वीर और साधारण पुरुष में यह एक बहुत बड़ा अन्तर है कि जहाँ साधारण पुरुष भय से शत्रु के शासन को स्वीकार कर लेता है वहाँ वीर पुरुष भय से अधीन नहीं होता; हाँ सद्व्यवहार का उस पर प्रभाव पड़ सकता है। सिद्धराज को जगद्देव ने ललकारा, लेकिन फिर भी वह उत्तेजित नहीं हुआ; उलटे उदारतापूर्वक उसने उसे स्वतंत्र कर दिया। जगद्देव पर इस व्यवहार ने जादू का सा काम किया। वह सिद्धराज का भक्त हो गया—

"सचमुच महाराज, आज महाकाल ने
आपको प्रसाद दिया, इच्छा यही देवी की।
भय से पराजय न मानूँ, किंतु आप के
वीरोचित नियम-विवेक व्यवहार से
हार मानता हूँ; और होता हूँ अधीन मैं।"

× × ×

"सोमनाथ और महाकाल दोनों एक हैं,
मेरे आप के प्रणम्य सदा एक से।
आप न तो यवन, न शक हैं, न म्लेच्छ हैं,
आपकी विजय आर्य्यक्षात्र की ही जय है,
और मेरी हार भी कृतज्ञता से पूर्ण है।
निकल रही है 'महाराज' वाणी आप ही,
और झुकता है स्वयं मेरा सिर सामने।"

जगद्देव के इस उद्गार के उत्तर में सिद्धराज ने यहाँ तक कह डाला—

"× × वीर, इस दीर्घ अभियान का
मैंने मूर्त्तिमान महालाभ तुम्हें पा लिया?"

क्रमशः जगद्देव सिद्धराज के लिए अनिवार्य रूप से उपयोगी हो गया—

सन्तत विजेता, दृढ़चेता जयसिंह से
हार गया, धाराधिप, किंतु जगद्देव ने
जीत लिया उस गुन गाहक के मन को।
उसने विश्वास किया घात नहीं इसने ;
सोता वह स्वस्थता से और यह जागता।
मंत्रणा में पार्श्व में, तो सम्मुख विनोद में
पीछे जो प्रयाण में, तो आगे अभियान में,
व्याप्त सब ओर यह हो रहा था उसके।"

निस्सन्देह, जगद्देव ने सिद्धराज की बहुत अधिक रक्षा की! सिद्धराज ने उसके प्राणों की रक्षा की थी; इसके बदले में जगद्देव ने उनको एक महाकलंकित पतन से बचाकर उनकी ऐसी सेवा की जिसका मूल्य शायद उन्होंने उस समय न आँका होगा जब वह प्रगट रूप में असेवा के आवरण में उनके सामने उपस्थित हुई। सिंधुराज की कन्या रानकदे के पति राजा खंगार को दो पुत्रों समेत मार कर सिद्धराज बलपूवक रानकदे को ग्रहण करना चाहते थे। अभागिनी सती रानकदे के सामने कैसी विपत्ति थी! वह अबला बलप्रयोग का सामना किस अस्त्र से कर सकती थी? ऐसी ही लाचारी के अवसर पर ईश्वर ने उसकी उसी प्रकार रक्षा की जैसे द्रौपदी की रक्षा की थी; जगद्देव ने घर के भीतर प्रवेश किया और सिद्धराज को इस अन्याय से विरत होने के लिए ललकारा। यहाँ का उस समय का वर्णन नाटकीय सौंदर्य्य से युक्त होकर बड़ा ही प्रभावशाली हो गया है—

"सावधान" बोला जगद्देव घुस घर में—
"भार है सती के पर्यवेक्षण का मुझको।"
"किससे नियुक्त तुम?"
"जेता जयसिंह से।"

"मैं वह नहीं हूं ?"
"तुम कोई व्यभिचारी हो,
"कामी क्रूर कापुरुष।
"सिद्धराज क्या हुआ ?
"मर गया, हाय ! तुम पापी प्रेत उसके !"

आगे, जगद्देव बड़ी मर्म्मस्पर्शी बात कहता है—

"सत्य जो तुम्हीं हो जयसिंह देव सोलंकी
हाय तो अरक्षित हैं अब हम सब के
अन्तःपुर । महाराज, अब भी समय है,
शाप न लो आप, क्षमा माँगो सती देवी से।"

सिद्धराज जगद्देव को राजविद्रोही कहकर कलंकित सिद्ध करना चाहता है, उसके उत्तर में जगद्देव कहता है—

"यदि यह राजद्रोह तो मैं राजविद्रोही
कोई कहे, कौन बड़ा धर्म्म आज इससे।"

जगद्देव सिद्धराज को बध्य मानता है, किंतु उससे भी अधिक महत्व वह अपनी ही मृत्यु में समझता है; वह तलवार सिद्धराज के सामने फेंक कर अपनी छुरी निकालकर कहता है—

"मेरे रक्षणीय तुम, मेरी यह असि लो,
और मार डालो मुझे, पतन तुम्हारा मैं
देख नहीं सकता हूँ, बस मरता हुआ
मार के बचा लूँ इस अपनी बहन को !"

रानकदे जगद्देव को मरने से मना करती है; उस समय जगद्देव अपनी परतंत्रता के कारण के मूल की दार्शनिक विवेचना करता है—

सोचा करता था यह बात मैं कभी कभी
मैंने पारतंत्र्य-पाप स्वीकृत किया ही क्यों
ज्ञात हुआ आज, वह पुण्य मुझे फला था।"

जगद्देव निस्सन्देह सिद्धराज का रक्षक सिद्ध होता है और इस रूप में यह इस काव्य का एक प्रधान पात्र प्रमाणित होता है।

मदनवर्म्मा

मदनवर्म्मा महोबे का राजा था। सिद्धराज से किसी चारण ने आकर कहा—

"पाटन की राजसभा मानो है महोबे की!"

× × ×

श्रीयुत मदनवर्म्मा सदन सुकर्म्मों का,
शौर्य्य में भी, वीर्य्य में भी, इन्द्र है महोबे का।
संगर विनोद, रागरङ्ग मोद, दोनों में
एक सा कुशल है कृती जो गुण-गौरवी
मन से वरुण है, कुबेर वह धन से
देता और भोगता है शूर दोनों हाथों से,
रात में भी जागता है, सोती है सुखी प्रजा।"

सिद्धराज ने मदनवर्म्मा पर चढ़ाई कर दी। किन्तु वसन्त ऋतु में जब होली निकट ही थी, युद्ध के योग्य वातावरण नहीं था। दोनों की सन्धि हो गयी। सिद्धराज ने कहा—

× × × पृथ्वी का प्राणी मैं
आ गया हूँ आज इस नन्दन विपिन में!
आसुरी विचार यहाँ आते ही कहाँ गये?
विस्मित हूँ।"

मदनवर्म्मा ने उत्तर दिया—

"तौ भी मैं विजित से भी अधिक अधीन हूँ।"

× × ×

किसी भी विजेता को इससे अधिक क्या चाहिए कि जिस पर वह आक्रमण करे वह विजित से अधिक अधीन हो जाय। यहीं सारी लड़ाई का अन्त हो जाता है।

मदनवर्म्मा और सिद्धराज की पारस्परिक सौहार्दपूर्ण बातों में बहुत से राजनैतिक उद्देश्यों की गुत्थियाँ भी सुलझती हैं। सिद्धराज कहता है—

"मैं तो चाहता हूँ एक राज्य, एकच्छत्र ही।"

× × ×

किंतु यदि मैं कहूँ भले ही उपलक्ष ही
मानें उसे आप, चाहता हूँ एकशक्ति मैं
आर्यधन धाम-धरा-धर्म्म के बचाने को,
कब तक शान्ति सुख भोग यह आप का?
जाय सुख-भोग, हाय! योगक्षेम भी कहाँ—
लुंठक विदेशियों, विजातियों के रहते?
शक गये, हूण गये, तो अब यवन हैं
व्यक्तिगत कोई रहे चाहे जितना बड़ा
संघ में ही शक्ति, गति एक वही सब की।

इसके उत्तर में मदनवर्म्मा ने जो कुछ कहा है उसी में कवि का संदेश भी निहित जान पड़ता है। उसका कथन है—

मार्मिक है दृष्टि महाराज अहा? आप की
दीखता है किन्तु मुझे अब भी न जाने क्या!
हाय! यह पाप इस पुण्य भूमि का ही है,
मिट्टी की नहीं, जो बनी मानों स्वयं सोने की
आयेंगे ही आयेंगे लुटेरे यहाँ, फिर भी
कौन तस्करों से डर दीन होना चाहेगा?

“तो क्या वर्वरों के लिए वर्वर ही हम हों,
धिक् उस नरता को वर्वर दलें जिसे !

× × ×

चरम विकास जहाँ किन्तु वहीं ह्रास भी

× × ×

धर्म्मराज का भी एक राज्य खोया हमने
एकच्छत्र रक्खा चन्द्रगुप्त ने, अशोक ने,
विक्रम ने, हर्ष ने भी, किन्तु व्यक्तिगत ही।
देश है विशाल, दूर दूर एक लोक सा,
भार एक क्षत्रियों को, ईर्ष्या-द्वेष उनमें;
और लोभ कौन बड़ा होगा भला राज्य से ?

× × ×

दूसरी दिशा में उदासीन हम हो रहे
‘कोई क्यों न ले ले राज्य, छोड़ दिया राजा ने !’
जागता है ज्ञानमंत्र बहुधा श्मशान में !
होगा उपराग सा अकाल का विराग भी;
कितने समर्थ कुल लोप हुए इससे।

× × ×

हिंसा मिटे, बुद्ध-महावीर की दया बढ़े
किन्तु आत्मरक्षा हमें करनी पड़ेगी ही ;
शूरता भी क्रूरता न मानी जाय अंत में;
धार्म्मिक विरोध हमें दुर्बल बना रहे।

× × ×

यवन बसे हैं यहाँ आकर कहीं कहीं,
उनको हमारा धर्म्म रहने दे, वे उसे
रहने न देंगे सहधर्म्मियों के पक्ष में।

× × ×

आया नहीं सच्चा एक राज्य योग अब भी।"

उक्त पंक्तियो में मदनवर्म्मा ने सिद्धराज के एकराज्य सिद्धान्त का खंडन किया है। बाहर से शत्रुओं के आक्रमण होते ही रहेंगे; यह देश ही इतना सुन्दर और आकर्षक है कि इस पर अधिकार करने की लालसा को विदेशी लोग छोड़ नहीं सकते। इस ओर यह निश्चित सत्य है, दूसरी ओर भारत की रक्षा का भार अकेले क्षत्रियों के ऊपर है—वे क्षत्रिय जो स्वयं ही आपस के ईर्ष्या-द्वेष से पीड़ित हैं और बलवान होकर भी प्राकृतिक नियमों के अनुसार सदा बलवान नहीं बने रह सकते, कितनी ही अन्य समस्याएँ हमारे सामने हैं, यदि हम दया और अहिंसा को अपने जीवन-पथ का प्रकाशक सिद्धान्त बनाते हैं तो हम औरों को भले ही स्नेह की दृष्टि से देखने का अभ्यास कर लें, किन्तु अन्य लोग तो ऐसा नहीं करेंगे। मुसलमानों की समस्या स्पष्ट रूप से हमारे देश में विद्यमान है। हमारे क्षत्रिय राजाओं में श्मशान में ज्ञान मंत्र जगाने की प्रवृत्ति भी प्रायः असमय वैराग्य के कारण उत्पन्न हो जाया करती है। इन सब परिस्थितियों में देश का भविष्य अंधकार-पूर्ण ही जान पड़ता है।

किन्तु मदनवर्म्मा ने इस अंधकार का चित्र खींचकर प्रकाश का चित्र भी अंकित किया है और यही इस काव्य का प्राण, सम्पूर्ण जीवन स्पन्दन थोड़ी सी पंक्तियों में मिलता है। मदनवर्म्मा कहता है—

"तो भी मैं निराश नहीं, आप जैसे विजयी
वीर और धीर जब जन्म यहाँ लेते हैं।
सोमनाथ मंदिर विधर्म्मियों ने ढा दिया
किन्तु वह पूर्व से भी पुष्ट खड़ा आज है
देना पड़ा और देना होगा हमें आगे जो
क्या कुछ मिलेगा नहीं बदले में उसके?
संजीवनी शुक्र की है उग्र असुरों में भी,
और मय जैसी मंजु शिल्पकला उनमें

× × ×

होंगे युग पुरुष स्वयं ही युग युग में
देना पड़े मूल्य हमें चाहे जितना बड़ा।
हम यवनों से भी ठगाये नहीं जायँगे
आर्य भूमि अंत में रहेगी आर्य भूमि ही;
आकर मिलेंगी यहीं संस्कृतियाँ सब की;
होगा एक विश्व-तीर्थ भारत ही भूमि का।"

सिद्धराज के सामने स्वभावतः प्रश्न उपस्थित हुआ—
भोगी है मदनवर्मा किंवा एक योगी है?"

'सिद्धराज' के अन्य चरित्र

सिद्धराज के अन्य चरित्रों में राजा 'खंगार, रानकदे, अर्णोराज, कांचनदे, महोबे का गृह-सचित्र क्षेत्र वर्म्मा आदि प्रधान हैं। यद्यपि खंगार सिद्धराज के सामने विजयी नहीं हो सका और यद्यपि अर्णोराज पराजित होकर सिद्धराज का बन्दी हो गया, तथापि इनकी वीरता में किसी को कोई सन्देह नहीं हो सकता। काव्य की प्रवृत्ति के अनुसार रानकदे को नायिका और सिद्धराज को नायक मानने के लिए विवश होना पड़ता है। इस सम्बन्ध में विशेष विचार तो आगे कथानक के संगठन की परीक्षा करते समय किया जायगा; यहाँ इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि काव्य के क्षेत्र में, विशेष कर आर्य्य काव्य के क्षेत्र में रानकदे को सिद्धराज की अभिलषित नायिका के पद पर आरूढ़ करके सिद्धराज को मुँह के बल गिरने की आवश्यकता नहीं थी। माना कि कवि ऐतिहासिकता में उचित से अधिक उलट-फेर नहीं कर सकता, किन्तु यह भी तो विचारणीय है कि जिस स्त्री के पति का स्वर्ग प्रयाण हो गया और जिस माँ के दो पुत्र उसके नेत्रों के सामने ही मारे गये वह इन सब के हत्यारे के प्रति प्रेम की उष्णता का किस प्रकार अनुभव कर सकती थी। पागलों की तरह जब राजा ने उसका हाथ पकड़ लिया तो—

"छोड़ दिया किन्तु हाथ उसने पकड़ के,
जीवित का हाथ न हो जैसे वह, मृत का !
चिल्ला उठी रानकदे—"पापी पशु" कह के।

रानकदे ने 'पापी पशु' की उपाधि देकर सिद्धराज के शौर्य्य, उदारता आदि सभी गुणों पर ठंडा पानी फेर दिया ! उस क्षण सिद्धराज से जगद्देव ने ठीक ही कहा था कि सिद्धराज तो मर गया और तुम उसके पापी प्रेतमात्र हो।

राजा खंगार की वीरता के वर्णन में कवि ने लिखा है—

"हारा नहीं अन्त में भी राणा रण-केसरी
टूट गया, किन्तु वह अचल लचा नहीं !
दोनों ही निभाता रहा एक-सी उमंग से,
शत्रु भाग भंग, राग रंग संग रानी के।

× × ×

जब तक जीता रहा एक कण राना का
व्रण ही विपक्षियों को देता रहा रण में;
बातें छिन्न मुंड ने कीं, घातें भिन्न रुंड ने !

अर्णोराज को सिद्धराज लाया तो था बंदी बनाकर, किन्तु कांचनदे के हृदय दुर्ग पर अधिकार प्राप्त करके वह अपने कारागार से वस्तुतः विजयी होकर निकला; प्रेम ने इस बैर को समाप्त कर दिया—

"दीखा आप अर्णोराज सम्मुख अलिन्द में,
लौटा जा रहा था देवदर्शन जो करके,

× × ×

ललित गम्भीर, गौर, गौरव का गृह सा,
एकाकी विलोक जिसे गरिमा ने भेंटा था
उत्तरीय ओढ़े और पीताम्बर पहने
झूलती गले में फूलमाला श्री प्रसाद की

संकुचित हो के कहाँ जाती राजनन्दिनी ?
बंदी के समक्ष स्वयं बंदिनी सी हो उठी।"

महोबे का गृह-संचिव भी एक आकर्षक पात्र है—

"आगत था एक प्रौढ़ वीर और साहसी;
धोती घुटनों के तले ऊपर अँगरखी;
रिक्त कर, किंतु दोनों ओर कटि बंध में
बाँधे था कृपाण दो दो, सिर पर पगड़ी;
तिरक गये थे कुछ बाल डाढ़ी मूछों के;
तो भी गौर चर्म्म चिकना था तना एक सा
राजा के समक्ष अनुरूप राजमंत्री सा
जान पड़ा योद्धा; कुछ झुककर उसने,
एक हाथ माथे पर रख, मुजरा किया।
कर कुछ ऊँचा कर स्वीकृति दी राजा ने,
पूछा—"तुम कौन और कैसे यहां आये हो ?"
'मैं हूँ महाराज, गृहसचिव महोबे का।
कहते मुझे हैं क्षेत्रवर्म्मा वेत्रवन्ती का।"

क्षेत्र वर्म्मा में एक विचित्र अकड़ है, जब सिद्धराज पूछता है कि क्या तुम्हारे महाराज मुझसे लड़ने के लिए तैयार हैं तब वह उत्तर देता है—

"रहना ही पड़ता है प्रस्तुत सभी कहीं
नित्य मरने के लिए, जन्मधारी मात्र को,
जूझने में फिर भी शुभाशा है विजय की।"

थोड़ी देर मौन रह कर सिद्धराज ने कहा,

"गर्व और विनय इकट्ठे हुए तुममें—
वीर मैं प्रसन्न हुआ, वैर नहीं प्रेम ही
लूँगा उनसे मैं।"

सम्पूर्ण काव्य में वीरता का उत्साहजनक वातावरण है।

कथानक का संगठन और काव्य-सन्देश

प्रबन्ध काव्य में कथानक संगठन अत्यन्त आवश्यक वस्तु है। उसमें थोड़ी-सी भी असावधानी हो जाने के कारण काव्य के समष्टिगत प्रभाव में त्रुटि हो जाती है। हमें यह देखना है कि सिद्धराज में कथावस्तु की तैयारी कितने कौशल से की गयी है।

प्रबन्धकाव्य का यह नियम है, और यही सब तरह की आख्यान-मूलक रचनाओं पर लागू होता है, कि उसमें एक नायक और एक नायिका होती है; नायक का उत्कर्ष बढ़ाने के लिए एक प्रति नायक भी होती है। 'साकेत' के कथानक-संगठन की चर्चा करते समय मैंने उसकी आवश्यकता का उल्लेख किया है; किन्तु 'सिद्धराज' के कथानक की गड़बड़ी तो और भी बढ़ी-चढ़ी जान पड़ती है। पर नारी पर हस्तक्षेप करना उदात्त नायक के लिए शोभा की बात नहीं हो सकती और सिद्धराज ने दिनदहाड़े यही किया है; यदि जगद्देव ने अकस्मात् उपस्थित होकर उसकी भर्त्सना न की होती तो शायद वह रानकदे पर कुछ और अत्याचार करता ही। जगद्देव ने ठीक ही आपत्ति की कि परदारा पर अत्याचार करनेवाला वध्य होता है; जो समाज की शान्ति में, सुव्यवस्था में इस प्रकार की बाधा डाल सकता है, वह किस प्रकार काव्य में गेय बनेगा, यह काव्य-रसिकों के लिए विचारणीय है। आर्य्य संस्कृत के मूल, नारी के पातिव्रत धर्म्म पर कुठाराघात करने वाला सिद्धराज यदि काव्य का नायक बनेगा, तो अलाउद्दीन को पद्मिनी का नायक बनाकर एक महाकाव्य भी शीघ्र ही लिखा जाना चाहिए। अलाउद्दीन जिस समाज का था उसकी अत्यन्त साधारण श्रेणी की संस्कृति थी, वह विकास के उस स्तर पर पहुँची नहीं थी जहाँ से नारी के सतीत्व का गौरव ठीक तौर से आँका जा सके। किन्तु सिद्धराज के दोष को कम करने के लिए तो यह बहाना भी उसके पास नहीं था। ऐसी अवस्था में यह प्रश्न करने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि क्या सिद्धराज

के चरित्र पर पड़े हुए इस धब्बे को अमरत्व प्रदान करने के लिए, उसे संसार में अधिक से अधिक प्रचारित करने के उद्देश्य से इस काव्य की रचना की गयी है ? नहीं, यह संदेह करने के लिए इस एक त्रुटि को छोड़ कर अन्य कोई प्रमाण इस काव्य के भीतर नहीं है। तो क्या हम इसे कवि की असावधानी समझें ?

जो हो, एक बात तो स्पष्ट है—कवि ने प्रबन्ध काव्य लिखने की चेष्टा नहीं की है। ऐसा जान पड़ता है कि सिद्धराज के जीवन की अनेक विजयों का उल्लेख करके आर्य्य वीरों की वीरता का प्रभाव पाठक पर डालना ही उसका उद्देश्य रहा है। कई कहानियां एक दूसरे के साथ संग्रथित कर दी गयी हैं, जिनका किसी केन्द्रिक घटना से कोई सम्बन्ध ही नहीं है और विचित्र बात तो यह है कि कोई केन्द्रिक घटना, चढ़ाव, उतार जैसी कोई चीज इसमें है ही नहीं। उदाहरण के लिए रानकदे के सती हो जाने के उपारान्त एक कहानी समाप्त हो गयी थी; उसके बाद अर्णोराज-कांचनदे की प्रेमकथा तथा परिणय हमारे सामने उपस्थित हो जाता है, उसके बाद सिन्धुराज के पराजय और मुक्ति की कहानी आती है; उसके बाद महोबे के आक्रमण का वर्णन प्रस्तुत होता है। सिद्धराज का सम्बन्ध इन सब से है, केवल इतने ही से पाँच सर्गों में पल्लवित इस काव्य की वस्तु को इन सब विजय-गाथाओं के रूप में गति और वेग प्राप्त करने की विशेषता से सम्पन्न नहीं कह सकते। रानकदे के सती हो जाने के बाद इस खंडकाव्य का कथानक क्यों शेष रहने दिया गया ? यदि रहने दिया गया तो क्या उसमें एक बहुत बड़ा भाग सिद्धराज के प्रायश्चित से युक्त न होना चाहिए था ? उसने अपने निंदनीय अनाचार के लिए क्या प्रायश्चित किया ? राजमाता की इच्छा की पूर्ति के लिए, जो प्रधान मन्त्री महता मुंजाल की गुजर-साम्राज्य-लालसा से सम्बन्ध रखती थी, सिद्धराज ने लड़ाइयाँ छेड़ीं, किन्तु अपने उस पाप के शमन के लिए उसने क्या किया जिसने वास्तव में उसके जीवित रहने के अधिकार को ही उससे छीन लिया था और

जो निरन्तर उसका पीछा कर रहा था? कवि ने सिद्धराज में कोई परिवर्त्तन नहीं दिखाया है; हाँ, उसमें इस बात के लिए पछतावा अवश्य है कि—

"दाँतों*तले तृण रखने के लिए राना को
करता न बाध्य यदि उस दिन आप मैं,
तो यह अनर्थ नहीं होता इतना बड़ा।
क्यों खंगार काट जाता मेरी यह नाकसी?
होता वह मेरा ही, हुआ है जगद्देव ज्यों।
और; होती रानकदे जैसी मणि मेरी ही।"

इन पंक्तियों में पाप का प्रायश्चित्त नहीं है; इनमें वह पश्चात्ताप है जो अभीष्ट-सिद्धि के प्रयत्न में भूल हो जाने पर प्रायः लोगों को हुआ करता है। सिद्धराज करते हैं—

"विजित विपक्ष के समक्ष नति नीति है,
किन्तु सिद्धराज जयसिंह, यह क्या किया,
तू ने बना डाला हाय, पशु ही पुरुष को-
मृगतृण भोजी किया सिंह-मान भागी को!
प्रायश्चित्त करना ही होगा इस पाप का।'

सो राना को मृगतृणभोजी बनाने का प्रायश्चित्त तो रानकदे के वियोग द्वारा सिद्धराज ने किया; किन्तु रानकदे के प्रति किये गये अन्याय का उसने क्या प्रायश्चित्त किया? इस प्रायश्चित्त के अभाव में क्या सिद्धराज के उदात्त नायकत्व में कोई बाधा नहीं आवेगी?

कवि ने सिद्धराज को महत्व देने की कोशिश की है; एक साधारण दृष्टिपात से स्पष्ट हो जाता है कि वह उसको काव्य के प्रधान

---

*सोरठ के राना गानधनी का खंगार पौत्र था। राना ने, मरते समय अपने अपमान का बदला चुकाने के लिए ही खंगार के पिता को राजगद्दी न देकर खंगार को सिंहासन का अधिकारी बनाया था।

पुरुष के रूप में अंकित कर रहा है। किन्तु वास्तव में आरम्भ से अन्त तक सिद्धराज को गिराने ही का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है। एकच्छत्र राज्य के सम्बन्ध में सिद्धराज के उत्साह का परिचय पाठकों को मिल चुका है; मदनवर्म्मा ने किस प्रकार उसका खंडन करके अपनी शान्तिमयी नीति के पक्ष का समर्थन किया, इस ओर भी संकेत किया गया है; यहाँ प्रसंगवश यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि जिस एच्छत्र राज्य की प्राप्ति के उद्योग में सिद्धराज अपने बन्धुओं पर, उन बन्धुओं पर जिनके यहाँ वे रोटी-बेटी का सम्बन्ध कर सकते हैं—इतने निरंकुश अत्याचार के पहाड़ ढहाने से विरत नहीं होते तो उक्त 'एकच्छत्र राज्य' के मिल जाने पर वे अपने बन्धुओं तथा शेष मानवता के लिए कितने भयंकर हो उठेंगे ! अस्तु।

यह सब जाने दीजिये। सिद्धराज को नायक बनाया तो काव्य का संदेश तो नायक द्वारा व्यक्त होना चाहिए। बेचारे ने 'एकच्छत्र राज्य' द्वारा विदेशियों के आक्रमण को रोकने का आदर्श प्रस्तुत किया, किन्तु मदनवर्म्मा ने उसे धराशायी कर दिया और अन्त में भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के आक्रमण द्वारा भी पारस्परिक मिलन से संभव आदान-प्रदान के आदर्श का निर्देश कर दिया। स्पष्ट-रूप से कवि की भी इसी ओर प्रवृत्ति समझ पड़ती है।

कवि ने अपने निवेदन में लिखा है, "पुस्तक में जो घटनाएँ हैं वे ऐतिहासिक हैं। परन्तु उनका क्रम संदिग्ध है। इसलिए लेखक ने अपनी सुविधा के अनुसार बना लिया है। जो अंश काल्पनिक है, वे आनुषंगिक हैं और उनसे ऐतिहासिकता में कोई बाधा नहीं आती।" इस कथन से स्पष्ट है कि कवि काव्य की आवश्यकताओं का ध्यान रख कर सिद्धराज के चरित्र में अभीष्ट परिवर्त्तन कर सकता था और यदि उसने नहीं किया तो यह उसका प्रमाद मात्र है।

आश्चर्य्य है कि 'गुप्त जी की कला' में 'सिद्धराज' की इतनी

बड़ी त्रुटि पर कोई टीका-टिप्पणी न करके उसके लेखक श्री सत्येन्द्र जी ने केवल निम्नलिखित शब्द ही लिख कर टाल दिया है—

"आदर्श और वास्तविकता का सुन्दर मेल इसमें किया गया है। आदर्श व्यक्ति के हृदय में भी दुर्बलता किस प्रकार छिपी रहती है और अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर अपना विस्तार करती है; यही सब सिद्धराज में दिखाया गया है।"

"इस काव्य में जिस सामग्री का समावेश किया गया है, वह चार खंडकाव्यों के लिए यथेष्ट होती। अर्णोराज और कांचनदे की प्रेम-कथा, महोबे का आक्रमण आदि स्वतंत्र काव्यों के विषय हो सकते हैं। 'सिद्धराज' और 'रानकदे' की यह कहानी अगर ज्यों की त्यों रखनी है तो सिद्धराज को नायक रूप में न ग्रहण करना चाहिये; उस अवस्था में नायक का पद खंगार ही को मिलना चाहिये। सर्गबद्ध, प्रबन्ध-मूलक काव्य में इतनी सामग्री के अकेन्द्रिक और असंगठित सन्निवेश से यह काव्य सर्वथा असफल हो गया है। रहा लेखक का यह कथन कि "अपने मध्यकालीन वीरों की एक झलक पाने के लिए पाठक सिद्धराज पढ़ेंगे तो सम्भवतः उन्हें निराश न होना पड़ेगा," किसी के भी विरोध करने के योग्य नहीं है। यहाँ यह कहना भी आवश्यक है कि पुस्तक के भीतर इधर-उधर बड़े सुन्दर वर्णन बिखरे पड़े हैं, जिनकी मनोहरता प्रबन्ध-सम्बन्धी त्रुटि का कुछ निराकरण कर देती है। एक ही उदाहरण देकर मैं इस प्रकरण को समाप्त करूँगा। महोबे में बसन्त-ऋतु की चाँदनीरात का चित्रण करते हुए कवि ने लिखा है —

"सार्थक बसंतकाल मधु या रसाल था—
बौरे महुये थे वहाँ और आम मौरे थे!
फूले थे असंख्य फूल, भौंरे सुध भूले थे;
आ गई थी उष्णता खगों के कलकंठों में;
गन्ध छा गया था मंद शीतल समीर में;
लहरा रहे थे खेत सुन्दर सुनहले।

गा रहे थे मग्न रखवाले रखवालियाँ
गीत किसी वीर के, नहीं तो किसी प्रेमी के;
वीरता में धीरता, गंभीरता थी प्रेम में

३—नहुष काव्य

'नहुष' गुप्तजी की एक छोटी सुन्दर रचना है; किन्तु वह जितनी ही छोटी है उतनी ही महत्वपूर्ण भी है। एक अत्यन्त विषम परिस्थिति में पड़ कर अमर लोक के अधिपति की पत्नी इन्द्राणी तीव्र वेदना का अनुभव करती हैं; इसी प्रकार कामुकता की अतिवृद्धि के कारण नव-प्राप्त इन्द्र-पद से नहुष का स्खलन होता है। इसी वेदना और स्खलन का आधार लेकर गुप्तजी ने कुछ मनोहर विचार और भाव दिये हैं, बड़े ही मूल्यवान हैं; पाठक ठीक तौर से उन्हें हृदयंगम कर सकें, इस उद्देश्य से 'नहुष' में वर्णित कथा का सारांश लेखक ही के शब्दों में यहाँ दिया जाता है—

"तपस्वी त्रिशरा इन्द्रासन लेना चाहता था! इन्द्र ने अप्सराओं के द्वारा उसे डिगाना चाहा। परन्तु वह नहीं डिगा। तब इन्द्र ने वज्र से उसकी हत्या कर डाली। त्रिशरा के भाई वृत्र ने इन्द्र से बैर लिया। वृत्र से हारकर इन्द्र को उससे सन्धि करनी पड़ी। बैरी बन्धु बन गये। एक दिन धोखे से इन्द्र ने वृत्र को भी समाप्त कर दिया। ब्रह्महत्या और विश्वासघात के कारण इन्द्र पाप का भागी हुआ। इन्द्रासन छोड़कर प्रायश्चित्त करने के लिए, उसे एकान्त जल में समाधि लगानी पड़ी। इसी प्रसंग में, स्वर्ग की रक्षा के लिए, महाराज नहुष को योग्य समझ कर देवताओं ने उन्हें इन्द्रपद पर प्रतिष्ठित किया था।"

इस पौराणिक आख्यान में सृष्टि-विकास का और परमोत्कर्ष को पहुँचने के अनन्तर नाश को प्राप्त होने का एक सुन्दर क्रम उपस्थित है। जीवन केवल उत्कर्ष ही का पक्षपाती नहीं है, अपकर्ष की मरुभूमि को भी सींचता हुआ वह अग्रसर होता है। काम, क्रोध मद, लोभ

और मोह उन मानसिक प्रवृत्तियों के प्रेरक हैं जिनके अवलम्ब ही से जीवन अपनी यात्रा को चरितार्थ करता है! प्राणीमात्र में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ पद का अधिकारी है। इस पद का दुरुपयोग करके वह चाहे तो दनुज हो सकता है और सदुपयोग करके चाहे तो स्वयं को देव में परिणत कर सकता है। अमर पद की प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ मानवों को हम सदैव प्रयत्नशील देखते हैं; देवों की ओर उन्हें कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता, यही नहीं, उनके माग के काँटे बखेरे जाते हैं, उन्हें तरह-तरह की यातनाएँ दी जाती हैं। साधारण अमरपद-सम्बन्धी कामना की पूर्ति में जब इतने संकट हैं तो अमरेश्वर-पद की लालसा के सिद्ध होने में कितनी कठिनाइयाँ खड़ी होंगी, इस विषय में तो कुछ कहना ही नहीं है। इन्द्रपद के उम्मीदवार बलि को वामन ने किस प्रकार छला, उसकी कथा तो लोक-प्रसिद्ध ही है। वामन की बदौलत अन्ततोगत्वा बलि किसी भी प्रकार इन्द्रपद पर पहुँच न सका। अस्तु। अमरेश्वर के पद को पा लेने के अनन्तर कुछ करने के लिए शेष नहीं रह जाता और इस कारण उन्हीं मानसिक प्रवृत्तियों में पुनः लौट आने की आशंका आ जाती है जिनसे साधना-काल में अपने को बचा कर ही मनुष्य इतने ऊँचे चढ़ता है। इस प्रकार उत्थान-पतन, विकास-विनाश, यात्रा का अन्त और फिर उसका आरम्भ—यह सब चलता ही रहता है। नहुष मनुष्य होकर इन्द्रपद का अधिकारी हुआ; वह उस पद पर पहुँचा जहाँ से वह देवों अथवा ऋषियों-महर्षियों से कुली का काम भी ले सकता था। रेलगाड़ी की सवारी तो अधिक भयानक नहीं रह गयी है, हवाई जहाज में भी अब उतना खतरा नहीं रह गया है किंतु भला सोचिए कि वह सवारी कैसे होगी जिसमें अपने शाप द्वारा सर्वनाश करने की क्षमता रखने वाले ऋषिगण कहार का काम कर रहे हों। और यही भयङ्कर काम नहुष को करना पड़ा; उन्मत्तता के आवेश में उसे शायद भूला गया कि मेरी पालकी में जो कहार जुते हैं वे मुझे अधमाधम योनि में पहुँचाने की शक्ति रखने वाले हैं। उसका यही प्रमाद उसके सर्वनाश

का कारण होता है और इन्द्रपद की ऊँचाई से फिसल कर वह अत्यन्त नीची अवस्था को प्राप्त होता है।

सबसे पहली बात, जो हमारा ध्यान आकर्षित करती है, यह है कि कवि ने साकेत में जिस प्रत्यक्षवाद का अवलम्ब लेकर मंथरा और कैकेयी की बुद्धि पर परदा डालने का कार्य्य, तुलसीदास जी के रामचरितमानस के ढंग का त्याग करके, सरस्वती से नहीं लिया था उसका नहुष काव्य में अभाव हो गया है। महर्षि नारद के पधारने पर जब चिंतामग्ना शची ने उनसे प्रणाम न करने की भूल कर दी तब वे बड़े विचार में पड़ जाते हैं—

"देवऋषि आप उसे देखा किये रुक के
उसने प्रणाम उन्हें क्यों न किया झुक के?
दुर्वासा न थे वे, यही बात थी कुशल की,
क्रोध नहीं, खेद हुआ और दया झलकी।
क्षमा है विपन्ना, दयनीय यह दोष है,
स्वस्थ रहे कैसे गया धाम-धन-कोष है।
लज्जानत नेत्र यह देखे पहँचाने क्या,
भीतर है कोलाहल, बाहर की जाने क्या।
ओ हो? क्षण मौन रहे फिर हिल डोले वे
सहज विनोदी, आप अपने से बोले वे—
फिर भी प्रणाम बिना आशीर्वाद कैसे हो?
और अपराध अपराध ही है जैसे हो।
प्रायश्चित्त रूप कुछ दण्ड नहीं पायगा,
तो हे दये दूषित ही दोषी रह जायगा।
मैं अपनी ओर से करूँगा कुछ भी नहीं,
किन्तु रुके विधि के अदृश्य कर भी कहीं?"

शची को कुछ भी पता नहीं, उसकी वेदना को और भी तीखी, और भी असह्य बनाने का उपक्रम हो गया! अभी तो उसकी

चिन्ता का यही प्रधान कारण था कि उसके स्वामी को जल-समाधि लेनी पड़ी थी, किंतु देवर्षि को प्रणाम न करने के दोष से अब तो उसके सामने वह परिस्थिति भी आनेवाली है जो उसके सतीत्व पर भी आघात करके रहेगी। विधि के अदृश्य कर का कार्य्य किस प्रकार आरम्भ हो जाता है, यह देखिए, नहुष नारद से कहता है—

“देव यहाँ सारे काम काज देखता हूँ मैं,
निज को अकेला सा तथापि लेखता हूँ मैं।”

देवर्षि ने नहुष की दुर्बलता का संकेत पाकर उसे सावधान किया—

“आह, मनोदुर्बलता, वीर, यह त्याज्य है,
आप निर्जरों ने तुम्हें सौंपा निज राज्य है।
दानवों से रक्षा कर भोगो इस गेह को,
मानो देव मन्दिर हो निज नरदेह को।”

यह कहकर देवर्षि चले गये और शची के मनस्ताप तथा नहुष के पतन का पथ परिष्कृत होने लगा।

शची

गुप्तजी की अन्य किसी कृति में नारी के सामने वह समस्या नहीं आयी थी जो शची के सम्मुख प्रस्तुत हुई। शची इन्द्राणी होकर भी कितनी दयनीय है; कोई भी व्यक्ति, वह मानव हो अथवा दानव, इन्द्र पद का अधिकारी होने पर इन्द्राणी का अनायास ही अधिकारी हो जाता है। नहुष मनुष्य से इन्द्र हुआ, वैजयन्त धाम में रहने लगा, ऐसी दशा में इन्द्राणी के बिना अकेलेपन का अनुभव करके उसका ऊबना स्वाभाविक ही था। इस विषम परिस्थिति का सामना इन्द्राणी किस प्रकार करे। नहुष का संदेश लेकर देवदूती आती है—

“दूना सा अकेले मुझे शासन का भार है,
आधा कर दे जो उसे, ऐसा सहचार है।

इस सिर को भी टेकने का एक ठौर हो,
उन चरणों को छोड़ कौन वह और हो।
सह नहीं सकता विलम्ब और अब मैं,
आज्ञा मिले शीघ्र मुझे, आऊँ कहाँ, कब मैं ?'

इस संदेश के उत्तर में शची कहती है—

"पाप शांत, पाप शांत, रह, चुप रह तू,
जाके निज देव से संदेसा यह कह तू।
सौंपा धन-धाम तुम्हें और गुण कर्म भी,
रख न सकेंगी हम अंत में क्या धर्म भी।
जैसे धनी मानी गृही जाय तीर्थ कृत्य को,
और घर बार सौंप जाय भले भृत्य को।
सौंपा अपने को यह धाम वैसे मानों तुम।
थाती इसे जानों निज धर्म पहिचानों तुम।
त्यागो शचीकान्त बनने की पाप वासना;
हर ले नरत्व भी न कामदेवोपासना।"

इस उत्तर से नहुष आपे में नहीं रहा। क्रोध कुछ शान्त होने पर उसने नम्र भाषा में एक संदेश देवगुरु के पास भेजा जिसमें निवेदन किया कि देवराज्य में सर्वत्र सुव्यवस्था होने पर भी भीतर घर में अशान्ति है, अकेलेपन के कारण वैजयन्त अच्छा नहीं लगता, आदि। देवगुरु ने दूत को विदा कर के कुछ देवों के साथ परामर्श किया; अन्त में पारस्परिक मतभेद होने के कारण यह निर्णय हुआ कि इसमें तो शची ही का मत लेना चाहिए। शची ने अपने धर्म्म की रक्षा के लिए जो मार्मिक बातें कहीं हैं वे विचारणीय हैं। वह कहती है:—

"सत्ता हाँ समाज की है वह जो करे करे,
एक अबला का क्या, जिये, जिये, मरे, मरे।
सौंपा स्वयं राज्य नहीं कोई कुछ बोला भी,
दे दो निज रानी का स्वयं ही आज डोली भी।

हुँकारें सभा में उठीं रोने सी लगी शची,
सब गया, हाय, आज लज्जा भी नहीं बची।"

किन्तु इन बातों का भी देवों पर कुछ विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। यह देख कर शची ने उन ऋषियों को ही अपने क्रोध का लक्ष्य बनाया जिन्होंने दैत्य का वध करने के कारण इन्द्र को ब्रह्महत्या का अपराधी ठहराया था और जिनके आदेश के कारण ही प्रायश्चित स्वरूप इन्द्र को जल में समाधि लगानी पड़ी थी। उसे एक युक्ति सूझ गयी—महाराज नहुष ऐसी पालकी में चढ़ कर मुझसे मिलने के लिए आयें जिसमें कहारों के स्थान पर ऋषिगण नियोजित किये जाँय! देवगण तो वैज्ञानिक संकट के निवारण के लिए चिन्तित थे; उन्हें यह शर्त एक बहुत साधारण शर्त समझ पड़ी। स्वयं बृहस्पति महाराज हर्ष से उछल कर बोले—

"बस, बस," बोल उठे वाचस्पति हो गया,
यान हो शची के नये वर का यहीं नया।
आवें ऋषि, लावें नरदेव को उछाह में,
कुछ तो अपूर्वता हो उनके विवाह में।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि बृहस्पति महाराज के सामने शची के सतीत्व का कोई प्रश्न ही नहीं खड़ा होता! अस्तु, शची की यह युक्ति काम कर गयी। नहुष का पतन हुआ और उसके धर्म्म की रक्षा हो गयी।

यह स्पष्ट ही है कि शची की समस्या 'उर्मिला' और 'यशोधरा' की समस्या से भी अधिक भयावह थी; अमरलोक का विधान तो उसे ले डूबा था; भाग्य ने उसकी रक्षा की। वास्तव में शची की समस्या उसे महाकाव्य की नायिका के पद पर आरूढ़ करने योग्य है; अतिशय संक्षेप के कारण उसके मानस की अनेक गुत्थियों को खोलने का अवकाश ही लेखक को नहीं मिला है।

नहुष

इन्द्र अपनी शक्ति भर यही चेष्टा करता है कि संसार में कोई विशेष उग्र तप करके कोई इंद्र पद का अधिकारी न बनने पाये। तुलसी दास जी ने उसके इस प्रयत्न के सम्बन्ध में लिखा है। नारद जी ने एक बार समाधि लगा ली थी—

"मुनि गति देखि सुरेश डराना।
कामहि बोलि कीन्ह सनमाना।
सुनासीर मन महँ अति त्रासा।
चहत देवऋषि मम पुर वासा।
× × ×
जे कामी लोलुप जग माहीं।
कुटिल काक इव सबहि डराहीं।
सूख हाड़ लै भाग शठ, श्वान निरखि मृगराज।
छीन लेइ जनि जानि जड़, तिमि सुरपतिहिं न लाज।"

किंतु कभी-कभी उन्हें भी गहरे गर्त्त में गिरने के लिए बाध्य होना ही पड़ता है। ऐसे ही अवसर का उपयोग प्राप्त हो जाने पर नहुष को इन्द्रासन मिल गया। नारद जी ने बधाई देते हुए उससे कहा—

"करके कठोर तप छोर नहीं जिसका,
देना पड़ता है फिर देहमूल्य इसका।
कहते हैं स्वग नहीं मिलता बिना मरे,
पाया इसी देह से है तुमने इसे अरे!"

इस उच्च पद पर पहुँच कर नहुष अपनी प्रिय नरजाति के लिए कुछ कर जाना चाहता है; वह उर्वशी से वार्त्तालाप के प्रसंग में कहता है—

पहला निदेश क्यो न दूँ मैं इष्ट वृष्टिका
जीवन का मूल जल ही है सब, सृष्टि का।

२१

मेघ जल मात्र नहीं बरसावें रत्न भी,
और करें आवश्यक छाया का प्रयत्न भी।"

उसके उत्तर में उर्वशी कहती है—

"समझी मैं पृथ्वी पर धान्य धन वृद्धि हो,
और सुरलोक की सी उसकी समृद्धि हो?
किन्तु अमरत्व क्या इसी से नर पा लेंगे?
उलटी मनुष्यता भी अपनी गवा देंगे?
पायँगे प्रयास बिना लोग खाने-पीने को,
फिर क्यों बहायँगे वे श्रम के पसीने को!
होंगे अकर्मण्य उन्हें क्या क्या नहीं सूझेगा,
कोई कुछ मानेगा न जानेगा न बूझेगा!

× × ×

छाया के लिये जो नित्य मेघ भेजे जायँगे,
दुर्दिन ही भूमि के दिनों को वे बनायँगे।
यदि न तपेगी धरा ठण्डी पड़ जायगी,
उर्वरा क्या होगी, सीत पा के सड़ जायगी।
नर निज कार्य करें देव जानें अपनी,
निज मति मैंने कही आप मानें अपनी।'

उर्वशी के परामर्शों का नहुष पर प्रभाव पड़ता है और वह कार्य्य को त्याग कर स्वर्गभोग में लग जाता है। यह प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ी कि कामान्ध होकर वह इन्द्राणी से मिलने के लिये सप्तर्षि द्वारा ढोयी जाने वाली पालकी पर चल पड़ा। शाप और आशीर्वाद देना जिनका काम हो उनसे पालकी ढोने का काम लेना प्रमाद ही का परिणाम था। ऋषियों से चला नहीं जाता था, उधर राजा विलम्ब से अधीर होकर अपशब्दों की बौछार कर रहा था—

"पालकी उठाना कुछ संहिता बनाना है,
था कहीं निमंत्रण में जाके जीम आना है।

× × ×

बस क्या यही है बस, बैठे विधियाँ गढ़ो?
अश्व से न अड़ो न अरे, कुछ तो बढ़ो, बढ़ो।"

एक ओर राजा का क्रोध बढ़ता जा रहा था, दूसरी ओर—

"बार बार कन्धे फेरने को ऋषि अटके"

इस परिस्थिति से राजा अपने काबू में नहीं रहा—

"आतुर हो राजा ने सरोष पैर पटके"

इसके परिणाम-स्वरूप—

"क्षिप्त पद हाय! एक ऋषि को जो जा लगा,
सातों ऋषियों में महा क्षोभानल आ जगा।"

अपमान से पीड़ित होकर ऋषियों ने शाप दिया—

"भार बहें, बातें सुनें, लातें भी सहें क्या हम?
तू ही कह क्रूर, मौन अब भी रहें क्या हम?
पैर था या साँप यह डँस गया संग ही,
पामर पतित हो तू होकर भुजंग ही।"

राजा शाप से हतप्रभ तो हो गया, किन्तु बड़े धैर्य्य के साथ उसने उसे स्वीकार किया। उसे अपनी गलती समझ में आ गयी और गिर कर फिर उठने का निश्चय हृदय में धारण कर के उसने अपनी नवीन स्थिति को ग्रहण किया।

काव्य का सन्देश

इस छोटे से काव्य में कवि के महत्वपूर्ण दार्शनिक विचारों की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। अमरलोक के भोग, विलास-पूर्ण जीवन में भी एक पतिनिष्ठा के आदर्श की उन्होंने स्थापना की है। इससे स्पष्ट ही है कि मर्त्यलोक में वे उसे यथेष्ट गौरव प्रदान करते हैं। इस

आदर्श के अतिरिक्त अन्य कई आदर्शों की उन्होंने अवतारणा की है। उनमें से निम्नलिखित उल्लेख योग्य हैं—

(१) तटस्थ जीवन का आदर्श
(२) विधान पालन का आदर्श
(३) जीवन की निरन्तर प्रगति का आदर्श
(४) संघर्ष तथा आशावादिता का आदर्श

क्रमशः इन समस्त आदर्शों पर एक संक्षिप्त दृष्टिपात किया जायगा—

(१) सब से पहले तटस्थ-जीवन के आदर्श को लीजिए। सब प्रकार के कर्म्म, और परिणामतः उनके फल-भोग की सम्भावना, से विरत होकर स्वतंत्र जीवन यापन करना ही तटस्थ-जीवन का उद्देश्य है। देवर्षि नारद के लिए कोई कार्म शेष नहीं था और कर्म्म न होने के कारण उसका बन्धन भी शेष नहीं था। शची ने अन्यमनस्कता के कारण उनसे प्रणाम नहीं किया, यदि उन्हें क्रोध आ जाता तो वे स्वयं ही एक बंधन में पड़ जाते और उसका फल भोगने के लिए बाध्य हो जाते। क्रोध ही नहीं, वे दया ही करने वाले कौन? दया करके भी उसके बंधन में क्यों पड़ें? वे तो कहते हैं—

"देख लो शची की दशा अबला है अंत में।
तस्कर सा शक डरा बैठा है दिगन्त में।
देखूँ नये इन्द्र का भी कैसा चमत्कार क्या?
मैं तो हूँ तटस्थ, यहाँ मौज मंझधार क्या?
- - - - - - - -
विपिन नहीं तो आज इन्द्रोद्यान ही सही,
आवे जो अपने रस आप अच्छा है वही।
- - - - - - - -
रस अभिनेता नहीं, दर्शक ही होने में,
- - - - - - - -
ठौर तो मिलेगा ही किसी कोने में।"

जो इस ऊँच मानसिक स्थिति की पहुँच चुका है, उसके लिए

संसार में कोई अत्याचार नहीं, कोई अन्याय नहीं; वह तो सत्य-असत्य, न्याय-अन्याय सब के प्रति समदृष्टि रखता है। नारद जी कहते हैं—

"मानता हूँ सारे परिणाम मैं उचित ही,
रहता निहित है अहित में भी हित ही।"

(२) इस काव्य में विधान पालन के आदर्श पर भी बड़ा जोर दिया गया है। यद्यपि शची ने अपने व्यक्तिगत अधिकार की प्रबल घोषणा की, धर्म्मरक्षा के पक्ष में बड़ा आन्दोलन किया, तथापि उसकी एक न सुनी गयी। उसके यह कहने पर भी कि,

"मैं तो मनःपूत को ही मानती हूँ आचरण,
ऐच्छिक विषय मेरा व्यक्ति वरणावरण

देवों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, उलटे जब उसने एक शर्त लगा कर नहुष के आने के लिए स्वीकृति दे दी तब अमरों को ऐसा जान पड़ा जैसे उनके सिर पर से एक बहुत बड़ा भार उतर गया हो। सभी बड़े प्रसन्न थे और यद्यपि शर्त्त बहुत कड़ी थी,—सप्तऋषियों को नहुष की पालकी में कहार-रूप में नियोजित करना था—उन्होंने उसमें निहित अनौचित्य की ओर कोई ध्यान नहीं दिया; वे तो अपनी वैधानिकता की रक्षा के चक्कर में थे। और, यहाँ यह भी स्वीकार करना चाहिए कि उनका पक्ष अन्यायापूर्ण नहीं था। अमरलोक के विधान के पक्ष में शची को उत्तर देते हुए वरुण कहते हैं:—

"हाय महादेवि, बोले व्यथित वरुण यों,
अपने ही ऊपर क्यों आप निष्करुण यों?
मारा जिस वज्र ने है वृत्र को अभी अभी
होता नहीं निष्फल प्रयोग जिसका कभी,
व्यर्थ वह भी है यहाँ, अक्षत है धर्म्म तो,
काटा नहीं जा सकता वज्र से भी कर्म तो।
कोई जो बड़े से बड़ा फल भी न पावेगा,
ऊँचे उठने का फिर कष्ट क्यों उठावेगा?

कर्म ही किसी के उसे योग्य फलदायी हैं,
देव पक्षपाती नहीं समदर्शी न्यायी हैं।"

आगे वे और भी अकाट्य तर्क देते हैं—

"योग्य अनुगत को बढ़ाते क्यों न आगे हम ?
दान मान देने में किसी को कहाँ भागे हम ?
निज पर भेद मर्त्य नर ही किया करें,
अमर उदार हम वर ही दिया करें।
वध्य है पुरुष आप अपनी प्रकृति से,
नहुष तथापि उठा ऊँचा धर्म धृति से।
हमने दिखायी गुण ग्राहकता मात्र ही,
अब कुछ भी हो वह तब तो क्या पात्र ही।"

रेखांकित अंतिम पंक्ति से एक और बात स्पष्ट होती है, और वह यह कि अमरलोक के विधान में इन्द्राणी के प्रति कोई अन्याय नहीं किया गया था; वास्तव में अ रेश्वर-पद प्राप्त करनेवाले से यह आशा की जाती थी कि वह कामाराधना में न लीन होगा। इससे प्रगट है कि नहुष का आचरण वैसा नहीं था जैसा कि होना चाहिए था; प्रचलित विधान के विरुद्ध न होने पर भी वह अलिखित विधान के विरुद्ध था और इस प्रकार नियमित न होकर नियम का अपवाद स्वरूप था। नहुष स्वयं स्वीकार करता है—

"मानता हूँ आड़ ही ली मैंने स्वीकार की,
मूल में तो प्रेरणा थी काम के विकार की
माँगता हूँ आज मैं शची से भी खुली क्षमा,
विधि से वहिर्गता भी साहबी वह ज्यों रमा।
मानता हूँ, भूल गया नारद का कहना,
दैत्यों से बचाये यह भोग धाम रहना।
आ घुसा असुर हाय ! मेरे ही हृदय में
मानता हूँ आप लज्जा पाप-अविनय में।

इस प्रकार अमर लोक के विधान की एक बहुत बड़ी त्रुटि का निराकरण हो जाता है।

(३) यह काव्य जीवन की निरन्तर प्रगति का आदर्श हमारे सामने रखता है। मनुष्य अपने कठोर तप द्वारा अमरेश्वर-पद तक का अधिकारी हो सकता है; वही मनुष्य जब कामान्ध होकर अनुचित आचरण करता है तब उसे नीच पापी जीवों की गति प्राप्त होती है। किन्तु मनुष्य का कर्म जैसे उच्च गति की ओर उन्मुख कर सकता है वैसे ही नीच गति से मुक्त भी कर सकता है। अतएव, साहस के साथ नहुष कहता है—

"मानता हूँ और सब, हार नहीं मानता,
अपनी अगति नहीं आज भी मैं जानता।
× × ×
काल गतिशील, मुझे ले के नहीं बैठेगा,
किन्तु उस जीवन में विष घुस पैठेगा।
तो भी खोजने का कुछ कष्ट जो उठायेंगे,
विष में भी अमृत छिपा वे कृती पायेंगे।"

जीवन की पूर्णता के लिए यह आवश्यक है कि अमृत और विष के प्रति समभाव हो जाय। नहुष ने, अमर लोक में अमरेश्वर के पद पर पहुँच कर भी अमृत के भीतर विष का अनुभव किया; अब भुजंग योनि को प्राप्त होकर विष में अमृत का अनुभव करने का अवसर मिला है तो वह उसके लिए भी तत्पर हो रहा है। उसका यह कहना बिलकुल ठीक है कि यह उसकी अगति नहीं है; स्पष्ट ही है कि वह पूर्णता पर चढ़ने की एक सीढ़ी है, रही-सही कसर को मिटाने के लिये आवश्यक प्रयास है, जीवन की पूर्णता के कल्पनातीत विश्राम-स्थल की पूर्ववर्त्ती अगणित स्थितियों में से एक है।

(४) संघर्ष और आशावादित का स्पष्ट सन्देश नहुष काव्य की एक बहुत बड़ी विशेषता है। पाठक यह तो देख ही चुके हैं कि नहुष में संघर्ष

करने के लिये कितनी कटिबद्धता है, नीचे की पंक्तियों से यह भी समझ सकते हैं कि वह बहुत बड़ा आशावादी है। वह कहता है—

"गिरना क्या उसका उठा ही नहीं जो कभी,
मैं ही तो उठा था आप, गिरता हूँ जो अभी।
फिर भी उठूँगा और बढ़ के रहूँगा! मैं,
नर हूँ, पुरुष हूँ मैं, चढ़ के रहूँगा मैं।"

हिन्दी-साहित्य में गुप्तजी का स्थान

गुप्तजी के काव्य के सम्बन्ध में जो संक्षिप्त अध्ययन मैंने यहाँ प्रस्तुत किया है, उसे ध्यान में रख कर पाठक सहज ही हिन्दी-साहित्य में उनका स्थान निर्दिष्ट कर सकते हैं। उन्होंने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त अपने काव्य की पृष्ठ-भूमि का उचित उपयोग किया; यद्यपि, उनके समय के आदर्श में परिवर्तन करके भी लोकमत की परिधि उतनी ही चौड़ी रक्खी जितनी चौड़ी वह पहले थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में हमारे समाज में प्रतिष्ठित लोकमत हिन्दू राष्ट्रीयतावादी था; क्रमशः कांग्रेस के आंदोलन के प्रभाव से वह ईसा की वर्त्तमान शताब्दी के प्रथम दशक में भारतीय राष्ट्रयतावादी हुआ। साकेत में गुप्तजी का सामाजिक आदर्श भारतीय स्वाधीनता, भारतीय स्वराज्य की ओर लक्ष्य करता है, किन्तु जिस लोकमत के जागरण के लिए उन्होंने अपने काव्य को प्रवाहित किया है, उस पर हिन्दू संस्कृति की छाप है। गुप्तजी आधुनिक भारतीय राष्ट्रीयता के भावों को नहीं व्यक्त कर सके हैं; इसलिये उन्हें इस युग का अथवा आगामी निकट युग का राष्ट्रीय कवि तो नहीं कह सकते; हाँ वे हिन्दू राष्ट्रीयतावादी कवियों की श्रेणी के अन्तिम कवि माने जायँगे।

श्रीनगेन्द्र ने गुप्तजी के सम्बन्ध में लिखा है, "यह युग राष्ट्रीयता का होने के कारण लोग उनकी राष्ट्रीयता को ले उड़े. किन्तु उनकी प्रधान विशेषता गृहस्थ-जीवन के सुख दुःख की व्यञ्जना ही है।"

इस सम्बन्ध में निवेदन यह है कि कुटुम्ब-गत व्यक्तित्व-विकास के सिद्धान्त समाज-गत व्यक्तित्व-विकास के सिद्धान्तों से भिन्न नहीं हैं, यदि एक दृष्टि से कोई असफल है तो दूसरी दृष्टि से भी उसकी सफलता संदिग्ध रहेगी। समाज की नींव तो कुटुम्ब ही है और कुटुम्ब ही की परिधि को बढ़ाकर मनुष्य समाज के निकट पहुँचता है। साथ ही कुटुम्ब तक सीमित मनुष्य भी समाज के शासन से बच नहीं सकता। इस कारण मनुष्य के, विशेष कर कवि के व्यक्तित्व-विकास को सामाजिक विकास की कसौटी पर कसना ही पड़ेगा। इसी प्रकार रष्ट्रीयता की भी परीक्षा सामाजिकता ही के सिद्धान्तों पर होगी।

महाकवि के रूप में गुप्तजी ने समाज के हित के लिए व्यक्ति-साधना का, मर्य्यादा-स्थापन का सन्देश प्रदान किया है। उनका महाकाव्य चिरन्तन आदर्श के साथ ही साथ वर्त्तमान युग के आदर्श को भी हमें प्रदान-करता है; किन्तु वह हमारे भारतीय समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उसका गौरव अनुभव करने के लिए अवसर नहीं दे सका; उसकी हिन्दूओं ही तक परिमिति रह गयी। सीता का उद्धार ऐसा आदर्श है जिसमें मानवता के मुक्ति की ओर प्रगति करने का सर्वकालीन सन्देश मिल सकता है और हमारी खोई हुई राजनैतिक स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होने का भी। व्यक्ति-साधना के सन्देश को दोनों ही ओर नियोजित करके महाकाव्य का गुरु-गम्भीर गर्जन किया जा सकता था। किन्तु जहाँ एक ओर गुप्तजी ने ठीक रास्ता पकड़ा, वहाँ दूसरी ओर व्यक्ति साधन को लगभग हिन्दू संस्कृति के प्रचार-आन्दोलन के पास पहुँचा कर हमारे राजनैतिक स्वाधीनता के युग सत्य को इस रूप में नहीं उपस्थित किया

कि भारतीय मानवता का प्रत्येक अंग उसमें अपने आप को पा सके। इस दृष्टि से गुप्तजी के महाकवित्व में कसर रह गयी है।

गुप्तजी ने क्रान्तिवाहक कवि का स्थान भी ग्रहण करना चाहा है, किन्तु भारत की वर्त्तमान समस्याओं को गर्हित करने वाली क्रान्ति का भार उनके कन्धों के लिए असह्य है। कारण यह है कि समाज की प्रस्तुत समस्याओं को सुलझाने वाले सत्य का अधिकार गुप्तजी ने नहीं किया है; वे अपने आदर्श के लिए वर्त्तमान राजनैतिक आचार्य्यों के प्रति ऋणी हैं, और जैसे कि ऊपर कहा गया है, उसको भी साहित्य में अविकल रूप से व्यक्त नहीं कर सके हैं। अतएव, जहाँ तक साहित्य सृष्टि द्वारा समाज के प्रस्तुत और आगामी आदर्श को अनुरंजित रूप देने का सम्बन्ध है, वहाँ तक गुप्तजी को आधुनिक काल के मौलिक प्रतिनिधि कवि के रूप में भी नहीं ग्रहण कर सकते।

जिस कवि के द्वारा युग-सत्य साहित्य में प्रतिबिम्बित होता है उसे तो प्रतिनिधि कवि कहते ही हैं; किन्तु साहित्य में प्रतिष्ठित शैली के जीर्ण-शीर्ण और शक्तिहीन होने पर युग सत्य की अधिक से अधिक सौन्दर्य्य-पूर्ण अभिव्यक्ति में सहायक शैली के उस आविष्कर्त्ता को भी प्रतिनिधि कवित्व का गौरव प्रदान किया जा सकता है जो, इस क्षेत्र में अनुगमन नहीं करता, नेतृत्व करता है। गुप्तजी ने इस क्षेत्र में भी अनेक शैलियों का अनुसरण तो किया है, किन्तु स्वयं ऐसी किसी भी शैली का नेतृत्व नहीं किया है, जिसका अनुगमन अन्य कवियों द्वारा किया गया हो। अतएव, इस दृष्टि से भी गुप्तजी हमारे सामने वर्त्तमान काल के प्रतिनिधि कवि के रूप में उपस्थित नहीं होते।

× × ×

तो फिर साहित्यिक जगत् के किस प्रदेश में हम गुप्तजी को सिंहासनासीन करेंगे। सच बात यह है कि कवि के प्रकृत स्थान का निर्णय करने का अधिकार मनुष्य को नहीं, काल को है। काल ही स्वीकृति और अस्वीकृति की मुहर लगा कर कवियों और उनकी कृतियों

को जीवन-मरण प्रदान करता रहता है। अतएव, कहा नहीं जा सकता कि जिन कारणों का निर्देश करके हम गुप्तजी की अनेक रचनाओं को श्रद्धा का पात्र बना रहे हैं, अथवा त्रुटिपूर्ण समझ रहे हैं, वे हमारे जीवन में स्थायी ही बने रहेंगे। उदाहरण के लिए, कौन जाने, भारतेंदु की, हरिऔध की, गुप्त की हिंदू राष्ट्रीयता ही भविष्य की भारतीय राष्ट्रीयता के रूप में गृहीत हो और जिन्हें उसमें आज संकीर्णता समझ पड़ती है उन्हें भी कल असंदिग्ध रूप से वही आदरणीय समझ पड़ने लगे।

प्रतिनिधि कवि का पद आकर्षक भले ही हो, किन्तु साहित्य-सृजन की दृष्टि से प्रतिनिधि कवि प्रायः घाटे में ही रहता है; क्योंकि प्रतिनिधि कवि की कल्पना और अनुभूति दोनों ही में उतनी तीव्रता नहीं आ पाती जितनी, कालान्तर में पदार्पण करने वाले कवियों को सुसंस्कृत अभ्यास और साधना द्वारा प्राप्त करने का अवसर रहता है। आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य के प्रतिनिधि कवि होने का सहारा भारतेन्दु ही के सिर पर बँधना चाहिये; केवल शैली के क्षेत्र में दो एक परवर्त्ती कवियों ने प्रतिनिधित्व किया है, और यह कह सकते हैं कि भारत सम्बन्धी कविताओं के प्रचार के जमाने में गुप्तजी ने भी 'रंग में भंग' से लेकर 'भारत-भारती' के प्रकाशन के समय तक प्रतिनिधि कवि का पद ग्रहण किया था। किन्तु उसके बाद से प्रवाह उनके हाथ से बाहर निकलता चला गया और उनकी परवर्त्ती रचनानाएँ—जो उक्त 'रंग में भंग'—'भारत-भारती' काल की रचनाओं की अपेक्षा न केवल अधिक उत्कृष्ट हैं बल्कि कवि को हिन्दी-साहित्य में एक अमर स्थान प्रदान करती हैं—केवल अन्य शैलीकारों का, जिन्हें एक परिमित काल का प्रतिनिधि कवि भी कह सकते हैं, अनुसरण करती है।

एक बात तो सब तरह के विवाद और तर्क से परे है—गुप्तजी वर्त्तमान काल के सबसे अधिक लोकप्रिय कवि हैं। वर्त्तमान काल में

जो अनेक शैलियाँ साहित्य सृजन के क्षेत्र में प्रचलित हैं, प्रायः उन सभी में उन्होंने साहित्यिक प्रयोग किये हैं। प्राचीन विचार के साहित्य-सेवी उनकी रचनाओं में मंगलाचरण आदि के समावेश के रूप में अपनी प्रिय वस्तु पा जाते हैं; द्विवेदी-स्कूल के कवि उन्हें प्रायः अपने नेता के रूप में ग्रहण करते हैं; छायावदी कवि भी उनमें अपने अनुकूल कुछ विशेषताएँ और प्रवृत्तियाँ ढूँढ़ लेते हैं। इस प्रकार वर्त्तमान समय के सभी दलों को, अल्पाधिक मात्रा में उनसे संतोष प्राप्त हो जाता है साहित्य सेवियों की मण्डली को छोड़ कर अगर पाठकों की मंडली की ओर चलें तो यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि पाठकों की जितनी बड़ी संख्या उन्हें प्राप्त है, उतनी बड़ी संख्या प्राप्त करने का सौभाग्य अन्य किसी भी जीवित हिन्दी-कवि को उपलब्ध नहीं है।

गुप्तजी ने माइकेल मधुसूदन-दत्त के 'मेघनाद बध' विरहिणी ब्रजांगना, आदि अनेक काव्य ग्रन्थों का तथा नवीनचन्द्र सेन के 'पलाशिर युद्ध' नामक काव्य का अनुवाद करने में सफलता प्राप्त करके इस क्षेत्र में अपने लिए विशेष स्थान प्राप्त कर लिया है।

अभी गुप्तजी की अवस्था अधिक नहीं है; उनकी साहित्यिक क्रियाशीलता भी जाग्रत है। ऐसी अवस्था में उनके सम्बन्ध में अभी कोई बात अन्तिम नहीं कही जा सकती। आशा है, उनकी भविष्य की रचनाएँ साहित्यिक जगत् को और भी आनन्द देने में समर्थ होंगी। ईश्वर करे, वे चिरकाल तक हमारे बीच में रह कर नित्य नूतन सौन्दर्य की सृष्टि में लगे रहें।